प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था
और
राजशास्त्र

लेखक
सत्यकेतु विद्यालङ्कार डी० लिट्०, (पेरिस)
(मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक विजेता)

प्रकाशक
सरस्वती सदन, मसूरी

प्रथम संस्करण] १९६० [मूल्य १० रु० २५ नये पैसे

प्रकाशक
सरस्वती सदन,
मसूरी (उत्तर प्रदेश)

प्रथम संस्करण

मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस, दिल्ली

प्रस्तावना

प्राचीन भारत की शासनपद्धति और राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन करते हुए जिस दृष्टिकोण को इस ग्रन्थ में मैंने अपने सम्मुख रखा है, उसका उल्लेख करना उपयोगी है—

(१) प्राचीन काल में भारत राजनीतिक दृष्टि से एक देश नहीं था। धर्म, संस्कृति आदि की एकता यहां अवश्य विद्यमान थी, पर राजनीतिक रूप से यह देश बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था, जिनमें अनेकविध शासन संस्थाओं की सत्ता थी। वैदिक युग के आर्य अनेक 'जनों' (कबीलों) में संगठित थे। शुरू में ये जन 'अनवस्थित' दशा में थे। जब ये स्थायी रूप से किसी प्रदेश में बस गए, तो ग्रामों और जनपदों का निर्माण हुआ। इन जनपदों का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि प्राचीन ग्रीस के 'पोलिस' का और प्राचीन इटली के 'सिवितास' का था। ऐतिहासिकों ने इन्हें 'नगर-राज्य' (सिटी स्टेट) की संज्ञा दी है। भारत के प्राचीन जनपद भी नगर-राज्य के रूप में ही थे, और उनका स्वरूप आधुनिक युग के राज्यों से बहुत भिन्न था। उनकी शासनसंस्थाएँ भी वर्तमान समय की शासनसंस्थाओं से भिन्न प्रकार की थीं। कतिपय जनपदों में गणशासन की सत्ता थी, और कतिपय में वंशक्रमानुगत राजाओं के शासन की। गणराज्यों में भी कुछ में श्रेणितन्त्र या कुलतन्त्र शासन विद्यमान थे, और कुछ में लोकतन्त्र की सत्ता थी। सब राजतन्त्र जनपदों की शासन-संस्थाएँ भी एक सदृश नहीं थीं। उनमें भी द्वैराज्य, वैराज्य, भोज्य, राज्य, एकराज्य आदि अनेकविध शासन थे। कतिपय जनपदों में प्रजा (विशः) द्वारा राजा के वरण किये जाने की प्रथा थी, और कुछ में राजा स्वेच्छाचारी रूप से शासन किया करते थे। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन जनपदों में सदा एक सी ही शासन-पद्धति कायम नहीं रही। अनेक ऐसे जनपदों में, जिनमें पहले गणशासन था, बाद में राजतन्त्र शासन स्थापित हो गया; और अनेक राजतन्त्र जनपदों में बाद में गणतन्त्र शासन की स्थापना हो गई। इस दृष्टि से भारत का प्राचीन इतिहास प्राचीन ग्रीस के इतिहास के समान है। भारत की प्राचीन शासन-संस्थाओं का अध्ययन करते हुए इन तथ्यों को अवश्य दृष्टि में रखना चाहिए। प्राचीन जनपदों का स्वरूप और उनकी शासन-संस्थाएँ आधुनिक युग से बहुत भिन्न थीं। इस तथ्य की उपेक्षा करने के कारण ही श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने पौर-जानपद के स्वरूप को इस ढंग से प्रतिपादित कर दिया है, मानो वे वर्तमान

ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदृश हों। प्राचीन भारत में पौर-जानपद नामक संस्थाओं की सत्ता अवश्य थी। पर वे राज्यों की केन्द्रीय संसद् न होकर पुर-संघ (पुरसभा) व जनपद-संघ (जनपद सभा) की ही स्थिति रखती थीं। उनकी तुलना प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की सभाओं से अवश्य की जा सकती है, पर आधुनिक युग के सांसद प्रणाली वाले राज्यों की पार्लियामेंट से उनके सादृश्य को प्रतिपादित कर सकना सम्भव नहीं है। प्राचीन समय में न केवल भारत में अपितु संसार के सभी देशों में राज्यसंस्था का स्वरूप आधुनिक राज्यों से बहुत भिन्न था। इसी कारण उनकी शासन-संस्थाएँ भी भिन्न प्रकार की थीं। इस तथ्य को दृष्टि में न रखने से प्राचीन शासन-पद्धति व राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप का निरूपण करने में बहुत भूल हो सकती है। मैंने यत्न किया है, कि पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटलीय अर्थशास्त्र, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में प्राचीन जनपदों के स्वरूप व उनकी शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में जो भी निर्देश मिलते हैं, उनका विशदरूप से विवेचन किया जाए। ऐसा करते हुए मैंने इन ग्रन्थों से बहुत-से उद्धरण भी दे दिये हैं।

(२) पर भारत के ये जनपद या नगर-राज्य देर तक कायम नहीं रहे। जिस प्रकार मैसिडोनिया के शक्तिशाली राजाओं ने ग्रीक नगर-राज्यों का अन्त कर उन्हें अपने अधीन किया, इसी प्रकार मगध के महत्त्वाकांक्षी सम्राटों ने भारत के विविध जनपदों को अपने अधीन कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। जनपदों के पारस्परिक संघर्ष द्वारा पहले महाजनपदों का निर्माण हुआ, और बाद में मगध ने उन सबको जीतकर 'आसमुद्रक्षितीश' और 'एकराट्' के पद प्राप्त किये। बार्हद्रथ, नन्द और मौर्य वंशों के जिन प्रतापी सम्राटों ने मगध के इस सुविस्तीर्ण साम्राज्य का निर्माण किया था, वे अपने बाहुबल और व्यक्तिगत योग्यता द्वारा ही इसका शासन भी करते थे। उनकी शक्ति का मुख्य आधार वह भृत सेना थी, जिसमें लाखों की संख्या में सैनिक थे। इन साम्राज्यों के केन्द्रीय शासन में मन्त्रि-परिषद् की सत्ता अवश्य थी, पर ये मन्त्री सम्राट् द्वारा ही नियुक्त किये जाते थे और उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। इस साम्राज्य युग में भी पुराने ग्राम-संघों, पुरसंघों और जनपद-संघों की सत्ता कायम रही, पर केन्द्रीय शासन में किसी भी प्रकार की लोकतन्त्र सभाओं की सत्ता नहीं थी। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि ये साम्राज्य विजिगीषु राजाओं की कृति थे, और इनके शासन में उन्हें ही 'कूटस्थानीय' माना जाता था। भारतीय इतिहास के साम्राज्य युग में पौर-जानपद, सभा व परिषद् आदि जिन संस्थाओं की सत्ता के निर्देश मिलते हैं, वे केन्द्रीय शासन की संस्थाएँ न होकर उन जनपदों में विद्यमान थी, जिनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता इस युग में भी कायम थी। भारत के सम्राटों ने इन प्राचीन जनपदों की स्वतन्त्र सत्ता का पूर्णतया अन्त नहीं कर दिया था, अपितु इस नीति का अनुसरण किया था कि इनके चरित्र, व्यवहार व

धर्म को कायम रखा जाए। इसी कारण सम्राटों की शक्ति के निर्बल पड़ते ही अनेक पुराने गणतन्त्र व राजतन्त्र जनपद फिर से स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो सके थे, और भारतीय इतिहास के उस युग का प्रारम्भ हुआ था, जिसमें कि यौधेय, मालव, आर्जुनायन, महाराज आदि गण फिर से स्वतन्त्र हो गए थे।

(३) पाश्चात्य देशों के समान भारतीय इतिहास के मध्यकाल में भी सामन्त-पद्धति का विकास हुआ। गुप्त युग में इस पद्धति का प्रादुर्भाव हो गया था, और पाल, वर्धन, मौखरि, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गुर्जरप्रतीहार, परमार आदि राजवंशों के शासनकाल में सामन्तपद्धति ही भारत की प्रमुख संस्था थी। इस पद्धति के समय उस प्रकार की शासनसंस्थाओं की सत्ता सम्भव ही नहीं थी, जो इस देश में प्राचीन काल में विद्यमान थीं। पुराने जनपदों का इस काल में अन्त हो गया था, और गण-तन्त्र राज्यों का शासन भी ऐसे महाराज-महासेनापतियों के हाथों में आ गया था, जो किसी प्रतापी महाराजाधिराज की अधीनता स्वीकृत करते थे। छोटी-छोटी जागीरों के शासक भी इस युग में 'राजा' कहाने लगे थे, और पुराने जनपदों का स्थान ऐसी जागीरों ने ले लिया था, जिनके जागीरदारों या शासकों की स्थिति उनके अपने बाहुबल पर ही आश्रित थी। इस दशा में न पुरानी पौर-जानपद संस्थाएँ ही कायम रह सकती थीं, और न मन्त्रिपरिषद् ही। प्रत्येक सामन्त राजा या महाराजा-धिराज के अपने-अपने दरबार होते थे, जिनमें प्रधानतया शासक राजवंश के सजातीय व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। साम्राज्य युग की भृत सेनाओं का स्थान अब ऐसी सेनाओं ने ले लिया था, जिनके सैनिक सामन्त राजाओं द्वारा जुटाये जाते थे।

(४) भारत की प्राचीन शासन-संस्थाओं ने अपने-अपने समय के विचारकों को भी प्रभावित किया। इसी कारण कौटलीय अर्थशास्त्र, महाभारत, स्मृतिग्रन्थों आदि में विविध प्रकार के राजनीतिक मन्तव्य व सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। जहाँ कतिपय विचारक राजा को इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि देवताओं के अंश लेकर निर्मित मानते हैं, और यह प्रतिपादित करते हैं कि यदि राजा बालक हो तो भी उसे 'महती देवता' समझना चाहिए, वहाँ ऐसे विचारक भी प्राचीन भारत में विद्यमान थे, जो राजा को 'ध्वजमात्र' मानते थे, और यह कहने में भी संकोच नहीं करते थे कि यदि कुत्ते को अच्छे वस्त्र व आभूषण पहना कर राजकीय सवारी पर बिठा दिया जाए, तो क्या उसकी भी शोभा नहीं होगी। ये विविध प्रकार के राजनीतिक विचार उन परि-स्थितियों के ही परिणाम थे, जिनमें कि कोई विचारक अपने मन्तव्यों का निरूपण कर रहा था।

प्राचीन भारत के इतिहास की जो सामग्री अब तक उपलब्ध है, उसमें यह तो सम्भव नहीं है कि उस ढंग से भारत की शासन-संस्थाओं व राजनीतिक सिद्धान्तों के क्रमिक विकास का प्रतिपादन किया जा सके, जैसे कि पाश्चात्य जगत् के सम्बन्ध

में किया गया है। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की शासनपद्धति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के जैसे साधन विद्यमान हैं, वैसे अभी भारत के प्राचीन जनपदों के विषय में उपलब्ध नहीं हुए हैं। कठ, यौधेय, मद्र, लिच्छवि, शाक्य, वज्जि, अन्धक-वृष्णि आदि प्राचीन भारतीय गणराज्यों की शासन-संस्थाएँ क्या थीं, इस सम्बन्ध में कतिपय निर्देश ही हमें प्राप्त हैं; अब तक कोई ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुए हैं जिनसे इनकी शासनपद्धतियों का विशद रूप से ज्ञान प्राप्त किया जा सके। राजतन्त्र जनपदों की शासनसंस्थाओं के विषय में कुछ अधिक परिचय प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त किया जा सकता है, पर यह भी अपर्याप्त है। यह आशा की जा सकती है, कि शोध द्वारा बार्हस्पत्य, औशनस, मानव, आम्भीय, पाराशर आदि सम्प्रदायों और कौणपदन्त, पिशुन, वातव्याधि, भारद्वाज, कात्यायन, दीर्घ चारायण आदि आचार्यों के ग्रन्थ भविष्य में उपलब्ध हो जायँगे। तभी यह सम्भव हो सकेगा, कि भारत की प्राचीन शासन संस्थाओं और राजनीतिक सिद्धान्तों के क्रमिक विकास का वृत्तान्त विशद रूप से लिखा जा सके। जब तक अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती, हमें उन्हीं निर्देशों से संतोष करना होगा, जो प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं।

इस ग्रन्थ को लिखते हुए मैंने उस सब सामग्री का उपयोग किया है, जो इस विषय पर प्राप्तव्य है। यह विषय अत्यन्त गहन है, अतः इस विषय के ग्रन्थों की भाषा बहुत सरल नहीं हो सकती। फिर भी मैंने यत्न किया है, कि जहाँ तक सम्भव हो, भाषा को सरल और शैली को सुबोध रखा जाए। पर अनिवार्य रूप से इस ग्रंथ में अनेक ऐसे शब्दों का उपयोग हुआ है, जिन्हें अनेक पाठक कठिन समझ सकते हैं। यह आवश्यक भी है, क्योंकि दण्डनीति-सम्बन्धी प्राचीन साहित्य के अपने शब्दों को प्रयुक्त किये विना उनके अभिप्राय को भलीभाँति स्पष्ट नहीं किया जा सकता। मुझे आशा है, कि मेरे अन्य ग्रंथों के समान इस पुस्तक को भी पाठक उपयोगी पायँगे, और इस द्वारा प्राचीन भारतीय शासनपद्धति व राजशास्त्र के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

विषय सूची

'अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नमः ।'

—कामन्दक

'सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम् ।
त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव ।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥'

—महाभारत, शान्तिपर्व

'सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ।
धर्मार्थं काममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥'

—शुक्रनीति

'दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः-तस्यां हि
सर्वविद्यारम्भाः प्रतिबद्धा इति ।'

—कौ० अर्थशास्त्र

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

(१) प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र का महत्व

भारत के प्राचीन निवासियों ने जहाँ धर्म, दार्शनिक चिन्तन और अध्यात्मवाद के विकास पर विशेष ध्यान दिया था, वहाँ उन्होंने संसार की ऐहलौकिक उन्नति की भी उपेक्षा नहीं की थी। उनकी सम्मति में धर्म का प्रयोजन जहाँ मोक्ष (निश्रेयस) की प्राप्ति था, वहाँ साथ ही सांसारिक अभ्युदय भी था।[1] मनुष्य की व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति के लिए उन्होंने बहुत-सी विद्याओं का विकास किया था। शुक्रनीति के अनुसार विद्याओं की कोई संख्या नियत नहीं की जा सकती, वे अनन्त हैं। इसी प्रकार कलाएँ भी अनगिनत हैं। शुक्राचार्य ने ३२ विद्याओं का परिगणन किया है, जिनमें अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र और यावन दर्शन भी अन्तर्गत हैं।[2] छान्दोग्योपनिषद् में महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने उन विद्याओं को गिनाया है, जिनका उन्होंने अनुशीलन किया था। ये विद्याएँ निम्नलिखित हैं—वेद, इतिहास, पुराण, पित्र्यविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, भूतविद्या, युद्धनीति, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और खनिविद्या।[3] जातक ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर अष्टादश विद्याओं का उल्लेख किया गया है।[4] साथ ही, पृथक् रूप से शिल्पविद्या,[4] हस्तिविद्या,[5] धनुर्विद्या,[6] मन्त्रविद्या,[7] चिकित्सा शास्त्र[8] तथा विविध प्राणियों की बोली समझने की विद्याओं[9] का भी वर्णन है। जातक-ग्रन्थों के समान 'वायु पुराण' में भी अठारह विद्याओं का

१. "यतोऽभ्युदयनिश्श्रेयस सिद्धिः स धर्मः" योगशास्त्र।
२. शुक्रनीतिसार, चतुर्थ अध्याय, तृतीय प्रकरण, २३-२५।
३. छान्दोग्योपनिषद्, सप्तम प्रपाठक।
४. The 'Jataka', edited by E. B. Cowel Vol I. p. 126.
५. Ibid Vol V p. 92
६. Ibid Vol II p. 32
७. Ibid Vol II p, 60
८. Ibid Vol II p. 68, Vol IV, p. 283
९. Ibid Vol III p. 249

—२

उल्लेख किया गया है।[१] प्राचीन साहित्य में इन विविध विद्याओं के निर्देश से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि प्राचीन भारतीय ऐहलौकिक ज्ञान को भी बहुत अधिक महत्त्व देते थे, और उसके विकास के लिए वे समुचित प्रयत्न करते थे। उनकी खोज व जिज्ञासा का क्षेत्र केवल अध्यात्म व दर्शन तक ही सीमित नहीं था। सांसारिक उन्नति व मनुष्यों का योगक्षेम भी उनकी दृष्टि में महत्त्व के विषय थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र में विविध विद्याओं का विभाग इस प्रकार से किया गया है—"आन्वक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति ये चार विद्याएँ हैं।"[२] सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक) दर्शनों को 'आन्वीक्षकी' विद्या कहते थे। इन्हीं को दर्शन-शास्त्र भी कहा जाता है। न्याय, वेदान्त, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों का विकास सम्भवतः कौटिल्य के समय तक नहीं हुआ था। या उस समय सांख्य, योग और चार्वाक दर्शनों की ही दर्शन-शास्त्रों में प्रधानता थी। ऋग्, यजु और सामवेदों को 'त्रयी' कहते थे। अथर्व और इतिहास को भी वेदों के अन्तर्गत माना जाता था। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को वार्ता कहते थे। इन साधनों द्वारा अर्थसाधन करना और 'अर्थ' व 'अनर्थ' में विवेक करना 'वार्ता' विद्या का कार्य था। 'दण्डनीति' का लक्षण कौटिल्य ने इस प्रकार किया है—"आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता का योगक्षेम (फलना-फूलना) दण्ड (व्यवस्था) पर ही निर्भर करता है। उनकी नीति को दण्डनीति कहते हैं। जो प्राप्त न हो उसे प्राप्त करना, प्राप्त हुए की रक्षा करना, रक्षित की वृद्धि करना और बढ़ी हुई सुख-समृद्धि को यथायोग्य स्थानों व पात्रों में प्रयुक्त करना दण्डनीति का ही कार्य है। लोकयात्रा दण्डनीति पर ही निर्भर करती है।"[3]

शुक्रनीतिसार में आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन चार विद्याओं का विवेचन कर दण्डनीति के महत्त्व को बताने के लिए 'दण्ड' और दण्डनीति के अभि-प्राय को इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—"दम या मर्यादा का नाम दण्ड है। इसी कारण राजा को भी 'दण्ड' कहते हैं। इस दण्ड की जो नीति होती है, उसे दण्डनीति कहते हैं। इसे नीति इस कारण कहा जाता है, क्योंकि यह नयन (पथ प्रदर्शन) करती है।"[४] 'महाभारत' के शान्तिपर्व में दण्ड और दण्डनीति के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"दण्ड द्वारा अदान्त (उद्धत) लोगों का दमन किया जाता है। अतः दमन करने और दण्डित करने के कारण 'दण्ड' शब्द का प्रयोग विद्वानों द्वारा किया जाता है। मनुष्यों में कहीं असंमोह (अव्यवस्था) न मच जाय, और ताकि अर्थ

१. वायुपुराण ३, ६, २२।
२. "आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्ड नीतिश्चेति विद्याः।" अर्थशास्त्र १/१।
३. "आन्वीक्षकी त्रयी वार्तानां योगक्षेम साधनो दण्डः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। अलब्ध लाभार्था, लब्ध परिरक्षिणी, रक्षितविवर्धिनी, वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादिनी च।" अर्थशास्त्र १/३।
४. शुक्रनीतिसार १/१५२-१५४।

का संरक्षण हो सके, अतः मर्यादा की स्थापना की गई, जिसे 'दण्ड' कहते हैं।"[1] यह ध्यान में रखना चाहिए, कि दण्ड का अर्थ सजा नहीं है। अव्यवस्था व अराजकता को दूर कर व्यवस्था स्थापित करना और मनुष्यों की उच्छृंखलता को मर्यादित करके सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता को कायम करना ही 'दण्ड' का प्रयोजन व अभिप्राय है। दण्ड के मूल तत्त्व मर्यादा और दम हैं। मानव-समाज की स्थिति दण्ड पर ही निर्भर होती है, क्योंकि समाज के निर्माण का अभिप्राय ही यह है, कि मनुष्यों के कर्म और स्वेच्छाचारिता मर्यादित हों।

भारत के प्राचीन विचारकों की दृष्टि में इस 'दण्ड' और इसे प्रतिपादित करने वाली 'दण्ड-नीति' का बहुत अधिक महत्त्व था। इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र में कतिपय पुराने आचार्यों के मत उद्धृत किये गए हैं। बार्हस्पत्य सम्प्रदाय का मत है कि वार्ता और दण्डनीति ये दो ही विद्याएँ हैं, क्योंकि त्रयी तो दुनियादार लोगों के लिए सहारा या आवरण मात्र ही है। औशनस सम्प्रदाय के मत में दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है। अन्य सब विद्याओं का मूल उसी में है।"[2] यद्यपि आचार्य कौटल्य का मत था कि ये चारों ही विद्याएँ हैं, क्योंकि विद्या वह है, जिससे धर्म और अर्थ का परिज्ञान और सिद्धि हो,[3] तो भी वे दण्डनीति के विशिष्ट महत्त्व को स्वीकार करते थे। उन्होंने लिखा है कि "अन्य तीनों विद्याओं का मूल दण्डनीति में ही है।"[4] "सम्पूर्ण सांसारिक जीवन दण्डनीति पर ही आश्रित है।"[5] "अर्थ ही सबसे प्रधान है, धर्म और काम का मूल अर्थ में ही है।"[6]

भारत के प्राचीन साहित्य में राजनीतिशास्त्र के लिए जहाँ 'दण्डनीति' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ राजनीति, राजधर्म शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि अन्य भी अनेक शब्द इस शास्त्र के लिए प्रयुक्त किये गए हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र सम्पत्ति-शास्त्र (Economics) विषयक ग्रन्थ न होकर दण्डनीति या राजनीति का ही प्रतिपादन करता है। कौटल्य ने अर्थशास्त्र शब्द में 'अर्थ' का अभिप्राय इस प्रकार

---

१. "यस्माद्दान्तान्दमयति अशिष्टान्दण्डयत्यपि।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः॥
असंमोहाय मर्त्यानामर्थ संरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशांपते:॥" महाभारत, शान्तिपर्व अ० १५।

२. "त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः।...वार्तादण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः—संवरण मात्रं हि त्रयी लोक यात्राविद इति। दण्डनीति रेका विद्येत्यौशनसाः—तस्यां हि सर्व विद्यारम्भाः प्रतिबद्धा इति।" अर्थशास्त्र १/१।

३. "चतस्र एव विद्या इति कौटल्यः ताभिः धर्मार्थौ यद्विद्यानां विद्यात्वम्।" अर्थशास्त्र १/१।

४. "दण्डमूलास्तिस्रो विद्याः।" अर्थशास्त्र १/४।

५. "तस्यामायत्ता लोकयात्रा।" अर्थशास्त्र १/३।

६. "अर्थ एव प्रधान इति कौटल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।"

स्पष्ट किया है—"मनुष्यों द्वारा बसी हुई भूमि को 'अर्थ' कहते हैं।" और "उसके लाभ और पालन के सम्बन्ध में जो शास्त्र व्यवस्था करे, उसे अर्थशास्त्र कहा जाता है।"[१] कौटल्य ने 'अर्थ' की जो व्याख्या की है, वह बड़े महत्त्व की है। वस्तुतः, इससे राज्यसंस्था का ही बोध होता है। 'राज्य' के तीन मुख्य तत्त्व हैं, भूमि, मनुष्य और संगठित सरकार की सत्ता। इनमें से दो तत्त्वों का समावेश कौटल्य के 'अर्थ' में हो गया है। तीसरे तत्त्व को ही प्राचीन राजनीतिविषयक ग्रन्थों में 'दण्ड' नाम से कहा जाता है।

प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में इस दण्डनीति, अर्थशास्त्र व राजधर्म-शास्त्र का महत्त्व वहुत अधिक था। कौटल्य ने दण्डनीति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए जो कुछ कहा है, उसे हमने अभी ऊपर उद्धृत किया है। महाभारत के अनुसार सम्पूर्ण त्याग, दीक्षा, विद्या तथा लोक राजधर्म पर ही आश्रित हैं।"[२] "यदि दण्डनीति न रहे, तो 'त्रयी' का नाश हो जाए, धर्म रह ही न सके और समाज की स्थिति ही सम्भव न रहे।"[३] सम्पूर्ण जीवलोक का अन्तिम आश्रय राजधर्म में ही है।"[४] "त्रिवर्ग (धर्म, काम और अर्थ) राजधर्म पर ही आश्रित हैं। स्पष्ट रूप से मोक्ष भी राजधर्म में ही समाहित है।"[५] "जिस समय दण्डनीति का ठीक प्रकार से अनुष्ठान हो रहा होता है, उस काल को ही सतयुग कहा जाता है।"[६] इन्हीं भावों को सोमदेव सूरि ने एक वाक्य द्वारा इस ढंग से प्रकट किया है—"उस राज्य को नमस्कार है, जिसका फल धर्म और अर्थ है।"[७] इसी विचार के कारण बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के विचारकों ने त्रयी और आन्वीक्षकी को विद्या के रूप में स्वीकार करने से इनकार किया था, और औशनस सम्प्रदाय दण्डनीति के अतिरिक्त अन्य किसी को विद्या के रूप में स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं था। अभिप्राय यह है, कि प्राचीन

---

१. "मनुष्यवती भूमिः इत्यर्थः। तस्याः पृथिव्याः लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रम।" (अर्थ १५।१)

२. "सर्वे त्यागाः राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वाः दीक्षाः राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्याः राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वे लोकाः राजधर्मे प्रविष्टाः॥"
शान्तिपर्व, ६३/२९।

३. "मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां,
सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुः विवृद्धाः॥"
शान्तिपर्व ६३/२८।

४. "सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्।" शान्तिपर्व ५५/३।

५. "त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव।
"मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः॥" शान्ति पर्व ५५/४।

६. "दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते॥" शान्ति पर्व ६९/७।

७. "अथ धर्मार्थ फलाय राज्याय नमः।"

भारतीय विचारकों के अनुसार मनुष्यों के चरम लक्ष्य की पूर्ति राज्यसंस्था व राजधर्म द्वारा ही सम्भव हो सकती थी। प्राचीन ग्रीक विचारक एरिस्टोटल के समान भारतीय राजशास्त्र प्रणेता भी यह मानते थे कि राज्य-संस्था में ही मानव-जीवन के चरम विकास व उन्नति की सम्भावना निहित है। राजनीतिशास्त्र के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाली कतिपय अन्य उक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। कामन्दक नीतिसार के अनुसार "दण्डनीति द्वारा ही सम्पूर्ण भुवन अपने मार्ग पर निरन्तर रूप से चलता है।"[1] 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार "नीतिशास्त्र सब को जीवन प्रदान करने वाला, लोक की स्थिति को सम्पादित करने वाला, धर्म, अर्थ और काम का मूल तथा मोक्ष का प्रदान करने वाला है।"[2] "जिस प्रकार भोजन के बिना देह नहीं रह सकता, उसी प्रकार संसार के सब व्यवहार नीतिशास्त्र के बिना नहीं रह सकते।"[3]

(२) प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र का विकास

वर्तमान समय में राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ बहुत कम संख्या में उपलब्ध होते हैं। पर जो थोड़े-से ग्रन्थ इस समय प्राप्त हैं, उनके द्वारा राजनीति-विषयक अन्य अनेक लेखकों, विचारकों, ग्रन्थों और सम्प्रदायों की सत्ता का परिचय मिलता है। इस दृष्टि से प्राप्त ग्रन्थों का अध्ययन बहुत उपयोगी है।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र का प्रारम्भ करते हुए प्रथम वाक्य यह लिखा है—"पृथिवी के लाभ (प्राप्ति) और पालन के प्रयोजन से जो-जो अर्थशास्त्र पहले के आचार्यों ने लिखे थे, प्रायः उन सब का संग्रह करके इस अर्थशास्त्र की रचना की गई है।"[4] इस वाक्य से स्पष्ट रूप से सूचित होता है, कि कौटल्य से पहले भी बहुत-से आचार्यों ने अर्थशास्त्रों की रचना की थी। कौटल्य ने इन सब का उपयोग कर अपने ग्रन्थ को लिखा। इसी कारण हम देखते हैं, कि उसमें स्थान-स्थान पर पूर्ववर्ती आचार्यों के मत उद्धृत किये गए हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में जिन आचार्यों के मत उद्धृत किये गए हैं, उनके नाम निम्नलिखित हैं—भारद्वाज[5], विशालाक्ष[6], परा-

---

१. कामन्दक नीतिसार १/१।

२. "सर्वोपजीवकं लोक स्थिति कृन्नीति शास्त्रकम्।
धर्मार्थकाम मूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥ शुक्र १/५।

३. "सर्व लोक व्यवहार स्थिति नीत्या विना न हि।
यथाशनैर्विना देह स्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम्॥ शुक्र १/११।

४. "पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि संहृत्य एकमिदमर्थशास्त्रम् कृतम्।"

५. कौ० अर्थशास्त्र १।४, १।१७, १।११।

६. कौ० अर्थ० १।४, १।१७, १।११।

शर[1], पिशुन[2], कौणपदन्त[3], वातव्याधि[4], बाहुदन्ती पुत्र[5], कणिङ्क भारद्वाज[6], कात्यायन[7], घोटमुख[8], दीर्घ चारायण[9], पिशुनपुत्र[10], और किञ्जल्क[11]।

इन आचार्यों के अतिरिक्त कौटलीय अर्थशास्त्र में पाँच सम्प्रदायों के मत भी उद्धृत किये गये हैं। प्राचीन ग्रीस के समान प्राचीन भारत में भी विचार-सम्प्रदायों की सत्ता थी, यह इससे सूचित होता है। मनु, बृहस्पति आदि सुप्रसिद्ध विचारकों ने ग्रीक विचारक प्लेटो के समान अपने विचार-सम्प्रदायों को स्थापित किया था, जिनमें गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा विशिष्ट प्रकार के विचारों का विकास होता रहता था। कौटलीय अर्थशास्त्र निम्नलिखित सम्प्रदायों का न केवल उल्लेख किया गया है, अपितु उनके मत भी उद्धृत किये गए हैं—मानवाः[12], बार्हस्पत्याः[13], औशनसाः[14], पाराशराः[15], और आम्भीयाः।[16] इनके अतिरिक्त आचार्याः[17], अपरे[18], और एके[19], इन शब्दों से भी कौटल्य ने अपने से पूर्ववर्ती मतों को उद्धृत किया है। निःसन्देह, प्राचीन भारत में बहुत-से ऐसे आचार्य व विचार-सम्प्रदाय विद्यमान थे जो विभिन्न प्रकार के मतों व विचारों का प्रतिपादन किया करते थे। दर्शनशास्त्र के इन सम्प्रदायों में छः अस्तिक दर्शन तो सर्वविदित हैं। पर कौटल्य ने 'लोकायत' नाम से ऐसे दार्शनिक सम्प्रदायों का भी निर्देश किया है, जो नास्तिक थे। बौद्ध साहित्य में ६२ दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख है, जो बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत में विद्यमान थे। इनमें सस्वतवाद

१. कौ० अर्थ० १।४, १।११।
२. कौ० अर्थ० १।४, १।१७, १।११।
३. कौ० अर्थ० १।४, १।१७, १।११।
४. कौ० अर्थ० १।४, १।१७।
५. कौ० अर्थ० १।४, १।१७।
६. कौ० अर्थ० ५।५।
७. कौ० अर्थ० ५।५।
८. कौ० अर्थ० ५।५।
९. कौ० अर्थ० ५।५।
१०. कौ० अर्थ० ५।५।
११. कौ० अर्थ० ५।५।
१२. कौ० अर्थशास्त्र १।१, १।११।
१३. कौ० अर्थशास्त्र १।१, १।११।
१४. कौ० अर्थशास्त्र १।१, १।११।
१५. कौ० अर्थशास्त्र १।१६।
१६. कौ० अर्थशास्त्र १।१७।
१७. कौ० अर्थशास्त्र १।३, २।९, ३।६, ३।५, ३।७, ३।१४।
१८. कौ० अर्थशास्त्र ३।७, ३।१४।
१९. कौ० अर्थशास्त्र ३।१४।

एकच्चस्सनिक, अन्तानिक, अमर विक्खेपिक, अधिच्च समुपन्निक, उद्धम-आघतनिक, उच्छेदवाद और दित्थधम्म निब्बानवाद मुख्य थे।[1] इन विविध सम्प्रदायों की क्या विशिष्ट विचार-पद्धति थी, इसे जानने के समुचित साधन हमारे पास विद्यमान नहीं हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के प्राचीन विचारक केवल किसी एक विचार-सरणी का ही अनुसरण नहीं करते थे, वे दार्शनिक व अन्य तत्त्वों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार किया करते थे, और इसी कारण प्राचीन भारत में अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ था। जहाँ मानव-सम्प्रदाय के अर्थशास्त्र की सत्ता की सूचना 'कौटलीय अर्थशास्त्र' से प्राप्त होती है, वहाँ मनुस्मृति के रूप में इस सम्प्रदाय का धर्मशास्त्र तो वर्तमान समय में उपलब्ध भी होता है। मनु द्वारा स्थापित सम्प्रदाय के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में अपने कतिपय विशिष्ट विचार थे। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध में भी उसके विचार अन्य सम्प्रदायों से भिन्न थे। चार्वाक सम्प्रदाय का प्रवर्तक सम्भवतः आचार्य बृहस्पति ही था, जिसकी सम्मति में तीनों वेदों के कर्त्ता भाण्ड, धूर्त और निशाचर थे।[2] अतः इस बात में क्या आश्चर्य है कि कौटलीय अर्थशास्त्र में उद्धृत इस सम्प्रदाय के मत में 'त्रयी' (वेद) को दुनियादार लोगों का रोजी कमाने का ढकोसला कहा गया है। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र नाम का एक छोटा-सा ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध भी हुआ है, जिसके सिद्धान्तों पर नास्तिकता की छाप पूरी तरह से विद्यमान है। औशनस सम्प्रदाय के प्रवर्तक सम्भवतः शुक्राचार्य (उशना) थे, जिनकी सम्प्रदाय-परम्परा में 'शुक्रनीति सार' का निर्माण हुआ था।

महाभारत के शान्ति पर्व में भी अनेक पूर्ववर्ती राजशास्त्र-प्रणेताओं के नाम उल्लिखित हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं—विशालाक्ष,[3] इन्द्र,[4] बृहस्पति,[5] मनु,[6] शुक्र,[7] भारद्वाज,[8] गौरशिरा,[9] मातरिश्वा,[10] कश्यप,[11] वैश्रवण,[12]

१. Rhys Davids : Buddhism pp 31-37।
२. 'त्रयो वेदस्य कर्तारः भाण्ड धूर्त निशाचराः' तर्क संग्रह, चर्वाक मत।
३. महाभारत, शान्ति पर्व ५८।२, ५९।८०-८२।
४. महा० शान्ति० ५८।२, ५९।८३।
५. महा० शान्ति० ५६।१।
६. महा० शान्ति० ५७।४४-४५, १२१।११।
७. महा० शान्ति० ५६।२९-३०, ५८।२।
८. महा० शान्ति० ५८।३।
९. महा० शान्ति० ५८।३।
१०. महा० शान्ति० ७२।३।
११. महा० शान्ति० ७४।७।
१२. महा० शान्ति० ७४।१८।

उतथ्य,[1] वामदेव,[2] शम्बर,[3] कालकवृक्षीय,[4] वसुहोम,[5] और कामन्दक[6]। इनमें से कुछ नाम कौटलीय अर्थशास्त्र में भी आये हैं। पहले छः नाम इसी प्रकार के हैं। इन्द्र बाहुदन्तीपुत्र का ही दूसरा नाम है। शेष दस आचार्यों के नाम नये हैं। इन आचार्यों के ग्रन्थों का परिमाण कितना था, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश महाभारत में पाये जाते हैं। इन के अनुसार विशालाक्ष के नीतिशास्त्र में दस हजार, इन्द्र के नीतिशास्त्र में पांच हजार और बृहस्पति के अर्थशात्र में तीन हजार अध्याय थे।[7]

ऊपर जिन आचार्यों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त भी कतिपय राजशास्त्र-प्रणेता आचार्यों के नाम 'महाभारत' में पाये जाते हैं। कीर्तिमान्, कर्दम, अनंग, अतिबल, वैण्य, पुरोधा, काव्य और योगाचार्य नामक आचार्यों के नाम राज-नीतिशास्त्र विषयक ग्रन्थों के क्रमिक विकास को प्रदर्शित करते हुए महाभारत के शान्तिपर्व में दिए गये हैं।[8] पर इनके सम्बन्ध में कोई अन्य परिचय हमें प्राप्त नहीं होता। महाभारत में कतिपय प्राचीन नीति-शास्त्रों से श्लोक भी उद्धृत किये गए हैं। ये ग्रन्थ मनु,[9] उशना,[10] मरुत्त,[11] और प्राचेतस[12] नामक आचार्यों द्वारा विर-चित थे। भार्गव-प्रणीत 'राजचरित-आख्यान' से भी दो श्लोक शान्ति पर्व में उद्धृत किये गए हैं।[13] इसी प्रकार सहस्र अध्यायों वाले एक विशाल नीति-ग्रन्थ का भी महाभारत में उल्लेख है, जिसकी वहां सम्पूर्ण विषय-सूची भी दे दी गई है।[14] इस विषय-सूची का अनुशालन करने से ज्ञात होता है, कि इस ग्रन्थ में राजनीतिशास्त्र से

---

१. महा० शान्ति० ९०।३।
२. महा० शान्ति० ९२।३।
३. महा० शान्ति० १०२।३१।
४. महा० शान्ति० १०४।३।
५. महा० शान्ति० १२२।१-५४।
६. महा० शान्ति० १२३।१२।
७. "वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत।
दशाध्याय सहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः॥
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम्।
अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेक बृहस्पतिः॥ महा० शान्तिपर्व ५८।८०-८२।
८. महा० शान्ति० ५६।२४-२५।
९. महा० शान्ति० ५६।२९-३०।
१०. महा० शान्ति ५६।३९।
११. महा० शान्ति ५६।७।
१२. महा० शान्ति० ५६।४३।
१३. महा० शान्ति० ५६।४०-४२।
१४. महा० शान्ति० ५८।२९-८२।

सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों का समावेश हो गया था। महाभारत के शांति पर्व में कतिपय ऐसे संवाद भी संगृहीत हैं, जो कि पुराने ग्रन्थों से संकलित किये गए हैं, और जिनमें राजनीतिशास्त्र से सम्बद्ध विषयों पर विचार-विमर्श किया गया है। ये संवाद अत्यन्त उपयोगी हैं, और इनके अनुशीलन से प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यों का कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

कामन्दक नीतिसार में भी अनेक प्राचीन ग्रन्थों के मत उद्धृत किये गए हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ तो उन आचार्यों द्वारा ही प्रणीत हैं, जिनका उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है। पर दो आचार्य ऐसे भी हैं, जो नये हैं। इनके नाम मय[1] और पुलोमा[2] हैं।

चण्डेश्वर द्वारा प्रणीत 'राजनीति रत्नाकर' में अनेक आचार्यों और ग्रन्थों के मत प्रमाण-रूप से प्रस्तुत किये गए हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) व्यास निर्मित 'अर्थ प्रदीप',[3] इस नाम का कोई ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होता (२) 'अर्थशास्त्र',[4] इस ग्रन्थ से कामन्दकीय नीतिसार अभिप्रेत है, जो इस समय उपलब्ध है। (३) कात्यायान,[5] इस आचार्य के नीति-विषयक अनेक श्लोक दिये गए हैं, यद्यपि इसका कोई ग्रन्थ अब नहीं मिलता। (४) कुल्लूकभट्ट,[6] इसका भी कोई ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है। (५) नारद,[7] इसके जो श्लोक 'राजनीति रत्नाकर' में दिये गए हैं, उनमें से बहुत-से ऐसे हैं, जो 'नारद स्मृति' में नहीं पाये जाते। (६) मनु,[8] उद्धृत श्लोक प्रायः मनुस्मृति में विद्यमान हैं। (७) शुक्रनीति,[9] 'शुक्रनीति सार' नाम से जो ग्रन्थ इस समय प्राप्य है, उसमें ये श्लोक नहीं मिलते।

श्री मित्र मिश्र विरचित 'वीर मित्रोदय राजनीति' में भी अनेक प्राचीन आचार्यों के नाम दिये गए हैं। इनमें विज्ञानेश्वर, बृहत्पाराशर, अपरार्क, गौतम, बृहस्पति, नारद, अंगिरा और कात्यायन प्रमुख हैं। परन्तु इस 'राजनीति' में जो उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों से दिए गये हैं, वे प्रायः पुराणों और मीमांसा-ग्रन्थों से लिए गये हैं।

---

१. कामन्दक नीतिसार, १२।२० ।
२. कामन्दक नीतिसार, १२।२१ ।
३. जायसवाल द्वारा सम्पादित राजनीति रत्नाकर, पृ० ८१ ।
४. तथा पृ० ६२ ।
५. तथा पृ० १८, २३, २४, ७८, ८१, ८६ ।
६. तथा पृ० २ ।
७. तथा पृ० १३, १५, १६, २० ।
८. तथा पृ० ४, ६, ८, ९, ७८, ८०, ८७ ।
९. तथा पृ० ८१ ।

मध्यकाल में सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' नाम का एक राजनीति-विषयक ग्रन्थ लिखा था। इसी ने यशस्तिलक चम्पू नाम के एक महाकाव्य की भी रचना की थी, जिसमें राजनीतिशास्त्र के अनेक तत्त्वों का समावेश है। इन दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि सोमदेव सूरि कौटलीय अर्थशास्त्र और कामन्दक नीतिसार से तो परिचित थे ही, पर इनके अतिरिक्त गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म और भारद्वाज आदि प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेताओं के ग्रन्थों से भी उनका परिचय था। सम्भवतः, गुरु का अभिप्राय बृहस्पति से है। बृहस्पति, शुक्र, विशालाक्ष, पराशर और विशालाक्ष के नाम कौटलीय अर्थशास्त्र में भी आये हैं, पर सोमदेव सूरि की सूची में परीक्षित, भीम और भीष्म के नाम नये हैं। इनमें भी भीष्म के राजशास्त्र का अभिप्राय सम्भवतः महाभारत के शान्ति पर्व में उद्धृत भीष्म द्वारा उपदिष्ट संदर्भों से है। नीति वाक्यामृत में जिन पुरातन नीति-ग्रन्थों के उद्धरण दिए गये हैं, उनकी संख्या पचास से ऊपर है। इनमें से बहुसंख्यक ग्रन्थ ऐसे हैं, जो वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही अनेक उद्धरण ऐसे भी हैं, जो उन पुस्तकों में नहीं मिलते, जो आजकल प्राप्तव्य हैं। मनु और शुक्र के जो उद्धरण 'नीतिवाक्यामृत' ने दिए हैं, वर्तमान समय में उपलब्ध मनुस्मृति और शुक्रनीति में वे नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है, कि मानव और औशनस सम्प्रदायों के अन्य भी अनेक ग्रन्थ प्राचीन समय में विद्यमान थे, जो अब लुप्त हो चुके हैं। बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के राजशास्त्र के अनेक श्लोक सोमदेव सूरि ने दिये हैं, जिनको पढ़ने से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है, कि जिस बृहस्पति के उद्धरण नीति वाक्यामृत में दिए गये है, उनके सिद्धान्तों में और कौटलीय अर्थशास्त्र में उद्धृत बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के विचारों व मन्तव्यों में बहुत समता है। जिस प्रकार कौटल्य को ज्ञात बृहस्पति वेदों को ढकोसला समझता था, वैसे ही सोमदेव सूरि द्वारा उद्धृत बृहस्पति भी वेदों को बुद्धि और पौरुष से हीन लोगों द्वारा पेट भरने के निमित्त बनाया हुआ साधन-मात्र मानता था।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र में बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के उद्धरण गद्य में हैं, पर नीतिकाव्यामृत में उनके उद्धरण श्लोकों के रूप में हैं। इससे सूचित होता है, कि प्राचीन समय में बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के कम-से-कम दो ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे। एक सम्प्रदाय में अनेक ग्रन्थों का विकास सर्वथा स्वाभाविक बात है।

इस प्रकरण में जो विवेचना हमने की है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र विषयक बहुत से ग्रन्थ विद्यमान थे। अनेक ऐसे आचार्यों और विचार-सम्प्रदायों की प्राचीन भारत में सत्ता थी, जिन्होंने कि इस शास्त्र को भली भाँति विकसित किया था। दुर्भाग्यवश, इस समय प्राचीन समय

१. "अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः प्रव्रज्या नग्नमुण्डिता।
बुद्धि पौरुष हीनानां जीवितेऽदो मतं गुरोः॥" नीतिवाक्यामृत (बम्बई) पृ० ७६

के ये सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। अधिक खोज द्वारा जब भारत का अन्य प्राचीन साहित्य प्रकाश में आयगा, तो सम्भवतः राजनीतिशास्त्र विषयक अन्य अनेक ग्रन्थ भी उपलब्ध हो सकेंगे।

(३) राजनीतिशास्त्र विषयक ग्रन्थ

वर्तमान समय में राजनीतिशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनका संक्षेप के साथ परिचय देना उपयोगी है। ये ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(१) कौटलीय अर्थशास्त्र—इस ग्रन्थ का निर्माण आचार्य चाणक्य द्वारा किया गया था, जो मौर्य-साम्राज्य के प्रवर्तक चन्द्रगुप्त के गुरु व प्रधान मन्त्री थे। कौटल्य चाणक्य का ही नाम था। हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि में चाणक्य के निम्नलिखित नाम उल्लिखित किये हैं—वात्स्यायन, मल्लनाग, कुटल, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल।[१] प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त के अनुसार आचार्य चाणक्य ने नवनन्दों का विनाश कर चन्द्रगुप्त को मगध के राजसिंहासन पर बिठाया था।[२] कौटलीय अर्थशास्त्र की अन्तःसाक्षी द्वारा सूचित होता है, कि इसी चाणक्य ने अर्थशास्त्र का निर्माण किया था। वहाँ लिखा है—"जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र, शस्त्र और नन्दराज के हाथ में गई हुई पृथ्वी का उद्धार किया, उसने ही इस शास्त्र की रचना की है।"[३] अर्थशास्त्र का निर्माता चाणक्य ही था, इसके प्रमाण प्राचीन साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। कामन्दक ने अपने नीतिसार में चाणक्य द्वारा निर्मित अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है।[४] इसी प्रकार कवि दण्डी ने 'दशकुमार चरितम्' में आचार्य विष्णुगुप्त द्वारा मौर्यों के लिए बनाए गये ग्रन्थ का निर्देश किया है।[५] पञ्चतन्त्र, नीति वाक्यामृत आदि ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध में निर्देश पाये जाते हैं। मल्लिनाथ ने रघुवंश आदि की अपनी टीकाओं में 'अत्र कौटल्यः' लिखकर अर्थशास्त्र से उद्धरण दिये हैं।[६] ये सब बातें स्पष्ट रूप से सूचित करती हैं, कि अर्थशास्त्र का रचयिता चाणक्य या कौटल्य ही था। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के कतिपय अन्य निर्देश भी उल्लेखनीय हैं। वहाँ एक स्थान

१. "वात्स्यायने मल्लिनागः कुटलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः।"

२. मुद्राराक्षस, पुराण आदि।

३. "येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।" कौ० अर्थ० १५।१।

४. "दर्शनात् तस्य सदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
राजविद्या प्रियतमा संक्षिप्त ग्रन्थमर्थवत्॥" कामन्दक १।७।

५. "इयमिदानीम् आचार्य विष्णु गुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोक सहस्रैः संक्षिप्ता।"

६. रघुवंश १७।४९।

पर लिखा है—"सब शास्त्रों का अनुशीलन करके और प्रयोग (क्रियात्मक अनुभव) द्वारा कौटल्य ने 'नरेन्द्र' के लिए शासन की यह 'विधि' बनाई है।"[1] एक अन्य स्थान पर कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखा है—"कौटल्य ने यह शास्त्र ऐसा बनाया है, जिसे सुगमता से व सुखपूर्वक समझा व ग्रहण किया जा सकता है। इसमें व्यर्थ ग्रन्थ का विस्तार नहीं किया गया है, और इसके तत्त्व, अर्थ और पद सुनिश्चित हैं।"[2] अर्थशास्त्र का यह अन्तिम श्लोक भी उल्लेखनीय है—"बहुधा शास्त्रों में यह देखा जाता है, कि शास्त्रों पर जो भाष्य किये जाते हैं, उनमें बहुधा परस्पर-विरोध होता है, अतः विष्णुगुप्त ने स्वयं ही सूत्र बनाये और स्वयं ही उन पर भाष्य भी किया।"[3]

इन सब प्रमाणों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि अर्थशास्त्र की रचना चाणक्य या कौटल्य द्वारा ही की गई थी। पर कतिपय विद्वानों का मत है कि कौटलीय अर्थशास्त्र तीसरी या चौथी सदी ईस्वी की रचना है। इस ग्रन्थ का अनुवाद करते हुए उसकी भूमिका में प्रो० जाली ने इसी मत का प्रतिपादन किया है। उनकी सम्मति है, कि यह ग्रन्थ मौर्य-काल में नहीं बना, और इसकी रचना भी किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं की गई। यह एक सम्प्रदाय की कृति है। इसमें मुख्य प्रमाण प्रो० जाली ने ये दिये हैं कि अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर 'इति कौटल्यः' लिखकर कौटल्य या चाणक्य के मत को उद्धृत किया गया है।[4] यदि कौटल्य स्वयं इस ग्रन्थ के लेखक होते, तो उन्हें कौटल्य के मत को उल्लिखित करने की कोई आवश्यकता न होती। पर जॉली की युक्तियों का श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने विस्तार के साथ विवेचन कर इस मत को प्रतिपादित किया है, कि अर्थशास्त्र कौटल्य की ही कृति है और उसकी रचना चतुर्थ सदी ई० पू० में ही हुई थी।[5] श्री जायसवाल की युक्तियों को यहाँ उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं। अर्थशास्त्र की अन्तःसाक्षियों और भाषा के आधार पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि यह ग्रन्थ कौटल्य या चाणक्य द्वारा ही निर्मित है, जिसे कि उन्होंने 'नरेन्द्र' चन्द्रगुप्त के लिये शासन की विधि के रूप में लिखा था। उन्होंने एक स्थान पर यह भी लिखा है—"तेन गुप्तः प्रभवति" जिसका अर्थ है—गुप्त (चन्द्रगुप्त) इसी के अनुसार कार्य करता है। अर्थशास्त्र के अनु-

१. सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥

२. "सुख ग्रहण विज्ञेय तत्त्वार्थ पद निश्चितम्।
कौटल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्त ग्रन्थ विस्तरम्॥" कौ० अर्थ० १।१।

३. "दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यम् च॥" कौ० अर्थ० १५।१।

४. कौ० अर्थशास्त्र १।१ "चतस्र एव विद्या इव कौटल्यः॥"

५. K. P. Jayaswal ; Hindu Policy Vol. I

शीलन से भारत की जिन परिस्थितियों का हमें परिचय मिलता है, वे भी उस युग की हैं जबकि विविध जनपदों की स्वतन्त्रता का अन्त होकर भारत में एक साम्राज्य का विकास हो रहा था। इस ग्रन्थ से जहाँ मौर्य-साम्राज्य की शासन-विधि के सम्बन्ध में परिचय मिलता है, वहाँ साथ ही प्राचीन जनपदों के स्वरूप व शासन के विषय में भी अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं। भारत के राजदर्शन-सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए भी कौटलीय अर्थशास्त्र एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कौटल्य की सम्मति में राजनीति शास्त्र के दोनों पहलू होते हैं, दर्शनात्मक भी और प्रयोगात्मक भी।[1] इस ग्रन्थ में दोनों ही प्रकार की राजनीति का वर्णन है।

(२) भारत के प्राचीन साहित्य में महाभारत का महत्त्व बहुत अधिक है। उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान व इतिवृत्त का विश्व-कोश माना जा सकता है। महाभारत के शान्ति-पर्व में राजधर्म का बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। शान्तिपर्व स्वयं एक विशाल ग्रन्थ के रूप में है, जिसमें भीष्म के विविध व्यक्तियों के साथ संवाद संकलित हैं। शरशैया पर पड़े हुए भीष्म से उनके शिष्य व सम्बन्धी राजधर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं, और भीष्म उनके उत्तर देते हैं। विचारों की उच्चता की दृष्टि से भीष्म के ये प्रवचन ग्रीस के प्लेटो और सोक्रेटीज के प्रवचनों से किसी भी प्रकार हीन नहीं है। भाषा के लालित्य की दृष्टि से भी ये संसार के सर्वोत्कृष्ट साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। शान्तिपर्व (या उसका राजधर्म पर्व) विशालता और विस्तार की दृष्टि से राजशास्त्रविषयक किसी भी प्राचीन ग्रन्थ से कम नहीं है। प्राचीन भारतीय राजदर्शन और राज्यसंस्थाओं के अनुशीलन के लिए महाभारत के शान्तिपर्व का बहुत अधिक उपयोग है। इसे हम आचार्य भीष्म का 'राजदर्शन' समझ सकते हैं। पर प्रसंगवश इसमें अन्य आचार्यों के मन्तव्यों का भी विशद रूप से समावेश कर दिया गया है, जिसके कारण इसकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। शान्तिपर्व या महाभारत की रचना किस समय में हुई, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। बहुत-से ऐतिहासिक इसे कौटलीय अर्थशास्त्र के बाद का मानते हैं, और इसका समय तीसरी सदी ईस्वी में रखते हैं। महाभारत और उसका शान्तिपर्व अपने वर्तमान रूप में चाहे तीसरी सदी ईस्वी में आये हों, पर इस बात में सन्देह नहीं कि इनमें संकलित विचार बहुत पुराने हैं। शान्ति पर्व में स्थान-स्थान पर यह लिखकर कि इस प्रसंग में हम पुराने इतिहास व श्रुति को उल्लिखित करते हैं, भारत के बहुत प्राचीन विचारों को संकलित किया गया है। वहाँ जो अनेक संवाद संगृहीत हैं, वे बहुत पुराने विचारों के परिचायक हैं।

(३) शुक्रनीति सार—शुक्र या उशना प्राचीन भारत के एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य थे। उनके द्वारा स्थापित विचार सम्प्रदाय को ही 'औशनस' कहा जाता था।

---

१. दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः।" कौ० अर्थ० १।५।

शुक्रनीति सार नाम का एक ग्रंथ वर्तमान समय में उपलब्ध होता है, जो अत्यन्त महत्व का है। इसमें दण्डनीति और राजधर्म का बड़े विशद रूप से वर्णन है। पर इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में भी बहुत मतभेद है। जहाँ अनेक ऐतिहासिक इसे ईस्वी सन् से भी पहले का मानते हैं, वहाँ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो इसे अब से पाँच या छः सदी पूर्व निर्मित समझते हैं। वस्तुतः, शुक्रनीति सार में कतिपय ऐसे प्रसंग हैं, जिससे इसकी प्राचीनता में संदेह होना स्वाभाविक है। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है, कि इस ग्रंथ में प्राचीन तत्वों की भी कमी नहीं है। अपने वर्तमान रूप में चाहे यह बाद में आया हो, पर इसके आधारभूत विचार अवश्य प्राचीन हैं।

(४) कौटलीय अर्थशास्त्र, महाभारत (शान्तिपर्व) और शुक्रनीति के अतिरिक्त राजनीति-विषयक निम्नलिखित प्राचीन ग्रंथ भी इस समय प्राप्य हैं—सोमदेव सूरि कृत नीतिवाक्यामृत, कामन्दक नीति सार, मित्रमिश्र द्वारा रचित वीरमित्रोदय राजनीति, चन्डेश्वर का राजनीति रत्नाकर, नीलकण्ठ की नीतिमयूख, भोजराज कृत युक्ति कल्पतरु और बृहस्पति सूत्र। ये सब ग्रंथ ईस्वी सन् के प्रारम्भ के बाद में बने थे, और इन्हें प्रायः मध्यकाल का माना जाता है। 'राजनीति रत्नाकर' का प्रणेता आचार्य चण्डेश्वर मिथिलाधीश महाराज हरिसिंह देव (चौदहवीं सदी) का प्रधानामात्य था। उसने अपने को 'मन्त्रीन्द्र' कहा है। चण्डेश्वर का पिता वीरेश्वर इसी मिथिला राज्य में 'महासन्धि-विग्रहक' के पद पर नियुक्त था। भोज का काल भी मध्यकाल में था। कौटलीय अर्थशास्त्र व शान्तिपर्व (महाभारत) के अतिरिक्त अन्य नीति-ग्रन्थ प्रायः सब मध्यकाल के हैं, जबकि भारत में स्वतन्त्र व मौलिक चिन्तन का प्रायः अभाव हो गया था। इसी कारण इन ग्रंथों में प्रायः राजनीति की उसी परिपाटी का अनुकरण किया गया है, जिसका सूत्रपात पुरातन आचार्यों द्वारा किया गया था; यद्यपि इन ग्रंथों पर अपने समय की परिस्थितियों के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता।

(५) विशुद्ध नीति-विषयक ग्रंथों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्य भी बहुत से ग्रंथ हैं, जो राजनीति-सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन करते हैं। प्रायः सभी स्मृति-ग्रंथों में राजधर्म का भी समावेश है। इसीलिए मनु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियाँ प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अनुशीलन के लिए बहुत उपयोगी हैं। धर्मसूत्रों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। पुराण, रामायण, काव्यग्रंथों आदि में भी राजशास्त्र विषयक अनेक निर्देश मिलते हैं। पुराण संख्या में अठारह हैं, जिनमें जहाँ प्राचीन इतिवृत्त संगृहीत हैं, वहाँ प्रसंगवश उनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-सम्बन्धी संदर्भों की भी कमी नहीं है। बौद्ध और जैन साहित्य भी राजनीतिक-विषयक निर्देशों से शून्य नहीं हैं।

इस ग्रंथ में हम भारत के इस सब साहित्य का उपयोग करने का प्रयत्न करेंगे। पर हमें इस ग्रंथ में केवल प्राचीन राजदर्शन का ही विवेचन नहीं करना है। प्राचीन

भारतीय राज्यसंस्था व शासन पर भी हमें विचार करना है। इसके लिए हमारे सम्मुख वे सब साधन हैं, जिनका उपयोग भारत के प्राचीन इतिहास की शोध व परिज्ञान के लिए किया जाता है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, ऐतिहासिक व अन्य काव्य, संस्कृत साहित्य, बौद्ध और जैन साहित्य, पाणिनि की अष्टाध्यायी व संस्कृत व्याकरण के अन्य ग्रंथ, शिलालेख, ताम्रलेख, सिक्के आदि सब प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इन सबका अध्ययन राज्यसंस्थाओं व शासन के लिए भी उपयोगी है। विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों का भी इस सम्बन्ध में उपयोग है। भारतीय इतिहास की इस सब सामग्री को यहाँ उल्लिखित कर सकना सम्भव नहीं है। पर इस सबका प्राचीन भारतीय शासन-पद्धतियों के अनुशीलन के लिए बहुत उपयोग है।

(४) प्राचीन राजशास्त्र और शासनसंस्थाओं के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

भारत के प्राचीन राजशास्त्र सम्बन्धी विचारों और शासनसंस्थाओं का अनुशीलन करते हुए हमें कतिपय बातों का ध्यान में रखना चाहिए—

(१) भारत बहुत बड़ा देश है। यद्यपि इसकी भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता से इनकार नहीं किया जा सकता, पर यह सत्य है कि राजनीतिक दृष्टि से इस देश में कभी अविकल रूप से एकता कायम नहीं रही। प्राचीन काल में भारत में बहुत से जनपद थे, जिनकी संख्या सैकड़ों में थी। महाभारत, पाणिनि की अष्टाध्यायी, बौद्ध व जैन साहित्य आदि में भारत के बहुत-से जनपदों का उल्लेख है, और यह बात शिलालेखों व सिक्कों से भी सूचित होती है। यदि भारत के प्राचीन इतिहास का सिंहावलोकन किया जाए, तो राज्यसंस्था के विकास की दृष्टि से हम उसे निम्नलिखित युगों में विभक्त कर सकेंगे—

(१) **वैदिक काल**—जब आर्य जाति के विविध जन (कबीले) भारत के विविध प्रदेशों में वस रहे थे। आर्यों के ये जन एक ही वंश के होते थे, और इसी कारण इन्हें 'सजात' समझा जाता था। राजनीतिक रूप से संगठित 'जन' को राष्ट्र कहते थे। एक जन जहाँ स्थायी रूप से बस जाता, उसे भी राष्ट्र कहते थे। जनपद देश भी इसी राष्ट्र की संज्ञाएँ थीं।

(२) **उत्तर-वैदिक काल**—आर्यों के विविध जन जब भारत के विभिन्न प्रदेशों में स्थायी रूप से बस गये, तो उनमें से कतिपय शक्तिशाली जनों द्वारा आबाद जनपदों या राष्ट्रों ने अपनी शक्ति के विस्तार के लिए भी प्रयत्न करना प्रारम्भ किया, और अन्य जनपदों को जीतकर अपने सार्वभौम या चक्रवर्ती राज्य विकसित करने शुरू किये। पर ये पुराने आर्य राजा अन्य जनपदों का उच्छेद करना आर्य मर्यादा के विप-

रीत समझते थे, और उनसे अपनी चक्रवर्ती सत्ता स्वीकार कराके ही संतोष अनु कर लेते थे। वे दिग्विजय करना गौरव की बात समझते थे, और दिग्विजय के अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे। पर इस युग में भी प्राच्य भारत के म सदृश जनपद, जिनके निवासियों में आर्यभिन्न तत्त्व की प्रधानता थी, ऐसे साम्रा के निर्माण में तत्पर थे, जिसमें स्वतन्त्र व पृथक् जनपदों की सत्ता की गुंजा नहीं रहती थी।

वैदिक काल की राज्यसंस्थाओं का परिचय हमें वेदों द्वारा मिलता है, पुराणों में संगृहीत अनुश्रुति भी इस युग की राज्यसंस्था पर प्रकाश डालती है उत्तर-वैदिक युग की राज्यसंस्थाओं के परिचय के लिए ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद, राम यण, महाभारत आदि हमारे प्रधान साधन हैं।

(३) **बौद्ध काल**—छठी सदी ईस्वी पूर्व में भारतीय इतिहास के उस युग प्रारम्भ हुआ, जिसे बौद्धकाल कहते हैं। इस काल में भी भारत में बहुत-से जनप की सत्ता थी। पर इस काल में कतिपय जनपद बहुत शक्तिशाली हो गये थे, औ उन्होंने अपने पड़ोस के अन्य जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से चा राजतन्त्र जनपद (वत्स, मगध, काशी और अवन्ति) अपनी शक्ति का विस्तार क साम्राज्य-निर्माण के लिए प्रयत्नशील थे।

(४) **साम्राज्य काल**—साम्राज्य विस्तार के संघर्ष में मगध को सफलता प्राप्त हुई, जिसके विविध राजवंश (शैशुनाक, नन्द, मौर्य, शुङ्ग, कण्व, आन्ध्र, गुप्त आदि) भारत के बड़े भाग को अपनी अधीनता में लाकर एक विशाल साम्राज्य के निर्माण में सफल हुए। मगध का यह साम्राज्य एक हजार वर्ष के लगभग तक (प्रायः पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व से छठी सदी ईस्वी तक) कायम रहा। इस सुदीर्घ काल में मगध के राजवंशों में परिवर्तन होते रहे। विदेशी आक्रमणों के कारण कभी-कभी साम्राज्य का आकार भी क्षीण होता रहा, और अनेक बार आन्तरिक विद्रोहों ने भी अव्यवस्था उत्पन्न की, पर मगध का साम्राज्य कायम अवश्य रहा।

(५) **सामन्त पद्धति का काल**—गुप्तवंश के शासन-काल में ही भारत में सामंत पद्धति (Feudal System) का विकास प्रारम्भ हो गया था। विदेशियों के आक्रमण से देश की रक्षा करते हुए अनेक प्रबल सामन्त मगध के सम्राट् की अधीनता स्वीकार करते हुए भी अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लग गये थे। इसीलिए जब गुप्त-साम्राज्य का ह्रास हो गया, तो भारत में कोई ऐसा शक्तिशाली राजा व सम्राट् नहीं रहा, जो देश में राजनीतिक एकता को कायम रखने में समर्थ होता। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक के काल को भारतीय इतिहास का 'सामन्त युग' कह सकते हैं, जबकि अनेक राजवंश (पाल, प्रतिहार, चेदि, चालुक्य, राष्ट्रकूट

आदि) भारत के विभिन्न प्रदेशों पर स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे, यद्यपि ये नाम को किसी शक्तिशाली राजा को महाराजाधिराज के रूप में अपना अधिपति स्वीकार करते थे। यह महाराजाधिराज पद कभी पाल वंश में रहा, कभी प्रतीहार वंश में और कभी कतिपय अन्य राजवंशों में। जब तुर्क-अफगानों ने भारत पर आक्रमण शुरू किये, तो सामन्त-पद्धति के कारण इस देश में राजनीतिक एकता का अभाव था, और इसी कारण विदेशी आक्रान्ताओं के लिए भारत की विजय कर सकना बहुत कठिन नहीं हुआ।

यह स्पष्ट है, कि भारतीय इतिहास के इन विविध युगों में राज्यसंस्था का स्वरूप एक सदृश नहीं था। जो शासन-संस्थाएँ जनपद युग में विद्यमान थीं, साम्राज्य-युग में वे कायम नहीं रह सकती थीं। सामन्त-युग में इन संस्थाओं में पुनः परिवर्तन होना अनिवार्य था। अपने समय की संस्थाएँ राज्य-सम्बन्धी विचारों व दर्शन को भी प्रभावित करती हैं। भारत के प्राचीन जनपदों में राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों प्रकार के शासनों की सत्ता थी। इसीलिए इस देश के प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेताओं ने विविध प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया है। अतः यह स्वाभाविक है, कि जब हम प्राचीन भारत की राज्यसंस्थाओं पर विचार करें, तो भारत के राजनीतिक इतिहास के इन विविध युगों को ध्यान में रखें; और साथ ही इन विविध युगों की विभिन्न परिस्थितियों में जो विभिन्न विचार विकसित हुए, उन्हें परस्पर मिलायें नहीं। भारत की सब प्राचीन शासनसंस्थाओं और राजदर्शन सम्बन्धी सब विचारों को एक ही रूप से प्रतिपादित करना युक्ति-संगत नहीं समझा जा सकता।

दूसरा अध्याय

वैदिक युग की शासन-संस्थाएं

(१) राज्यसंगठन का स्वरूप

आर्य जाति के इतिहास के रंगमञ्च पर प्रवेश करने से पूर्व भारत में जिस उन्नत सभ्यता की सत्ता थी, उसे 'सिन्धुघाटी की सभ्यता' कहते हैं। इस सभ्यता का क्षेत्र बहुत विस्तृत था, और इस के प्रधान नगर उन स्थानों पर स्थित थे, जहां वर्तमान समय में मुअन-जो-दड़ो और हड़प्पा के खेड़े विद्यमान हैं। इस प्राचीन भारतीय सभ्यता की शासन-संस्थाओं का क्या स्वरूप था, यह ज्ञात नहीं है, क्योंकि अब तक इसके लेखों को पढ़ा नहीं जा सका है।

जिस समय आर्य लोग भारत में प्रविष्ट हुए, और उन्होंने सिन्धु सभ्यता को परास्त कर इस देश में अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया, वे राजनीतिक दृष्टि से संगठित हो चुके थे। उनके संगठन को 'जन' कहते थे। भारतीय आर्यों के जैसे 'जन' थे, वैसे ही आर्यों की अन्य शाखाओं (प्राचीन ईरानियों, ग्रीकों और लैटिन लोगों) के भी थे। इन जनों का संगठन परिवार के नमूने पर होता था, और प्रत्येक 'जन' का नाम उसके किसी प्रतापी पूर्वपुरुष या विद्यमान शक्तिशाली पुरुष के नाम पर पड़ता था। एक 'जन' के सब व्यक्ति 'सजात',[1] 'सनाभि'[2] व एक वंश के समझे जाते थे। अपने 'जन' को वे 'स्व' कहते, और दूसरे जनों के व्यक्तियों को 'अन्यनाभि' या 'अरण'।

आर्यों के अत्यन्त प्राचीन 'जन' प्रायः 'अनवस्थित' दशा में होते थे, क्योंकि वे किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से बसे हुए नहीं थे। राज्यसंस्था के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य किसी निश्चित प्रदेश पर बस जाएँ। पर इन अनवस्थित जनों में भी संगठन का अभाव नहीं था। प्रत्येक जन के अनेक विभाग होते, जिन्हें 'ग्राम' कहते

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।३।२, अथर्व ३।३।५
और अथर्व १।६।४

२. "मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः।" अथर्व १।३०।१

थे। ग्राम का अर्थ समुदाय है। बाद में जब मनुष्यों का कोई समूह या समुदाय (ग्राम) किसी स्थान पर स्थायी रूप से बस गया, तो वह स्थान भी 'ग्राम' कहाने लगा। इसी प्रकार जब कोई जन (जो अनेक ग्रामों में विभक्त होता था) भी किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से बस जाता, तो वह प्रदेश 'जनपद' कहाने लगता, और स्वभाविक रूप से उसमें अनेक ग्रामों की सत्ता होती। सारे जनपद के शासक को 'राजा' कहते थे, और विभिन्न ग्रामों के शासकों को 'ग्रामणी।'

जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया, तो वे 'ग्रामों' और 'जनों' में संगठित हो चुके थे। उन्होंने सिन्धु सभ्यता के लोगों के युद्ध में परास्त किया। भारत के इन प्राचीनतम निवासियों को वैदिक साहित्य में 'दास' या 'दस्यु' नाम से कहा गया है। ये लोग रंग में कृष्ण थे, और उनकी नाक उभरी हुई नहीं होती थी। इस कारण उन्हें 'अनासः' भी कहा जाता था। सिन्धु सभ्यता के इन लोगों को परास्त कर जब आर्य जन भारत के विविध प्रदेशों में स्थायी रूप से बस गए, तो वहाँ उन्होंने अपने विविध 'जनपद' स्थापित किये। ऋग्वेद के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि वैदिक युग के भारत में आर्यों के अनेक जनपद या राज्य विद्यमान थे। अनेक मन्त्रों में 'पञ्च जनाः' का उल्लेख है, जो पुरु, यदु, तुर्वशु, अनु और द्रुह्य जनों को सूचित करता है। निःसन्देह, ये वैदिक आर्यों की मुख्य शाखाएँ थीं। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, शृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आया है, जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि, वैदिक आर्य अनेक जनों में विभक्त थे, और उन्होंने इस देश में अनेक जनपदों या राज्यों की स्थापना की थी। इसीलिए ऋग्वेद में अनेक ऐसे राजाओं के नाम भी मिलते हैं, जो एक ही समय में विविध प्रदेशों के शासक थे। वैदिक युग की शासन-संस्थाओं को समझने के लिए इस तथ्य को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

वैदिक युग में एक 'जन' के अन्तर्गत सब व्यक्तियों को सामूहिक रूप से 'विशः' कहा जाता था, और राजनीतिक रूप से संगठित जन या विशः की 'राष्ट्र' संज्ञा थी। अन्य शब्दों में हम यों कह सकते हैं, कि वैदिक युग का भारत अनेक ऐसे राष्ट्रों में विभक्त था, जिनकी संख्या तो बहुत अधिक थी पर क्षेत्रफल व जनसंख्या की दृष्टि से जो छोटे-छोटे थे।

वैदिक युग के आर्य राजनीतिक दृष्टि से जिन 'जनों' में संगठित थे, वेदों के अनुशीलन से उनके सम्बन्ध में भी परिचय मिलता है। वैदिक इन्डेक्स (Vedic Index) में इन जनों का भौगोलिक दृष्टि से इस प्रकार विभाजन किया गया है—

(१) उत्तर-पश्चिम के क्षेत्र में—कम्बोज, गान्धारि, अलिन, पक्थ, भलान और विषाणिन्।

(२) सिन्धु नदी के पश्चिम में—अर्जिकीय, शिव, केकय और वृचीवन्त।

(३) सिन्धु और वितस्ता नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र में—यदु।

(४) वितस्ता नदी के पूर्ववर्ती पार्वत्य क्षेत्र में—महावृष, उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र।

(५) असिक्नी और पुरुष्णी नदियों के मध्य में—बाल्हीक, द्रुह्यु, तुर्वशु और अनु।

(६) शतुद्रि नदी के पूर्व में—भरत, त्रित्सु, पुरु, पारावत और सृंजय।

(७) यमुना के क्षेत्र में—उशीनर, वश, साल्व और क्रिवि।

इन जनों के अतिरिक्त मत्स्य, मुजवन्त, यक्षु, यदु, सोमक, शिष्ट, शिम्यु, वैकर्ण, वरशिख, पृथु, आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है। वैदिक युग के आर्यों की इन विविध शाखाओं व जनों का निवास प्रायः उत्तर-पश्चिमी भारत व पंजाब के क्षेत्र में ही था। इसी प्रदेश को वैदिक साहित्य में 'सप्तसैन्धव' देश के नाम से कहा गया है। उत्तर-वैदिक काल में आर्यों का प्रसार पूर्व की ओर होता गया, और उन्होंने वर्तमान समय के उत्तर-प्रदेश में अपने अनेक नये राज्यों की स्थापना की।

अनेक विद्वानों ने इन जनों के स्वरूप व संगठन पर विशद रूप से विचार किया है। जर्मन विद्वान् जिमर ने इनकी तुलना पुराने जर्मन आर्यों के 'थिण्ड' (Thind) से की है। जर्मन थिन्ड का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि लैटिन आर्यों के सिवितास (Civitas) या ग्रीक आर्यों के पोलिस (Polis) का था। इन के संगठन का आधार कबीला (Tribe) होता था। एक 'जन' (Tribe) के अन्तर्गत जो व्यक्ति होते थे, वे सब प्रायः 'सजात' समझे जाते थे। यह माना जाता था, कि वे सब परस्पर 'बन्धु' हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है, जहाँ कि 'विशः' के सब व्यक्तियों को 'सबन्धून्' कहा गया है।[1] जन के अन्तर्गत यह 'विशः' जहाँ 'सबन्धु' होती थी, वहाँ साथ ही अनेक ग्रामों में भी विभक्त रहती थी। वर्तमान समय में ग्राम शब्द का उपयोग एक ऐसे क्षेत्र से होता है, जिसमें मनुष्य बसे हुए हों। पर वैदिक युग में ऐसे 'ग्राम' भी विद्यमान थे, जो कहीं स्थायी रूप से बसे हुए नहीं थे। उत्तर-वैदिक युग में निर्मित 'शतपथ ब्राह्मण' तक में एक ऐसे ग्राम का उल्लेख किया गया है, जो कहीं स्थायी रूप से बसा हुआ नहीं था, अपितु अपने नेता शर्याति मानव के नेतृत्व में घूमता फिरता था।[2] इससे स्पष्ट है, कि जब वैदिक युग में बहुत-से जन अनवस्थित दशा में थे, तो उनके अन्तर्गत ग्राम भी अनवस्थित दशा में ही थे। बाद

---

१. "स विशः सबन्धूनन्न मन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद" अथर्ववेद १५।८।२-३

२. "शर्यातो ह वाऽइदं मानवो ग्रामेण चचार। स तदेव प्रतिवेशो निविविशे तस्य कुमाराः क्रीडन्त" शतपथ ४।१।५।२

में जब जन किसी प्रदेश में स्थायी रूप से बस गए, तो उनके अन्तर्गत ग्राम भी किसी क्षेत्र पर स्थिर रूप से आबाद हो गये। इसी कारण वह भूमि-क्षेत्र भी 'ग्राम' कहाने लगा। जिस प्रकार 'जन' का नेता या शासक 'राजा' कहाता था, वैसे ही ग्राम के नेता या शासक को 'ग्रामणी' कहते थे। क्योंकि जन के सब सदस्यों की सामूहिक संज्ञा 'विशः' भी थी, अतः जन के राजा को 'विश्पति' भी कहा जाता था।[1] जब वैदिक युग के जन अनवस्थित दशा से ऊपर उठकर किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से आबाद हो गये, तो उस प्रदेश को 'जनपद' या 'राष्ट्र' कहने लगे। बाद के भारतीय साहित्य में जनपद शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसे हम वर्तमान समय में 'राज्य' (State) कहते हैं। जिस प्रकार जनपद अनेक ग्रामों में विभक्त होता था, वैसे ही ग्राम के भी अनेक उपविभाग होते थे, जिन्हें 'गोत्र' कहा जाता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुशीलन से सूचित होता है, कि गोत्र कुल या परिवार की ही संज्ञा थी। इस विषय पर हम आगे चलकर अधिक प्रकाश डालेंगे। ग्राम के शासन में इन गोत्रों या कुलों का स्थान महत्त्व का था। शासन में ग्रामणी की सहायता गोत्रापत्यों या कुलमुख्यों द्वारा की जाती थी, और जनपद के शासन में भी इन कुलमुख्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

वैदिक युग की शासन-संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए, कि 'जन' के रूप में उनका जो राजनीतिक संगठन था, उसका स्वरूप क्या था। इस प्राचीन युग के भारतीय राज्य जनों पर ही आश्रित थे, ऐसे जनों पर जो कि ग्रामों व गोत्रों (कुलों) में विभक्त थे। वर्तमान समय के राज्यों से उनका स्वरूप बहुत भिन्न था।

(२) राजा की स्थिति

वैदिक युग के राष्ट्र या जनपद का मुखिया 'राजा' होता था। सामान्यतया, राजा का पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद राजा के पद को प्राप्त करता था। पर यह आवश्यक था, कि विशः या प्रजा राजा का वरण करे। यदि राजा का पुत्र प्रजा की सम्मति में राजा के पद के योग्य हो, तो प्रजा उसे ही राजा के रूप में वरण कर लेती। अन्यथा, उसे अधिकार था कि वह राजवंश के किसी अन्य व्यक्ति का या कुलीन परिवारों (राजन्यों) के किसी व्यक्ति का राजा के पद के लिए वरण कर सके। राजा के वरण या निर्वाचन को सूचित करने वाले कतिपय वैदिक मन्त्रों को यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा। एक मन्त्र में कहा गया है—"प्रजा (विशः) राज्य के लिए तुम्हें वरण करती है, सब दिशाओं के लोग तुम्हारा वरण करते हैं। तुम राष्ट्ररूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन रहो, और वहाँ रहते हुए उग्र शासक के

---

१. "सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु स्वा सस्तु विश्पतिः।"

समान सब में सम्पत्ति का विभाजन करो।[1] इस मन्त्र से स्पष्ट है, कि प्रजा, जनता या विशः राजा का वरण करती थीं, और सब लोगों द्वारा स्वीकृत होने पर ही कोई व्यक्ति राजा के पद को प्राप्त कर सकता था। वरण का अर्थ चुनना भी है, पर इस शब्द के स्वीकारार्थक होने में तो कोई सन्देह किया ही नहीं जा सकता।

राजा के वरण या निर्वाचन के सम्बन्ध में, अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र बड़े महत्त्व के हैं—"सहर्ष हम तुम्हारा अपने अन्दर आवाहन करते हैं। तुम हमारे बीच में अविचल रूप से व ध्रुव होकर स्थित रहो। सब प्रजा तुम्हें चाहें, तुमसे राष्ट्र का अधिकार कभी छीनना न पड़े। यहीं रहकर तुम उत्कर्ष करो, कभी तुम्हारा पतन न हो, कभी तुम विचलित न हो, इन्द्र के समान तुम ध्रुव होकर रहो और इस राष्ट्र का धारण करो। ये पर्वत सुदृढ़ रूप से स्थिर हैं, यह पृथिवी भी स्थिर है, यह सारा जगत् ध्रुव रूप से स्थिर है, यह द्युलोक भी भली भाँति स्थिर है; इसी प्रकार प्रजाओं का यह राजा भी ध्रुव रूप से स्थिर रहे। राजा वरुण, देव बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि इस राजा को ध्रुव रूप से राष्ट्र का धारण करने की शक्ति दें।"[2]

अथर्ववेद के इन मन्त्रों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—जब प्रजा किसी राजा का वरण करती थी, तो स्वाभाविक रूप से उसकी यह इच्छा होती थी कि जिस व्यक्ति को उसके गुणों के कारण राजा स्वीकार किया गया है, वह ध्रुव रूप से राष्ट्र का शासन करे; वह पृथिवी, पर्वत और द्युलोक आदि के समान अपने पद पर स्थिर रहे। वरुण, बृहस्पति, इन्द्र आदि देवता उसे राजकीय पद पर स्थायी रूप से कार्य कर सकने की शक्ति दें। पर राजा से राष्ट्र का अधिकार छीना भी जा सकता था। "मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्" शब्द इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। राजा के पद के लिए केवल ऐसे व्यक्ति का ही वरण किया जाता था, जो उसी 'जन' का हो, जिससे राष्ट्र का निर्माण हुआ है। इसीलिए अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है—"मैं राजा राष्ट्र का अपना व्यक्ति हूँ, मैं अपने को अवश्य उत्तम बनाऊँगा।"[3] एक अन्य मन्त्र में राजा

१. "त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमः प्रदिशः पंचदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रा विभजावसूनि" अथर्व ३।४।२

२. "आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥"
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय" अथर्व ६।८७।१-२।
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम्॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥ अथर्व ६।८८।१-२

३. "अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः।" अथर्ववेद ३।५।२।

को 'ग्रन्तरभूः' कहा गया है,[१] जिसका अभिप्राय है, कि वह अपने अन्दर का है।

यजुर्वेद में भी कतिपय ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जो प्रजा द्वारा राजा के वरण किये जाने का निर्देश करते हैं। यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है, कि "सब देव लोग महान् फल के लिए, सबसे ज्येष्ठ होने के लिये, महान् जानराज्य के लिए, और इन्द्रों के भी इन्द्र होने के लिए इस व्यक्ति को प्रतिस्पर्धा से विरहित करते हैं।"[२] प्रजा राजा का वरण इसी प्रयोजन से करती है, कि वह सब प्रकार की विपत्तियों से त्राण करे,[३] वह सबसे ज्येष्ठ होकर रहे, उसके नेतृत्व में जनता का प्रभुत्व कायम रहे, और वह इन्द्रों का भी इन्द्र बनकर रहे। यजुर्वेद के इस मन्त्र में ऐसे राजा की देवजनों (उत्तम पुरुषों) द्वारा स्वीकृति व नियुक्ति का निर्देश विद्यमान है।

वैदिक युग में प्रजा जिस व्यक्ति को राजा के पद पर वरण करती थी, उससे वह यही आशा रखती थी, कि वह ध्रुव रूप से राष्ट्र का शासन करेगा। उसे किसी निश्चित अवधि के लिये राजा नहीं बनाया जाता था। इसीलिये अथर्ववेद में कहा है—हे राजन्, तू सुप्रसन्न रूप से इस राष्ट्र में दसवीं अवस्था तक शासन करता रह।[४] ९० साल से ऊपर की आयु को 'दशमी' अवस्था कहते हैं। राजा से वैदिक काल में यही आशा की जाती थी, कि वह दशमी अवस्था तक (वृद्धावस्था तक) राष्ट्र के शासन का संचालन करता रहेगा।

पर ऐसे अवसर भी उपस्थित हो सकते थे, जबकि राजा दशमी अवस्था तक राष्ट्र का शासन न कर सके। कतिपय कारणों से राजा को निर्वासित भी कर दिया जा सकता था, और यदि जनता उसे पुनः राजा के पद पर अधिष्ठित करना चाहे, तो उसे निर्वासन से वापस भी बुलाया जा सकता था। अथर्ववेद का एक मन्त्र है—"वह जो अन्य क्षेत्र में विचरण कर रहा है या वहाँ पर अवरुद्ध है, वह श्येन द्वारा पराये स्थान से पुनः यहाँ ले आया जायगा। अश्विन् उसके लिए मार्ग को सुगम कर देंगे। सब सजात उसके चारों ओर एकत्र होंगे।"[५] यह मन्त्र बड़े महत्त्व का है, इसमें पराये क्षेत्र व प्रदेश में विचरण करते हुए या कारणवश वहाँ अवरुद्ध हुए राजा को श्येन द्वारा अपने राष्ट्र में वापस लाये जाने का उल्लेख है। यहाँ श्येन का अभिप्राय सम्भवतः गरुड़ पक्षी से है, जो प्राचीन भारत के अनेक राजवंशों द्वारा राजचिह्न के

१. अथर्ववेद ६।८७।१
२. "इमन्देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय।
महते ज्यैष्ठयाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्राय॥" यजुर्वेद ९।४०।
३. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दः भुवनेषु रूढः।"
४. "दशमी मुग्रः सुमना वशेह।"
अथर्व ३।४।७।
५. "श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मदनन्य क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगंत इमं सजाता अभिसंविशध्वम्" अथर्व ३।३।५।

रूप में प्रयुक्त होता था। इस मन्त्र में सम्भवतः एक ऐसे राजा का निर्देश किया गया है, जिसे या तो किसी अन्य जनपद द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया था, और या जो अपने राष्ट्र से निर्वासित कर दिया गया था। श्येन-रूपी राजचिह्न के साथ उसे पुनः अपने राष्ट्र में वापस लाया जाता है, और उसके सजात लोग पुनः उसे घेर लेते हैं। अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में यह कहा गया है—"तुझे हम फिर से बुलाते हैं, तू अपने पद पर विराजमान हो, प्रजा तुझे राजा बनाती है, तू श्रेष्ठ पुरुषों का पालन कर।"[1]

विशः या प्रजा जिस राजा का वरण करती थी, उससे वह कतिपय कर्तव्यों के पालन की आशा भी रखती थी। इन कर्तव्यों में सर्वप्रधान जनता को धन और वैभव का प्राप्त कराना था। प्राचीन जनपदों में भूमि आदि सम्पत्ति पर व्यक्तियों का स्वत्व न होकर सम्पूर्ण जन का सामूहिक स्वामित्त्व माना जाता था। भूमि, पशु आदि से जो आर्थिक उत्पादन होता था, उसे सब विशः में न्यायपूर्वक वितरण करना एक महत्त्व का कार्य था। यह कार्य राजा के नेतृत्व में ही सम्पन्न होता था। इसीलिए अथर्ववेद में राजा को 'धन सम्पत्ति का प्रदान करने वाला' और सुदृढ़ रूप से धन (वसु) का विभाजन करने वाला कहा गया है।[2] राजा के इस कर्तव्यपालन के बदले में प्रजा उसे बलि प्रदान करती थी। इसीलिये ऋग्वेद में राजा को बलि (कर) लेने का एकमात्र अधिकारी कहा गया है। "हम ध्रुव रूप राजा को ध्रुव हवियों द्वारा सन्तुष्ट करते हैं। राजा ही अकेला विशः से बलि प्राप्त करने का अधिकारी है।"[3] राजा प्रजा की रक्षा करता है, उसमें धन व आर्थिक पैदावार का विभाजन करता है, और उसके बदले में प्रजा उसे बलि (कर) प्रदान करती है। कर के रूप में पारिश्रमिक प्राप्त कर राजा प्रजा का दास्य स्वीकार करता है, बाद के नीति-ग्रन्थों का यह विचार वैदिक युग में भी विद्यमान था। इसी कारण अथर्ववेद में राजा को 'राष्ट्रभृत्य' की संज्ञा भी दी गई है।[4] राष्ट्र में राजा भृत्य है, और प्रजा स्वामी, यह विचार अथर्ववेद के इस मन्त्र में भी प्रगट किया गया है, कि राजा प्रजा या विशः का अनुचर (अनुचलन करने वाला) होकर रहता है।[5]

राजा का वरण विशः द्वारा किस ढंग से किया जाता था, इस सम्बन्ध में

---

१. "स त्वाय मह्वत स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः।"

अथर्व ३।४।६।

२. अथा मनो वसुदेयाय कृणुष्व।
ततो न उग्रो विभजा वसूनि।।" अथर्व ३।४।४

३. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि।
अथो न इन्द्रः केवलीर्विशः बलिहृतस्करत्।।" ऋग्वेद १०।१७३।६।

४. अथर्ववेद १६।३७।३।

५. स विशोऽनुव्यचलत्।।" अथर्ववेद १५।६।१।

कोई निर्देश वेदों में नहीं मिलते। रामायण आदि बाद के साहित्य से इस विषय पर भी प्रकाश पड़ता है, और उसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे। पर अथर्ववेद में 'राजानः राजकृतः' (राजा बनाने वाले राजाओं) का उल्लेख मिलता है, और धीवान्, रथकार, कर्मार, सूत व ग्रामणी को 'राजकृतः' कहा गया है। ग्रामणी जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत ग्रामों के मुखिया (मुख्य) को कहते थे, और धीवान्, रथकार, कर्मार व सूत विविध प्रकार के शिल्पियों की संज्ञा थी। वैदिक युग के समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का पृथक् वर्ग के रूप में विकास नहीं हुआ था। उस समय धार्मिक विधि-विधान व कर्मकाण्ड अत्यन्त सरल थे, और उनका अनुसरण कराने के लिये किसी पृथक् पुरोहित वर्ग की आवश्यकता नहीं थी। प्रत्येक आर्य योद्धा भी होता था, और युद्ध के समय शस्त्र धारण कर रणक्षेत्र में उतर आता था। पर फिर भी समाज में रथी या रथकार विशेष महत्त्व रखते थे। रथी, विविध प्रकार के शिल्पी और ग्रामणी लोग ही सम्भवतः 'राजकृतः' हुआ करते थे, और राजा के वरण का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया करते थे।

'राजकर्तारः राजानः' जब किसी व्यक्ति को राजा के पद के लिये वरण कर लेते थे, तो राजा के चिह्न के रूप में उसे वे एक 'मणि' प्रदान किया करते थे।[1] यह मणि सम्भवतः एक 'पर्ण' (पत्ते) के रूप में होती थी। राजशक्ति को सूचित करने के लिये राजा इस पर्ण-शाखा को धारण करता था। इसीलिये अथर्ववेद में राजा के मुख से यह प्रार्थना कहाई गई है—"हे पर्ण, ये धीवान्, रथकार और मनीषी कर्मार व मेरे चारों ओर उपस्थित सब जन मेरी सहायता करें। हे पर्ण, ये सूत, ग्रामणी व राजकृत राजा व मेरे चारों ओर उपस्थित सब जन मेरी सहायता करें।"[2] इस मन्त्र में पर्ण स्पष्ट रूप से एक ऐसा राजचिह्न है, जिसे संबोधन कर राजा राष्ट्र के प्रमुख पुरुषों व सर्वसाधारण जनों के सहयोग की प्रार्थना करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के राज्याभिषेक का जो वर्णन किया गया है, उसमें वैदिक साहित्य के इस निर्देश पर अधिक विस्तार से प्रकाश पड़ता है। वहाँ भी राजा की पीठ पर दण्ड द्वारा आघात कर उसे अपने कर्तव्यों का स्मरण कराया जाता है, और 'रत्नी' लोग उसे रत्नहवि प्रदान करते हैं। ये रत्नी लोग ही राजा को राजचिह्न का सूचक रत्न प्रदान किया करते थे, जिसे अथर्ववेद में पर्णमणि नाम से कहा गया है। वैदिक युग में राज्याभिषेक के समय राजा को व्याघ्र-चर्म पर बिठाया जाता था। 'अथर्ववेद' में लिखा है—"तू स्वयं व्याघ्र

---

१. अथर्ववेद १।२६।१-६

२. "ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अथर्व ३।५।६-७

है। इस व्याघ्रचर्म पर बैठकर सब दिशाओं में विक्रम कर। सब विशः तुझे चाहें।"[१] जब राजा राजसिंहासन पर आसीन हो जाता था, तो सब जलों से उसका अभिषेक किया जाता था। एक वैदिक मन्त्र के अनुसार "तुझे हम सब जलों के वर्चस से अभिषिक्त करते हैं।"[२] ये जल सम्भवतः जनपद या राष्ट्र की सब नदियों व जलाशयों से लिये जाते थे, जैसी प्रथा कि भारत में बाद में भी जारी रही। राज्याभिषेक के समय राजा से यह कहा जाता था, कि यह राज्य तुम्हें कृषि के लिये, क्षेम के लिये, समृद्धि के लिये और पुष्टि के लिये सौंपा गया है, तुम इसके यन्ता (संचालक), नियामक और ध्रुवरूप से धारणकर्ता हो।[३] राजा भी इस अवसर पर विशः के साथ एक ढंग का इकरार करता था, जिसके अनुसार वह स्वीकार करता था, कि यदि मैं विशः के प्रति द्रोह करूँ, तो मैं अपने जीवन, अपने सुकृत (पुण्य कर्म के फल), और अपनी सन्तान—सबसे वंचित किया जाऊँ।[४]

इस प्रकार विशः द्वारा वरण करके और उसके साथ एक निश्चित इकरार करके जो राजा राष्ट्र का शासन करता था, वह निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। उसकी स्थिति 'समानों में ज्येष्ठ' के सदृश होती थी, और इसी कारण वैदिक युग के इन राष्ट्रों के शासन को 'जानराज्य' (जन या जनता का राज्य) कहा जाता था।

(३) सभा और समिति

वैदिक युग के राष्ट्रों का शासन राजा अकेला नहीं करता था, अपितु उसकी सहायता के लिये सभा और समिति नाम की दो संस्थाओं की सत्ता भी थी। समिति सम्पूर्ण 'विशः' की संस्था थी। ग्रीस के प्राचीन नगर-राज्यों में से अनेक ऐसे थे, जिनके सब वयस्क नागरिक नगर-राज्य की 'समिति' में एकत्र होकर अपने राज्य के लिये कानून बनाते थे व राजकीय नीति का निर्धारण करते थे। एथन्स की 'एक्लीजिया' इसी प्रकार की संस्था थी। वैदिक युग की समिति भी एक इस प्रकार की संस्था थी, जिसमें सम्पूर्ण विशः (या उसके वयस्क नागरिक) एकत्र होते थे। यह भी सम्भव है, कि अनेक राष्ट्रों की समितियों में सब वयस्क नागरिक न सम्मिलित होते हों, और उनका एक विशिष्ट वर्ग (जिसे वैदिक साहित्य में 'राजानः राजकृतः' कहा गया है) ही उसमें शामिल होता हो। 'यजुर्वेद' का एक मन्त्र है—"जिसके पास ओषधियाँ

१. "व्याघ्रो अधिवैयाघ्रे विक्रमस्व दिशो महीः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।" अथर्व ४।८।४
२. "तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा।" अथर्व ४।८।५
३. "इयं ते राट्। यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥"
शतपथ ५।२।१।२५ यजुर्वेद के मन्त्र को उद्धृत करके।
४. ऐतरेय ब्राह्मण, ८।१५

उसी तरह से एकत्र होती हैं, जैसे कि समिति में 'राजानः', उसी विप्र को भिषक् कहते हैं।"[१] इस मन्त्र से यह निर्देश मिलता है, कि समिति में राजानः एकत्र होते थे। ये राजानः वही हैं, जिन्हें वेद में अन्यत्र 'राजानः राजकृतः' कहा गया है, अर्थात् वे राजा या राजन्य जो राजा को बनाते हैं।

अथर्ववेद के एक मन्त्र में राजा यह प्रार्थना करता है—"सभा और समिति प्रजापति की दुहिताएँ हैं, वे मेरी रक्षा करें। वे मुझे उत्तम शिक्षा (समुचित परामर्श) दें, संगत में एकत्र हुए 'पितर' लोग समुचित भाषण करें।"[२] इस मन्त्र से ये बातें निर्दिष्ट होती हैं—सभा और समिति नामक संस्थाएँ प्रजापति की दुहिताएँ हैं, उन्हें राजा ने नहीं बनाया, अपितु वे ईश्वरीय विधान की परिणाम हैं। वे राजा की रक्षा करती हैं, और उसे समुचित परामर्श देने का कार्य करती हैं। इनमें 'पितर' एकत्र होते हैं, जो इनमें समुचित रूप से भाषण देने का कार्य करते हैं। 'पितर' का अभिप्राय सम्भवतः उन व्यक्तियों से है, जिन्हें बाद के भारतीय साहित्य में 'वृद्ध' कहा गया है। वृद्धों का क्या अभिप्राय है, यह हम आगे चलकर पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' आदि के आधार पर स्पष्ट करेंगे। प्राचीन जनपदों में विविध कुलों के जो नेता शासन-कार्य में हाथ बटाया करते थे, उन्हीं को 'कुलवृद्ध' कहा जाता था। इसी प्रकार ग्राम के नेताओं की 'ग्रामवृद्ध' संज्ञा थी। इन्हीं वृद्धों को वैदिक साहित्य में 'पितर' नाम से कहा गया है।

सभा और समिति नामक संस्थाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर आया है। एक मन्त्र में कहा गया है—"सभा मेरी रक्षा करे, उसके जो सभ्य सभासद् हैं, वे मेरी रक्षा करें।"[३] अन्यत्र सभा, समिति और सेना का उल्लेख किया गया है।[४] एक मन्त्र में प्रार्थना की गई है, कि सभा के सब सभासद् 'सवाचस' हों।[५] उनकी वाणी एक हो, वे परस्पर विरोधी बातें न करके सवाचस होकर कार्य करें।

सभा और समिति नामक संस्थाओं के स्वरूप पर अथर्ववेद के एक सूक्त से बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। यह सूक्त इस प्रकार है—"निश्चय ही पहले 'विराट्' (अराजक या राज्यसंस्थाविहीन) दशा थी, इस दशा के उत्पन्न होने के कारण सब डरे कि क्या सदा यही दशा रहेगी। इस विराट् दशा में उत्क्रान्ति (परिवर्तन, विकास)

१. 'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षो हामीव चातनः॥" यजुर्वेद १२।८०

२. "सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥" अथर्व ७।१।६३

३. "सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।" अथर्व १६।५५।६

४. "तं सभा च समितिश्च सेना च।" अथर्व १५।६।२

५. ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः।" अथर्व ७।१।२

हुई, यह विराट् दशा गार्हपत्य दशा में उतरी। इस गार्हपत्य संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, और यह गार्हपत्य दशा 'आहवनीय' दशा के रूप में परिणत हुई। इस आहवनीय संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, जिससे 'दक्षिणाग्नि' की दशा आई। जो कोई यह जानता है, वह 'वसती' में निवास के योग्य होता है। इस दक्षिणाग्नि दशा में भी उत्क्रान्ति हुई, और सभा की दशा आई। जो कोई यह जानता है, वह सभा का सभ्य बनता है। सभा की इस दशा में भी उत्क्रान्ति हुई, और समिति की दशा आई। जो कोई यह जानता है, वह समिति का सामितेय बनता है। इस समिति दशा में भी उत्क्रान्ति हुई, और आमन्त्रण की दशा आई। जो यह जानता है, वह आमन्त्रण का आमन्त्रणीय बनता है।"[1]

अथर्ववेद के इस सूक्त में मानव-समाज और उसकी संस्थाओं के क्रमिक विकास का बड़े सुन्दर व स्पष्ट रूप से वर्णन है। पहले विराट् या अराजक दशा थी, जिससे सब लोग भयभीत व आशंकित हो गये। महाभारत में भी इसी विचार को प्रगट किया गया है। इस दशा में उत्क्रान्ति होकर सबसे पहले गार्हपत्य दशा आई। लोग परिवार के रूप में संगठित हुए। मानव-समाज का सबसे पहला संगठन 'परिवार' ही था, जिसमें पति, पत्नी व सन्तान एक संगठित व मर्यादित जीवन व्यतीत करते थे। गार्हपत्य व पारिवारिक संगठन में उत्क्रान्ति होकर 'आहवनीय' दशा आई। आहवनीय शब्द का अभिप्राय एक ऐसे संगठन से है, जिसमें बुलाया जाय, आह्वान किया जाए। सम्भवतः, यह ग्राम के संगठन को सूचित करता है, जिसमें विविध कुलों के कुलमुख्यों को आह्वान द्वारा एकत्र किया जाता था। आहवनीय संस्था के बाद 'दक्षिणाग्नि' संस्था का विकास हुआ। दक्षिण का अर्थ चतुर है, और अग्नि का अग्रणी। निरुक्त में अग्नि की निरुक्ति अग्रणी रूप से की गई है।[2] इस संस्था में सम्भवतः ग्राम के चतुर अग्रणी एकत्र होते थे। यह ग्राम की अपेक्षा अधिक बड़े संगठन को सूचित करता है, जो सम्भवतः जनपद या राष्ट्र का ऐसा संगठन था, जिसमें ग्रामों के योग्य नेता (ग्रामणी) एकत्र होते थे। इसके बाद सभा और समिति नामक संस्थाओं का विकास हुआ, जो राष्ट्र या जनपद की ही संस्थाएँ थीं। राष्ट्र का ही एक और अधिक बड़ा संगठन था, जिसे 'आमन्त्रण' कहते थे। आमन्त्रण शब्द ही इस बात को सूचित करता है, कि इसमें सम्मिलित होने के लिये बड़ी संख्या में लोगों को निमन्त्रित किया जाता था।

१. "विराड् वा इदमग्र आसीत्, तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति। सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्। सोदक्रमात् साहवनीये न्यक्रामत्। सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्। यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद। सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्। यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद। सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्। यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद। सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत्। यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद।" अथर्व ८।१०।१

२. निरुक्त, दैवत काण्ड, ७।४।

वेद के इस सूक्त का बहुत अधिक महत्त्व है। सम्भवतः, यह प्राचीनतम संदर्भ है, जिसमें कि राज्यसंस्था की उत्पत्ति और विकास पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। वर्तमान समय के विचारक भी मानव-समाज व राज्य के प्रादुर्भाव व विकास का प्रायः यही क्रम मानते हैं। सबसे पहले परिवार संगठित हुए, फिर ग्राम, जन और जनपदों का संगठन हुआ। दक्षिणाग्नि व आमन्त्रण जैसे शब्दों का क्या अभिप्राय है, यह भली भाँति स्पष्ट नहीं है। पर सभा और समिति स्पष्ट ही ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर आया है। अथर्ववेद में इन संस्थाओं को निर्दिष्ट करने वाले मन्त्र इसी प्रकरण में हमने ऊपर दिये हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यह कहा गया है कि "तुम अपने घर को भद्र बनाओ, तुम्हारी वाणी भद्र हो और तुम चिरकाल तक सभा में रहो।"[1] एक अन्य मन्त्र में ये शब्द आते हैं—"वह सदा सभा में जाता है।"[2] एक मन्त्र में 'सभेय विप्र' का उल्लेख है,[3] जिससे सूचित होता है कि सभा के सदस्यों को 'सभेय' कहा जाता था। जहाँ मनुष्य एकत्र हुए हों, ऐसे समूह को सभा नहीं कहते थे। वह एक सुसंगठित संस्था थी, जिसके सदस्य 'सभेय' कहाते थे। पर कभी-कभी सभा में आमोद-प्रमोद भी होता था, और लोग वहाँ जाकर जुआ आदि भी खेला करते थे। ऋग्वेद के एक एक मन्त्र में लिखा है—"जुआ खेलने वाले सभा में जाते हैं, यह समझते हुए कि हम ही विजयी होंगे। वहाँ उनके पासे बिखरे रहते हैं।[4] ऋग्वेद के समय के भारतीय राष्ट्रों व जनपदों में भी सभा नाम की संस्था भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, यह बात भरोसे के साथ कही जा सकती है।

सभा के समान समिति का भी 'ऋग्वेद' में अनेक स्थानों पर उल्लेख है। एक मन्त्र में राजा के समिति में शामिल होने के लिये जाने का निर्देश किया गया है।[5] सभा और समिति में क्या भेद था, यह वैदिक साहित्य से स्पष्ट नहीं होता। पर वैदिक मन्त्रों का अनुशीलन कर विद्वान् इस परिणाम पर पहुँचे हैं, कि समिति सभा की तुलना में एक बड़ी संस्था थी, और यह माना जाता था कि वह सम्पूर्ण विशः या प्रजा का प्रतिनिधित्व करती है। सम्भवतः, राष्ट्र के अन्तर्गत सब ग्रामों के ग्रामणी उसमें सम्मिलित होते थे, और साथ ही विशः के कतिपय प्रमुख व्यक्ति—सूत, रथकार व अन्य शिल्पी आदि—भी उसमें उपस्थित होते थे। राजा भी समिति में उपस्थित होता था। समिति के पति (अध्यक्ष) को ईशान कहते थे। सभा उसकी अपेक्षा छोटी संस्था थी, और उसमें कतिपय विशिष्ट व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। राष्ट्र के प्रधान न्यायालय

१. भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु।" ऋग्वेद ६।२८।६

२. सदा चन्द्रो याति सभामुप।"ऋग्वेद ८।४।९

३. "उताशिष्ठा अनुश्रृण्वन्ति वह्नयः सभेयो विप्रो भरते मती धना।" ऋग्वेद २।२४।१३

४. "सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।" ऋग्वेद १०।३४।६

५. परि सद्मेव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समितीरियानः।" ऋग्वेद ९।९२।६

का कार्य भी सभा द्वारा ही किया जाता था।

यह आवश्यक समझा जाता था, कि सभा और समिति के सदस्य परस्पर सहयोग से काम करें, उनके मन एक हों, उनकी वाणी एक हो, उनका विचार-विमर्श एक समान हो, और वे एक ही मन्त्र (नीति) का निर्धारण करें। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के ये मन्त्र सम्भवतः सभा और समिति के सदस्यों के लिये ही लिखे गये थे—"तुम एक साथ मिलकर एकत्र हो; तुम साथ मिलकर एक-सी बात कहो, तुम्हारे मन एक सदृश हों। पूर्वकाल के देवता लोग समान रूप से चिन्तन करते हुए जैसे बरतते रहे हैं। तुम्हारा मन्त्र एकसमान हो, तुम्हारी समिति एक समान हो, तुम्हारा मन और चित्त समान हो। तुम्हारे निर्णय समान रूप से हों, तुम्हारे हृदय एकमत हों, तुम्हारे मन एक समान हों, जिससे कि तुम प्रसन्नतापूर्वक एकमत होकर रह सको।"[1]

ये मन्त्र इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देते, कि वैदिक काल के राष्ट्रों में सब का एकमत होना बड़े महत्त्व की बात समझी जाती थी। सभा और समिति जैसी संस्थाओं में जो लोग सम्मिलित हों, यदि उनके मन, चित्त और हृदय एक न हों, वे परस्पर विरोधी बातें कहते हों, तो वे कभी किसी समुचित निर्णय पर नहीं पहुँच सकते। इसीलिये उनके लिये समान मन और समान विचार वाले होने की बात को इतना महत्त्व दिया गया है।

सभा और समिति नामक संस्थाओं में विविध विषयों पर विचार-विमर्श व वाद-विवाद हुआ करता था, और उनके सदस्य अच्छे वक्ता होकर दूसरों को अपने अनुकूल बनाने के लिये भी प्रयत्नशील रहा करते थे। इसीलिये अथर्ववेद में यह प्रार्थना की गई है—"यहाँ जो लोग उपस्थित हैं, मैं उनके तेज व ज्ञान को ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्र ! मुझे इस सम्पूर्ण संसद का नेता बनाओ। जो तुम्हारा मन किसी अन्य ओर गया हुआ है, या तुम्हारा मन जो किसी बात को पकड़ कर बैठ गया है, मैं तुम्हारे उस मन को वहाँ से हटाता हूँ, तुम्हारा मन मेरे अनुकूल हो जाए।"[2] इन मन्त्रों के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि वैदिक युग की सभा-

१. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥" ऋग्वेद १०।१९१।२-४

२. एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमाददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनंकृणु ॥
यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तदेव आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ अथर्व ७।१२।३-४

समितियों में विविध वक्ता अन्य सदस्यों को अपने अनुकूल करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे, और उनमें विविध विषयों पर विचार-विमर्ष द्वारा एकमत होने का यत्न किया जाता था। इसलिये राजा की ध्रुव रूप से सत्ता के लिये समिति का उसके अनुकूल होना आवश्यक माना जाता था,[१] और यह स्वीकार किया जाता था कि जो राजा स्वेच्छाचारी होने का यत्न करे, समिति भी उसके अनुकूल होकर नहीं रह सकती।[२]

सभा नामक संस्था में न्याय-सम्बन्धी कार्य विशेष रूप से होते थे, इस सम्बन्ध में भी कतिपय वैदिक मन्त्र उल्लेखनीय हैं। अथर्ववेद में सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है,[३] जिसकी व्याख्या सायणाचार्य ने इस प्रकार की है—"जहाँ बहुत-से एकत्र होकर एक बात कहें, उसका उल्लंघन दूसरों को नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह 'अनतिलंघ्य होती है, इसी कारण इसे 'नरिष्ट' कहते हैं।[४] सभा के नरिष्ट विशेषण से यह स्पष्ट है, कि इसके निर्णय का अतिक्रमण कर सकना कदापि सम्भव नहीं था। ऋग्वेद में सभा का एक विशेषण "किल्विष-स्पृत्" दिया गया है,[५] जिसका अर्थ है पाप या अपराध का परिमार्जन करने वाली। सभा में न्याय करते हुए उसके सभासदों द्वारा कदाचित् अन्याय या पाप हो जाने की सम्भावना भी बनी रहती थी, इसीलिए यजुर्वेद मन्त्र द्वारा 'सभा में किये गये पाप' से मुक्ति की प्रार्थना भी की गई है।[६]

वैदिक साहित्य के जो निर्देश हमने ऊपर दिये हैं, उनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वैदिक युग के राज्यों में सभा और समिति नामक संस्थाओं की सत्ता थी, जिनका राज्य के शासन में महत्त्वपूर्ण भाग होता था। समिति सम्पूर्ण विशः की संस्था थी, जो राजा का वरण करती थी, और जिसमें राजकीय विषयों पर जनता की सम्मति प्रकट की जाती थी। सभा में जहाँ न्याय कार्य होता था, वहाँ साथ ही उसमें एकत्र 'पितर' या कुलमुख्य राजा को महत्त्वपूर्ण विषयों पर परामर्श देने का भी कार्य किया करते थे।

१. "ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।" अथर्व ६।८८।३
२. "नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्।" अथर्व ५/१९/१५
३. "विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।" अथर्व ७/१२/२
४. "बहवः सम्भूय यद्येके वाक्यं वदेयुस्तद्धि न परैरतिलंध्यम् अतः अनतिलंध्यवाक्यत्वात नरिष्टेति नाम।"
५. ऋग्वेद १०/७१/१०
६. यजुर्वेद २०/१७

तीसरा ग्रध्याय

उत्तर-वैदिक युग की राज्य संस्थाएं

(१) विविध प्रकार के राज्यों का विकास

वैदिक युग में बहुत से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी, जिन्हें 'राष्ट्र' कहा जाता था। इनको 'जान-राज्य' भी कहते थे, क्योंकि इनका ग्राधार एक 'जन' होता था। एक जन के सब व्यक्ति प्रायः 'सजात' या 'सनाभि' होते थे। इन सब राष्ट्रों व जान-राज्यों में प्रायः ऐसे शासनों की सत्ता थी, जिनमें राजा का 'वरण' किया जाता था, ग्रौर राजा राष्ट्र की सभा ग्रौर समिति नामक संस्थाग्रों का ग्रनुगामी बन कर शासन-कार्य का संचालन किया करता था।

उत्तर वैदिक काल में विविध राष्ट्रों, जानराज्यों या जनपदों के पारस्परिक संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास शुरू हुग्रा। इन सब में एक ही प्रकार का शासन विद्यमान नहीं था। धीरे-धीरे ग्रनेक प्रकार की शासन पद्धतियां भारत के जनपदों में प्रचलित हुईं। ऐतरेय ब्राह्मण की ग्रष्टम पंजिका में एक संदर्भ है, जिसमें इस युग के विविध शासन-प्रकारों का परिगणन किया गया है। इस संदर्भ के ग्रनुसार प्राची दिशा के राज्यों (मगध, कलिङ्ग, वङ्ग ग्रादि) के जो राजा हैं, उनका 'साम्राज्य' के लिए ग्रभिषेक होता है, ग्रौर वे 'सम्राट्' कहाते हैं। दक्षिण दिशा में जो सत्वत (यादव) राज्य है, वहाँ का शासन 'भोज्य' है, ग्रौर उनके शासक 'भोज' कहे जाते हैं। प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर ग्रादि) का शासन-प्रकार 'स्वाराज्य' है, ग्रौर वहाँ के शासक 'स्वराट्' कहाते हैं। उत्तर दिशा में हिमालय के क्षेत्र में (उत्तरकुरु, उत्तरमद्र ग्रादि) जो राज्य हैं, वहाँ 'वैराज्य' प्रणाली है, ग्रौर वहाँ के शासक 'विराट्' कहते हैं। मध्यदेश (कुरु, पाञ्चाल ग्रादि) के राज्यों के शासक 'राजा' कहे जाते हैं।[1] इस प्रकार

---

[1] ,, ये केच प्राच्यानां दिशि प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते
ये के च सत्वतां राजानः भोज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ये के च नीच्यानां राजानः
स्वराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्त जनपदा उत्तरकुरव उत्तर
मद्रा इति वैराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च
कुरु पञ्चालानां राजानः राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते ,, ऐतरेय ८।३।३

ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पाँच प्रकार की शासन पद्धतियों का उल्लेख है। ये विविध प्रणालियाँ किस-किस क्षेत्र में प्रचलित थीं, इसका निर्देश भी ऐतरेय ब्राह्मण में कर दिया गया है। सम्राट् वे थे, जो वंशक्रमानुगत राजा होते हुए अपनी शक्ति के विस्तार के लिए अन्य राज्यों का मूलोच्छेद करने में तत्पर थे। महाभारत के समय का मागध राजा जरासंध इसी प्रकार का सम्राट् था। सम्भवतः, भौज्य उन राजाओं की संज्ञा थी, जो वंशक्रमानुगत न होकर कुछ निश्चित समय के लिए राजा के पद पर नियुक्त किये जाते थे। सात्वत-यादवों में यह प्रथा प्रचलित थी, और महाभारत से सूचित होता है, कि वासुदेव कृष्ण इसी प्रकार के भौज्य या संघ-मुख्य थे। 'स्वराट्' शासक वे थे, जिनकी स्थिति 'समानों में ज्येष्ठ' की होती थी। इन 'स्वाराज्यों' में कतिपय कुलीन श्रेणियों का शासन होता था, और सब शासक-कुलों की स्थिति एक समान मानी जाती थी। समानों में ज्येष्ठ व्यक्ति को ही 'स्वराट्' के पद पर नियत किया जाता था। सम्भवतः, वैराज्य जनपद वे थे, जहाँ जनता अपना शासन स्वयं करती थी, और जिनमें कोई राजा नहीं होता था। यह शब्द सम्भवतः गणतन्त्र जनपदों का परिचायक है। मध्य देश के कुरु, पञ्चाल आदि जनपद राज्य कहाते थे, और वहाँ प्राचीन वैदिक युग की परम्परागत शासन प्रणाली विद्यमान थी।

ऐतरेय ब्राह्मण के इस संदर्भ से यह सूचित होता है, कि भारत के प्राचीन जन-पदों में विविध प्रकार की शासनपद्धतियों का विकास जारी था, और उत्तर-वैदिक युग में अनेक प्रकार के शासनों का विकास हो गया था।

(२) राजा का राज्याभिषेक

ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा की राज्याभिषेक विधि का विशद रूप से वर्णन किया गया है, और इस वर्णन से उत्तर वैदिक युग के राजा व शासनपद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो 'राजसूय यज्ञ' का अनुष्ठान किया जाता था। राजसूय यज्ञ के बिना कोई व्यक्ति राजा के पद को प्राप्त नहीं कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—"राजा के लिए ही राजसूय है। राजसूय यज्ञ करने से ही वह राजा बनता है।"[१] जो व्यक्ति सम्राट् का पद प्राप्त करना चाहे, उसके लिए वाजपेय यज्ञ का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—"वाजपेय से सम्राट् बनता है। राज्य हीन है, साम्राज्य श्रेष्ठ है। राजा सम्राट् बनने की कामना करे।"[२]

राजा के लिए जिस राजसूय यज्ञ का विधान किया गया है, वह उसके राज्या-भिषेक को ही सूचित करता है। इस यज्ञ में सबसे पूर्व विधि के साथ अग्नि का आधान कर अग्निहोत्र यज्ञ किया जाता था। उसके अनन्तर राजा के पद पर अधिष्ठित होने

१. ,, राज्ञ एव राजसूयं। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।" शतपथ ५।१।१।१२
२. ,, सम्राट् वाजपेयेन अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्।" शतपथ ५।१।१।१३

वाला व्यक्ति 'रत्नियों' को हवि प्रदान करता था। वैदिक युग में कतिपय व्यक्ति 'राजानः राजकृतः' होते थे, जो राजा को राज-चिह्न के रूप में पर्णमणि प्रदान किया करते थे। उत्तर-वैदिक युग में इनका स्थान 'रत्नियों' ने ले लिया था। ये रत्नी निम्न-लिखित होते थे—(१) सेनानी—सेना का प्रधान अधिकारी या सेनापति। (२) पुरोहित—जिसे तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'ब्राह्मण' नाम से कहा गया है। (३) अभिषिक्त होने वाला राजा स्वयं। (४) महिषी या राजमहिषी। (५) सूत। (६) ग्रामणी। (७) क्षत्रिय या क्षत्ता। (८) संगृहीता। (९) भागदुघ्। (१०) अक्षवाप। (११) गोवि-कर्ता। (१२) पालागल।[1]

इन बारह रत्नियों में से कतिपय के अभिप्राय को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। सूत राजा और राज्य-विषयक इतिवृत्त का संकलन करते थे। पुराणों में जो प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है, वह पुराने काल के सूतों के कर्तृत्व का ही परिणाम है। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी 'सूत' नामक राजकर्मचारियों का उल्लेख है, जिन्हें एक हजार कार्षापण वेतन देने की व्यवस्था की गई है।[2] ग्रामणी ग्राम के 'मुख्य' को कहते थे। जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत जो विविध ग्राम थे, उनके मुख्यों की ही 'ग्रामणी' संज्ञा थी। ये ग्रामणी प्रायः सर्वसाधारण जनता (विशः) के ही व्यक्ति होते थे। इसी कारण शतपथ ब्राह्मण में इन्हें 'वैश्य' भी कहा गया है।[3] उत्तर-वैदिक काल में जाति या वर्ण का भेद विकसित होना शुरू हो चुका था। सर्वसाधारण 'विशः' से ब्राह्मण (याज्ञिक व धार्मिक अनुष्ठान कराने के विशेषज्ञ) और क्षत्रिय कर्म पृथक् होने लग गये थे। राज्याभिषेक के समय राजा जहाँ ब्राह्मण (पुरोहित) और क्षत्रिय को हवि प्रदान करता था, वहाँ सर्वसाधारण 'विशः' के प्रतिनिधिरूप से वैश्य ग्राम-णियों को भी उस द्वारा हवि दी जाती थी। क्षत्रिय या क्षत्ता उस वर्ग को सूचित करता है, जो सैनिक कार्य में निपुणता के कारण सर्वसाधारण 'विशः' से पृथक् हो गया था। राज्य-कोश के नियन्ता को 'संगृहीता' कहते थे। इसके लिए कौटलीय अर्थशास्त्र में 'सन्निधाता' शब्द का प्रयोग किया गया है।[4] राज्यकर को वसूल करने वाले प्रधान राज-पदाधिकारी को 'भागदुघ्' कहते थे। आय-व्यय का हिसाब रखने वाले प्रधान अधि-

---

१. हवि प्रदान के सम्बन्ध में विविध रत्नियों के लिए जो वाक्य शतपथ ब्राह्मण में हैं, वे इस ढंग से हैं—"सेनान्यो गृहान् परेत्याग्नयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति। अग्निर्वै देवतानामनीकं सेनाया वै सेनानीरनीकं तस्मादग्नयेऽनीकवतेऽथैतद्ध्यस्यैक रत्नं यत्सेनानीस्तस्मा एवैतेन सूयते तं स्वमनपक्रमिणं कुरुते तस्य हिरण्यं दक्षिणाग्नेयो वाऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा।" शतपथ ५।२।५।१

२. कौटलीय अर्थशास्त्र २।५

३. "ग्रामण्यो गृहान् परेत्य मारुतं सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति विशो वै मरुता वैश्यो वै ग्रामणी स्तस्मान् मारुतो भवति।" शतपथ ५।२।५।६

४. कौटलीय अर्थशास्त्र २।५

कारी की संज्ञा 'अक्षवाप' थी। कौटल्य ने इसी को 'अक्षपटलाध्यक्ष' कहा है।[1] जंगल विभाग के प्रधान अधिकारी को 'गोविकर्ता' कहते थे, जिसका एक मुख्य कार्य खेती को नुकसान पहुँचाने वाले जंगली पशुओं का विनाश कराना भी माना जाता था। पालागल का कार्य राजकीय संदेशों को पहुँचाना होता था। मैत्रायणी संहिता में इसी के स्थान पर तक्षा या रथकार को रत्नियों में गिना गया है।[2] पालगल, तक्षा व रथकार ऐसे वर्ग को सूचित करते हैं, जो श्रम या शिल्प के साथ सम्बन्ध रखता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पालागल लाल रंग की पगड़ी पहनता था, और वह धनुष, बाण और चर्म (ढाल) को धारण करता था।[3] इसमें सन्देह नहीं, कि ये बारह रत्नी जहाँ प्राचीन राज्यों के उच्च वर्ग (पुरोहित, राजमहिषी, क्षत्रिय, संगृहीता आदि) का प्रतिनिधित्व करते थे, वहाँ साथ ही सर्वसाधारण जनता (वैश्य, पालागल आदि) को भी इनमें प्रतिनिधित्व प्राप्त था। रत्नियों में राजमहिषी का उल्लेख भी महत्व का है। प्राचीन धार्मिक मर्यादा के अनुसार पत्नी के अभाव में किसी धार्मिक कृत्य का सम्पादक नहीं हो सकता था। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी को पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहा गया है। उसके बिना मनुष्य आधा रहता है। पत्नी के कारण ही कोई व्यक्ति 'सर्व' (पूरा) बनता है।[4] क्योंकि राजा स्वयं भी राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग होता था, अतः उसे भी रत्नियों के अन्तर्गत किया गया है। रत्नियों को हवि प्रदान करते समय राजा उनके घर पर जाता था, और उनके प्रति अपने कर्तव्यों व वशवर्तिता को प्रदर्शित करने के लिये विविध प्रकार की हवि उन्हें प्रदान करता था। सेनानी को दी जाने वाली हवि हिरण्य (सुवर्ण) के रूप में होती थी, पुरोहित को गौके रूप में, राजमहिषी को भी धेनु (गौ) के रूप में, सूत को यव (जौ) से बने हुए भोजन के रूप में, ग्रामणी को भी गौ के रूप में, क्षत्ता को बैल (अनड्वान्) के रूप में, भागदुघ् को काली गाय के रूप में, संगृहीता को दो गौओं के रूप में, अक्षावाप को भी गाय के रूप में, गोविकर्तृ को भी गौ के रूप में, और पालागल को लाल पगड़ी व धनुष बाण के रूप हवि दी जाया करती थी।[5] ये हवियाँ भी 'रत्नियों' के अनुरूप ही थीं। हवि में प्रधानतया गौवों को प्रदान किया जाता था, जो उस युग में सम्पत्ति का प्रधान रूप था।

हवि प्रदान द्वारा रत्नियों की पूजा करते समय उनको कहा जाता था—"हम तुम्हारे लिए ही अभिषिक्त होते हैं, और तुम्हें अपना अनुगामी (अनुपक्रमी) बनाते

१ कौटलीय आर्थशास्त्र २।७
२. मैत्रायणी संहिता २।६।५
३. ,, उदग्रवेष्टितं धनुश्चर्ममया बाणवन्तो लोहित उष्णीष एतदुहि तस्य भवति।" शतपथ ५।२।५।११
४. ,, यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वोहि तावद्भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति।" शतपथ ५।२।१।१०
५. शतपथ ब्राह्मण, ५।३।१।१-१३

हैं ।[१] रत्नियों को हवि प्रदान करने का अभिप्राय यही था, कि राष्ट्र के विविध अंगों की अनुमति प्राप्त कर ली जाए, और उन्हें अपना अनुगामी व सहायक बना लिया जाए ।

रत्नियों को हवि प्रदान करने के अनन्तर राजसूय यज्ञ के जो विविध अनुष्ठान किये जाते थे, शतपथ ब्राह्मण में उनका बड़े विस्तार के साथ वर्णन है । रत्नियों के बाद देवताओं को बलि देने का विधान किया गया है । जिस व्यक्ति को राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता है, उसमें अनेकविध दैवी गुणों का होना आवश्यक है । सत्य की प्रसूति के लिए सविता को, गार्हपत्य गुणों के लिए अग्नि को, वनस्पतियों की वृद्धि के लिए सोम को, वाक् शक्ति के लिए बृहस्पति को, सबमें श्रेष्ठ (बड़े) होकर रह सकने की योग्यता के लिए इन्द्र को, गोधन व अन्य पशुओं की रक्षा के सामर्थ्य के लिए पशुपति रुद्र को, सत्य के लिए मित्र को, और धर्मपति बनने के लिए वरुण को बलि दी जाती थी ।[२] यह बलि भी यव और व्रीहि आदि अन्नों द्वारा ही तैयार की जाती थी । ऐसा माना जाता था, कि सविता आदि देवताओं को सन्तुष्ट करके राजा सत्य आदि गुणों को प्राप्त करता है, और इन दैवी गुणों के अनुरूप शासन कर सकने में समर्थ होता है ।

रत्नियों और देवताओं का बलि द्वारा सत्कार करने के अनन्तर जलों द्वारा राजा का अभिषेक किया जाता था । ये जल सरस्वती आदि नदियों,[३] ह्रदों(जलाशयों),[४] कुओं,[५] और समुद्र व वर्षा के जल[६] आदि से ग्रहण किये जाते थे । दूध,[७] घी[८] आदि जो अन्य द्रव पदार्थ हैं, उन्हें भी राजा के अभिषेक के लिए प्रयुक्त किया जाता था । कुल सोलह प्रकार के जल व द्रव अभिषेक के लिए प्रयुक्त होते थे । अभिषिक्त होता हुआ राजा कहता था—'मैं 'जन' का भरण करने वाला हो सकूं, इसलिए राष्ट्र को देने वाले जलो, मुझे राष्ट्र प्रदान करो ।"[९] इस पर यह कह कर कि "यह जन का धारण करने वाला हो सके, अतः राष्ट्र को देने वाले जल इसे राष्ट्र प्रदान करें,"[१०] राजा का

१. "तस्माऽएवैतेन सूयते तं स्वमनपक्रामिणं कुरुते।" शतपथ ५।३।१।१ आदि
२. शतपथ ब्राह्मण, ५।३।३।२-६ ।
३. "स सारस्वतीरेव प्रथमा गृह्णाति ।" शतपथ ५।३।४।३
४. "अथ यः स्यन्दमानानां स्थावरो ह्रदो भवति ।" शतपथ ५।३।४।१२
५. अथ कूप्या गृह्णाति ।" शतपथ ५।३।४।१५
६. "अथ नदीपतिं गृह्णाति ।" शतपथ ५।३।४।१० और
"अथ या आतपन्ति वर्षन्ति ता गृह्णाति ।" ५।३।४।१३
७. "अथ पयो गृह्णाति ।" शतपथ ५।३।४।१६
८. "अथ घृतं गृह्णाति" ५।३।४।२० और
"अथ मधु गृह्णाति" ५।३।४।१७
९ "जनभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा ।" शतपथ ५।३।४।१६
१०. "जनभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति ।" शतपथ ५।३।४।१६ आदि

अभिषेक किया जाता था। यह बात महत्त्व की है, कि राजा के अभिषेक के लिए जो जल एकत्र किये जाते थे, वे सरस्वती आदि विविध नदियों व समुद्र के साथ-साथ राष्ट्र के कुओं और जलाशयों से भी लिए जाते थे। सरस्वती सदृश नदियों को भारत के सभी राष्ट्र पवित्र मानते थे। धार्मिक व सांस्कृतिक दृष्टि से यह देश एक है, यह विचार इस प्राचीन काल में भी विकसित हो गया था। पर अपनी भूमि के प्रति विशेष भक्ति के कारण वहाँ के कुओं और जलाशयों व वर्षा का जल लेना भी आवश्यक था। इससे अपनी भूमि के प्रति विशिष्ट भक्ति की सूचना मिलती है।

सबसे पूर्व राजा का अभिषेक प्रजाजनों द्वारा किया जाता था।[1] जब प्रजाजन जल छिड़ककर राजा की अभिषेक कर चुकते थे, तो वह मित्रावरुण देवताओं की वेदी के सम्मुख रखी हुई शार्दूल की खाल पर बैठ जाता था।[2] वैदिक युग में राजा का अभिषेक व्याघ्र की खाल पर होता था, यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। व्याघ्र को ही शतपथ ब्राह्मण में शार्दूल कहा गया है। राजा के शार्दूल चर्म पर आसीन हो जाने के अनन्तर ब्राह्मण[3], 'स्व' (राजा के अपने कुल का कोई व्यक्ति,[4]) राजन्य[5] और वैश्य[6] द्वारा उसका क्रमशः अभिषेक किया जाता था। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है, कि राजा का अभिषेक करने वाले व्यक्तियों में शूद्रों का परिगणन नहीं किया गया है। या तो इस युग के आर्य राष्ट्रों में शूद्रों का पृथक् वर्ग विकसित ही नहीं हुआ था, या उनकी संख्या अभी अगण्य थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'स्व' के स्थान पर 'जन्य' का उल्लेख किया गया है,[7] जो सम्भवतः राजा के स्वकीय कुल का ही परिचायक है।

अभिषेक के अनन्तर राजा को वस्त्र दिये जाते थे, और वह उष्णीष (पगड़ी) आदि विविध वस्त्रों को धारण करता था।[8] वस्त्रों को धारण कर चुकने पर राजा को धनुष व तीन बाण प्रदान किये जाते थे, जो उसकी क्षात्र शक्ति के परिचायक थे।[9] धनुष के

१. "तं वै माध्यन्दिने सवनेऽभिषिञ्चन्ति। एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता एतम्वेवाप्येतह्यनु प्रजायन्ते तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति।" शतपथ ५।३।५।१

२. "अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम्। शार्दूलचर्मोपस्तृणाति ''शार्दूलत्विषमेवास्मिन् एतद्दधाति।" शतपथ ५।३।५।३

३. "तेन ब्राह्मणोऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।३।५।११

४. "तेन स्वोऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।३।५।१२

५. "तेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।१।५।१३

६. "तेन वैश्योऽभिषिञ्चति।" शतपथ ५।३।५।१४

७. तैत्तिरीय १।७।८

८. "अथैनं वासांसि परिधापयति ''अथाधिवासं प्रतिमुञ्चति '''अथोष्णीषं संहृत्य।" शतपथ ५।३।५।२०-२३

९. अथ धनुरधितनोति।'''अथास्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति। स यथा प्रथमया समर्पणेन पराभिनक्ति सैका

साथ उसे जो तीन बाण भी दिये जाते थे, उनका प्रयोजन पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः-तीनों लोकों के क्षेत्र में रक्षा कर सकने के कर्तव्य का स्मरण कराना था।

राजा के राज्याभिषेक की यही विधि थी। जब यह विधि पूर्ण हो चुकती थी, तो घोषणा द्वारा सबको राजा के अभिषेक की सूचना दी जाती थी। यह घोषणा गृहपति अग्नि, वृद्धश्रवा इन्द्र, मित्रावरुणौ देवता, विश्ववेदा पूषा, द्यावापृथिवी और अदिति आदि अन्य देवताओं को सम्बोधित करके की जाती थी।[1] यह माना जाता था, कि इन सब की अनुमति राज्याभिषेक के लिए प्राप्त है। शतपथ ब्राह्मण ने इस बात को स्पष्ट किया है, कि इन देवताओं में अग्नि ब्राह्मणों का, इन्द्र क्षत्रियों का और पूषा पशुओं का सूचक है। द्यावापृथिवी में राष्ट्र के अन्य सब वर्गों का समावेश हो जाता है।

अभिषेक की घोषणा के अनन्तर अभिषिक्त राजा को कुछ शपथें लेनी होती थीं। एक शपथ में वह कहता था—"जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उसके बीच में (सम्पूर्ण जीवन-काल में) जो भी इष्टापूर्त (शुभ कर्म) मैंने किये हों, वे सब नष्ट हो जाएँ, और मैं अपने सब सुकृतों, आयु और पूजा में वञ्चित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से आपके विरुद्ध द्रोह करूं।"[2] यह शपथ राजा को अत्यन्त श्रद्धा के साथ लेनी होती थी। राज्य में चाहे किसी भी प्रकार की शासन-प्रणाली हो, राज्य-शासन का प्रकार साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, परमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, सामन्तपर्यायी व सार्वभौम आदि में से चाहे किसी भी ढंग का हो, पर शासन की शक्ति जिस भी व्यक्ति के हाथों में दी जाती थी, उसे यही शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी।[3] क्योंकि सब प्रकार के शासकों के कर्तव्य एक-से ही समझे जाते थे, अतः सबके लिए इसी शपथ को ग्रहण करना आवश्यक था। यह शपथ राजा या शासक को सदा अपनी स्थिति का स्मरण कराती रहती थी।

शपथ को ग्रहण करने के अनन्तर राजा को चारों दिशाओं में आरोहण करने के लिए कहा जाता था। क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की ओर

सेयं पृथिवी सैषा दृका नामाथ यया विद्धः शयित्वा जीवति वा म्रियते वा सा द्वितीया तदिदमन्तरिक्षं'''सा तृतीया सौ द्यौः सैषा क्षमा नामैता हि वै तिस्र इषवस्तस्मादस्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति।" शतपथ ५।३।५।२७-२९

१. शतपथ ५।३।५।३१-३७

२. "(एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा अभिषिञ्चेत् स ब्रूयात् सह श्रद्धया) यां च रात्रीमजायेहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथाः यदि ते द्रुह्येमिति।" ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५

३. "स य इच्छेदेवं वित्क्षत्रियमयं सर्वा जितीर्जयेतायं सर्वांल्लोकान्विन्देतायं सर्वेषां राज्ञां श्रेष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेत साम्राज्यं भौज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यं समंतपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष आन्ता ऽदापरार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यंताया एकराडिति तमेतेन ऐन्द्रेण महाभिषेकेण शापयित्वाऽभिषिञ्चेत्।" ऐतरेय ८।१५

मुख करके वह इन दिशाओं द्वारा रक्षित होने का आशीर्वाद प्राप्त करता था। पूर्व दिशा से उसे ब्रह्म-द्रविण, दक्षिण दिशा से क्षत्र-द्रविण, पश्चिम दिशा से विड्-द्रविण, (सर्वसाधारण विशः के धन) और उत्तर दिशा से फल-द्रविण (सम्भवतः, शूद्र-द्रविण) के रक्षित होने का आश्वासन प्राप्त होता था।[1] इस किया का अभिप्राय सम्भवतः यह था, कि चारों दिशाओं वाले राज्य-क्षेत्र से समाज के चारों वर्गों की धनसम्पत्ति की रक्षा करने की व्यवस्था हो।

इसके बाद राजा का एक ऐसे सुवर्ण पत्र (रुक्म) द्वारा अभिषेक किया जाता था, जिसमें सौ छेद होते थे। ये सौ छेद्र सौ साल की आयु के परिचायक थे।[2] इस समय यजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था, जिनका अर्थ यह है—"मैं तुझे सोम के द्युम्न से, अग्नि के तेज से, सूर्य के वर्चस् से और इन्द्र के बल से अभिषिञ्चित करता हूँ। तू क्षत्रपतियों के क्षत्र का पालन करने वाला हो। महान् क्षत्रबल के लिए इसे सब देवता असपत्न (जिनका कोई शत्रु न हो) करें। अमुक पुरुष और अमुक स्त्री के इस पुत्र को और अमुक प्रजा के इस स्वामी को तुम क्षात्रधर्म के लिये, महान् ज्यैष्ठ्य (सर्वोपरिता) के लिए, महान् जानराज्य के लिए और इन्द्र के बल के लिए योग्य बनाओ। यह हम सबका सौम्य राजा है, यह ब्राह्मणों का राजा है।[3] सौ छिद्र वाले सुवर्णपत्र द्वारा अभिषेक करता हुआ ब्राह्मण पुरोहित अभिषिक्त व्यक्ति को सम्पूर्ण 'विशः' के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ग के राजा के रूप में भी स्वीकार करता था।

अभिषेक के अनन्तर राजा को लकड़ी की चौकी (आसन्दी) पर बिठाया जाता है। यह चौकी गूलर (उदुम्बर) की लकड़ी की बनाई जाती थी। राजा के चौकी पर बैठ जाने पर उसे कहा जाता था- तू यन्ता (संचालक) और यमन (नियामक) है, तू इस पद पर ध्रुव है, तू इस पद का धारण करने वाला है। तुझे यह राज्य कृषि के लिये, क्षेम के लिये, धन समृद्धि के लिये, पोषण के लिये और सब प्रकार की सुख सम्पन्नता के लिये दिया जाता है।"[4] ये वाक्य यजुर्वेद के एक मन्त्र के अनुसार कहे

१. अथैनं दिशः समारोहयति। प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरंसाम त्रिवृत्सोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम्। दक्षिणामारोह···ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् प्रतीचीमारोह···वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम्। उदीचीमारोह···शरद् ऋतुः फलं द्रविणम्।" शतपथ ५।३।५।३-६।

२. "अथ रुक्मः शतवितृणो वा भवति···शतवितृणो शतायुर्वाऽअयं पुरुषः शततेजाः शतवीर्यस्तस्मात् शतवितृणो।" शतपथ ५।३।५।१३।

३. "सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा इन्द्रस्येन्द्रियेण। क्षत्राणां क्षत्रपतेरेधाति॥ इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय, महते ज्यैष्ठ्याय, महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इम ममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा॥" शतपथ ५।४।२।२।

४. "अथास्माऽ आसन्दी मारोहति···औदम्बरी भवति।···इयं ते राड् इति। राज्यमेवास्मिन् एतद्दधाति अथैनमासादयति यन्तासि यमन इति···ध्रुवोऽसि धरुण इति···कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा इति साधवे त्वा।" शतपथ ५।२।१।२२-२५।

जाते थे ।[1]

इसके बाद राजा औदुम्बर से नीचे उतरता था, और उसे वराह (सुअर) के चमड़े के जूते पहनाये जाते थे ।[2] फिर वह चार घोड़ों के रथ पर चढ़कर कुछ दूर तक जाता था ।[3] रथ द्वारा यात्रा करके वह फिर यज्ञस्थल पर वापस लौटता था, और उसे पुनः काष्ठ की आसन्दी पर बिठा दिया जाता था । आसन्दी पर बिठाते हुए उसे कहा जाता था—"अब तू 'धृतव्रत' (व्रत को जिसने ग्रहण कर लिया) है । पाँचों दिशाएँ व सम्पूर्ण 'विशः' इसकी सहायक हों ।"[4] यह कहकर राजा की पीठ पर एक दण्ड से धीरे-धीरे आघात किये जाते थे । यह आघात इस प्रयोजन से किया जाता था,[5] कि राजा को स्मरण रहे कि वह भी दण्ड के अधीन है । शतपथ ब्राह्मण में इस क्रिया की व्याख्या करते हुए लिखा है, कि दण्ड के आघात द्वारा राजा को मृत्युदण्ड से ऊपर उठा दिया जाता है । अब उसे दण्डवध (मृत्युदण्ड) नहीं दिया जा सकता ।[6]

ये सब कृत्य हो जाने के अनन्तर राज्य की जनता के विविध वर्ग राजा को 'स्फ्य' (तलवार) प्रदान करते हैं । यहाँ 'स्फ्य' अधीनता व भक्ति का (Allegience) परिचायक है । जब राजा के अभिषेक के सब कृत्य सम्पन्न हो जाएँ, तो यह सर्वथा स्वाभाविक व उचित है, कि जनता के विविध वर्ग उसके प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करे । यह कार्य इस क्रम से किया जाता है—"ब्राह्मण (अध्वर्यु व पुरोहित), राजभ्राता, सूत, स्थपति, ग्रामणी व अन्य सजात लोग ।[7] इस कृत्य में जो मन्त्र प्रयुक्त होता था, वह बड़े महत्त्व का है । 'विविध वर्गों की भक्ति एक ऐसा वज्र है, जो राजाको जो स्वयं (व्यक्तिगत रूप से) बलविहीन होता है, बलवान बना देता है ।"[8] इस उक्ति को जनता के विविध वर्गों द्वारा प्रदर्शित करते हुए दोहराया गया है । वस्तुतः, अकेला राजा स्वयं बलहीन होता है, राज्य की उत्तरदायिता वह अकेला नहीं निभा सकता । पर जब जनता के विविध वर्गों की भक्ति व सहयोग उसे प्राप्त हो जाते हैं, तो वह शत्रुओं के मुकाबले में बलवान बन जाता है और राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों को भली भाँति

१. यजुर्वेद १०।५।१७-१८ ।

२. "अथ वाराह्या उपनहावुपमुच्यते ।" शतपथ ५।४।३।१९ ।

३. "तं सरथमेव रथवाहन आदधति ।" शतपथ ५।४।३।२३ ।

४. निषसाद धृतव्रत इति धृतव्रतो राजा...अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामित्येष वाऽअयानभि भूयस्कलिरेष हि सर्वानयानभिभवति ।" शतपथ ५।४।४।६ ।

५. अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति ।" शतपथ ५।४।४।७ ।

६. "तं दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजा दण्डयो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति ।" शतपथ ५।४।४।७ ।

७. शतपथ ब्राह्मण ५।४।४।१५-२०

८ "स एतेन वज्रेण ब्राह्मणो राजानमात्मनोऽबलीयांसं कुरुते यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयान् अमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति तदमित्रेभ्य एवैतमेतद् बलीयांसं करोति ।" शतपथ ५।४।४।१५ ।

सम्पन्न करने को योग्य हो जाता है।

इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित एक अन्य मन्त्र ध्यान देने योग्य हैं। जब किसी व्यक्ति को राजसूय यज्ञ द्वारा राजा बना दिया जाता है, तो उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि "जिसका अभिषेक हो गया है, वह अब महान् बन गया है। पृथ्वी उससे भय खाती है। पर वह भी भय खाता है, कि कहीं पृथ्वी उसे पथभ्रष्ट करके उसका अनादर न कर दे। इसलिये वह पृथ्वी के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके रहता है, क्योंकि न माता पुत्र की हिंसा करती है और न पुत्र माता की।"[1] वस्तुतः पृथ्वी (जिसका अभिप्राय यहाँ पृथ्वी व राष्ट्र में निवास करने वाली जनता से है) राजा की माता है और राजा उसका पुत्र है। जनता ही किसी व्यक्ति को राजा बनाती है, इसी कारण उसे पृथ्वी का पुत्र कहा गया है। राजा यह प्रार्थना भी करता है—"हे पृथ्वी, तू मेरी माता है। न तू मेरी हिंसा कर और न मैं तेरी हिंसा करूँ।"[2]

राज्याभिषेक (राजसूय यज्ञ) की विधि का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में बहुत विस्तार के साथ किया गया है। हमने यहाँ उसके कतिपय महत्त्वपूर्ण कृत्यों का ही उल्लेख किया है। इसके अनुशीलन से उत्तर-वैदिक युग की राज्यसंस्था पर बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। इससे हमें निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

(१) वैदिक युग में राजा के वरण की जो परिपाटी थी, वह उत्तर-वैदिक काल में भी विद्यमान थी। इस काल में भी राजा का वरण किया जाता था। यह आवश्यक नहीं था कि पहले राजा का पुत्र ही राजा के पद पर अभिषिक्त हो। पर यह स्वाभाविक था कि राजा का पद एक वंश में ही स्थिर रहे, अतः इस युग में यह प्रवृत्ति अवश्य प्रारम्भ हो गई थी कि राजा के बाद उसके पुत्र को ही राजा बनाया जाए।[3] विशेषतया, ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन राज्यों को साम्राज्य, राज्य आदि संज्ञाओं से कहा गया है, उनमें यदि राजा के पद को वंशानुक्रमानुगत होने की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी हो, तो यह स्वाभाविक ही है। पर वैराज्य, स्वाराज्य आदि प्रकार के जनपदों में राजा की नियुक्ति अब भी 'वरण' द्वारा ही की जाती थी। वंशक्रमानुगत राजतन्त्र राज्यों में भी राजा के वरण किये जाने की परिपाटी का अनुसरण किया जाता था।

(२) राजा को दैवी नहीं माना जाता था। राज्य व उसके राजा को एक मानव संस्था मानने का भाव अब भी विद्यमान था। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देवताओं से यह प्रार्थना अवश्य की जाती थी कि वे राजा के पद पर नियुक्त हुए व्यक्ति में अपने-

१. "वरुणसवो वाऽएष यद्राजसूयम्। पृथिव्यु हैनस्माद्बिभेति महद्वाऽयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै मायं नावदृणीयादित्येष उ हास्यै बिभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयं कुरुते न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरम्।" शतपथ ५।४।३।२१।

२. पृथिवि मातर्मा हिंसीर्माऽहं त्वाम् इति।" शतपथ ५।४।३।२०।

३. 'राजानं राजपितरम्।' ऐतरेय ८।१२।

अपने विशिष्ट दैवी गुणों का निधान करें, पर इनके कारण राजा को दैवी समझने की प्रवृत्ति अभी विकसित नहीं हुई थी।

(३) राजा जनता द्वारा राजपद पर अभिषिक्त होता था, और राजकीय पद को प्राप्त करते हुए विश: या प्रजा से एक इकरार (पण) करता था, जिसके अनुसार वह प्रजापालन व अपने राजकीय कर्तव्यों को निभाने की प्रतिज्ञा करता था। इसीलिए वह जनता से बलि का ग्रहण करता था। राजा जो जनता से कर वसूल करता है, इसका कारण यही है कि उसके जनता के प्रति कतिपय कर्तव्य भी हैं, यह विचार इस युग में भी विद्यमान था।

(४) यदि राजा जनता पर अत्याचार कर सकता था, तो जनता भी उसके विरुद्ध द्रोह कर सकती थी। राष्ट्र और राजा का सम्बन्ध माता और पुत्र के समान है, उन्हें एक-दूसरे की हिंसा नहीं करनी चाहिए, यह विचार दोनों को ही समुचित मर्यादा में रखता था।

(५) रत्नियों के रूप में इस युग में भी 'राजकृत:' या 'राजकर्तार:' की सत्ता थी, जिनके द्वारा राजा राजशक्ति को प्राप्त करता था। इन रत्नियों में जनता के विविध वर्ग व महत्त्वपूर्ण राजपदाधिकारी अन्तर्गत होते थे।

(६) इस युग का राजा स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं हो सकता था। यद्यपि उसे मृत्युदण्ड नहीं दिया जा सकता था, पर वह दण्ड से ऊपर न होकर उसके अधीन होता था। इसी कारण अभिषेक के समय दण्ड द्वारा उसकी पीठ पर तीन बार आघात भी किया जाता था। प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह भी कर सकती थी और इस प्रकार उसे पदच्युत कर सकना भी जनता की शक्ति में था।

(७) उत्तर-वैदिक युग में राजा भी एक पद था। इस पद को प्राप्त कर राजा अन्य पदाधिकारियों व जनता के सहयोग व सहायता से शासन का संचालन करता था।

पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उत्तर-वैदिक युग के राजा की शक्ति वैदिक काल के राजा की तुलना में अवश्य अधिक थी। इस युग में जो 'रत्नी' राजा का वरण करते थे, उनमें कतिपय ऐसे भी थे, जिनका सम्बन्ध राजा के अपने परिवार के साथ होता था, और या जो राज्य के महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होते थे। वैदिक युग के 'राजकृत:' स्वयं राजा की स्थिति रखते थे और राजा उनमें 'समानों में ज्येष्ठ' के समान होता था। पर उत्तर-वैदिक युग के बारह रत्नियों में एक राजा स्वयं होता था, एक उसकी महिषी थी और सेनानी, सूत, संगृहीता, अक्षवाप, भागदुघ्, गोविकर्ता आदि राज्य के पदाधिकारी थे। इस युग के 'रत्नी' सर्वसाधारण 'विश:' के उस ढंग से प्रतिनिधि नहीं थे, जैसे कि वैदिक युग के 'राजकृत:' या 'राजकर्तार:'। पंचविंश ब्राह्मण में आठ ऐसे वीरों का उल्लेख किया गया है, जो राज्य में प्रधान स्थान रखते हैं। ये वीर निम्नलिखित हैं—राजभ्राता, राजपुत्र, पुरो-

हित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता और संगृहीता।[1] इन वीरों में केवल ग्रामणी ही ऐसा है, जो जनता का प्रतिनिधित्व करता है। राजभ्राता, राजपुत्र और राजमहिषी का राज-परिवार से सम्बन्ध है और पुरोहित, सूत, क्षत्ता व संगृहीता राज्य के प्रधान पदाधिकारी हैं। इस दशा में यह अस्वाभाविक नहीं था, कि कतिपय राज्यों में सब शासन-शक्ति राजा में ही केन्द्रित हो जाए और वह राज्य में सर्वोच्च सत्ता प्राप्त कर ले। पंचविंश ब्राह्मण में द्विरात्र यज्ञ का उल्लेख है, जिसका अनुष्ठान करके चैत्ररथ-वंश के कापेय ने 'एक: क्षत्रपति:' का पद प्राप्त कर लिया था और वह अकेला ही अन्नादि सब सम्पत्ति का एकमात्र अध्यक्ष बन गया था।"[2]

उत्तर-वैदिक युग में याज्ञिक कर्मकाण्ड का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। शतपथ ब्राह्मण में राजसूय का जो वर्णन किया गया है, वह एक ऐसे यज्ञ के रूप में है, जिसमें राजा न केवल जनता के विविध वर्गों की सहायता की अपेक्षा रखता है, अपितु साथ ही विविध देवताओं के साहाय्य की भी प्रार्थना करता है। क्योंकि देवताओं के साथ सम्पर्क के लिए पुरोहितों की सहायता आवश्यक थी, अत: स्वभाविक रूप से इस युग के राज्यों में पुरोहित की महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार यदि राजा पुरोहित के बिना यज्ञ करे, तो देवता उस द्वारा दिये गए अन्न का भक्षण नहीं करते, अत: राजा के लिए आवश्यक है कि वह ब्राह्मण को पुरोहित नियुक्त करे।[3] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जिस राजा का राष्ट्र का गोप्ता ब्राह्मण पुरोहित हो, वही क्षत्रियों के बल से विजय प्राप्त कर सकता है, उसी को शक्ति प्राप्त होती है और सर्वसाधारण विश: भी उसी को एकमन होकर स्वीकार करती हैं।[4] ब्राह्मण पुरोहित के इस महत्त्व का कारण सम्भवत: यही था कि याज्ञिक कर्मकाण्ड के अत्यन्त जटिल हो जाने से इस काल में एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी का विकास हो गया था, जो धार्मिक अनुष्ठानों के रहस्य को समझती थी और जिसकी सहायता द्वारा ही देवताओं का आशीर्वाद व सहयोग प्राप्त किया जा सकता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि राज्य के शासन में ब्राह्मण पुरोहितों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाए और उन्हें न केवल राष्ट्र का गोप्ता माना जाने लगे, अपितु विश: की भक्ति प्राप्त कर सकना भी उन्हीं पर निर्भर हो जाए। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक निर्देश मिलते

१. अष्टौ वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति, राजभ्राता च राजपुत्रश्च पुरोहितश्च महिषी च सूतश्च ग्रामणी च क्षत्ता च संग्रहीता चैते वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति।" पंचविंश, १९।१।४

२. "एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयंस्तमेकाकिनमन्नाद्यस्याध्यक्षमकुर्वन्। तस्माच्चैत्ररथीनामेक: क्षत्रपतिर्जायते नुलग्व इव द्वितीय:।" पंचविंश, २०।१२।५

३. "न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति तस्मादयक्ष्यमाणो राजा ब्राह्मणं पुरोदधीत।" तैत्तिरीय २।७।१

४. यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोप: पुरोहित: क्षत्रेण क्षत्रं जयति बलेन बलमश्नुते यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणो राष्ट्रगोप: पुरोहित: तस्मै विश: संजानते संमुखा एकमनसो।" ऐतरेय ८।२५

हैं, जबकि ब्राह्मणों के विरोध के कारण राजाओं को अपने राजसिंहासनों से हाथ धोना पड़ा। राजा परीक्षित ने ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार किया, जिसके कारण उसे अपनी राजगद्दी छोड़नी पड़ी। इसी प्रकार राजा शृंजय को, जिसके पुरखा दस सन्तति से राज-सिंहासन पर आरूढ़ थे, राज-सिंहासन का परित्याग कर देने को विवश किया गया। महाभारत में भी ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। ब्राह्मण पुरोहितों के इस उत्कर्ष का सूत्रपात उत्तर-वैदिक युग में अवश्य हो गया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण प्रधानतया कुरु पञ्चाल जनपदों में हुआ था, और इनके राजा इन ग्रन्थों में प्रतिपादित याज्ञिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान अवश्य ही करते थे। उनमें ब्राह्मण पुरोहित वर्ग का प्रभाव भी अवश्य बहुत अधिक था। पर इस युग के सब जनपदों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में लिखा जा चुका है, इस काल के विविध जनपदों में विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों का विकास हो रहा था। प्राच्य भारत के जनपदों (मगध, अङ्ग, बँग आदि) के राजा सम्राट् कहाने लगे थे और उत्तर दिशा के राज्यों में ऐसी शासन-पद्धति विकसित हो रही थी, जिसे 'वैराज्य' कहा जाता था। यह स्पष्ट है कि इस अध्याय के इस प्रकरण में राजा के जिस अभिषेक का हमने विवरण किया है, वह प्रधानतया मध्य देश के कुरु पञ्चाल आदि उन्हीं जनपदों में प्रयुक्त होता था, जिन्हें शतपथ ब्राह्मण में 'राज्य' कहा गया है, और जिनकी शासन-पद्धति साम्राज्य, वैराज्य, भोज्य, स्वाराज्य आदि प्रकार के शासनों से भिन्न प्रकार की थी।

(३) उत्तर-वैदिक युग के विविध जनपद और सार्वभौम शासक

वैदिक काल में भारतीय आर्यों का प्रधान केन्द्र सप्तसैन्धव देश था। पर उत्तर-वैदिक युग में आर्य लोग निरन्तर पूर्व की ओर बढ़ते गए और उन्होंने सुदूर पूर्व में मगध, अङ्ग, बंग आदि अनेक जनपदों की स्थापना की। इस युग में आर्यों का प्रधान केन्द्र सप्तसैन्धव देश के स्थान पर मध्य देश बन गया, जिसके मुख्य जनपद कुरु, पञ्चाल, कोशल, काशी, मत्स्य और उशीनर थे। इनमें भी कुरु जनपद सर्व-प्रधान था, जिसमें भरत वंश का शासन था। मध्य देश के कुरु और पञ्चाल जनपद आर्य संस्कृति, धर्म और सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे। ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण इन्हीं जनपदों में हुआ था, और इनके विद्वान् ब्राह्मणों की सारे आर्य जनपदों में प्रतिष्ठा थी। इनमें ही उन विविध याज्ञिक अनुष्ठानों का विकास हुआ था, जिनका राज्याभिषेक के लिये भी उपयोग किया जाता था। महाभारत की कथा का सम्बन्ध विशेषतया इन्हीं जनपदों के साथ है। मध्य देश का कोशल जनपद भी बहुत महत्त्व का था, जिसमें सूर्य वंश के ऐक्ष्वाकव राजाओं का शासन था। रामायण की कथा इसी कोशल जनपद के साथ सम्बन्ध रखती है। मध्यदेश के इन राजाओं का राज्या-

भिषेक ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित राजसूय विधि से ही होता था। इनके राजा जनता द्वारा वरण किये जाते थे, और अपने जनपद के कुलमुख्यों, ग्रामणियों व सूत, पुरोहित आदि राज-पदाधिकारियों के परामर्श के अनुसार ही शासन करते थे। मध्य-देश के ये राजा पड़ोस के अन्य जनपदों को जीतकर अपनी सार्वभौम सत्ता को स्थापित करने के लिये भी प्रयत्नशील रहते थे। पर अन्य जनपदों का ये मूलोच्छेद करना आर्य मर्यादा के विपरीत मानते थे। ये उनसे अधीनता स्वीकृत करा लेना ही पर्याप्त समझते थे। इसके लिये ये अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। यज्ञीय अश्व को विविध आभूषणों द्वारा विभूषित करके ये खुला छोड़ देते थे। अश्व के साथ-साथ सेना चलती थी। यदि कोई राजा इस अश्व की गति को रोकने का प्रयत्न करता, तो सेना युद्ध द्वारा उसे परास्त करती। जब यज्ञीय अश्व सब दिशाओं में परिभ्रमण कर वापस लौट आता, तो ऐन्द्र-महाभिषेक द्वारा विजयी राजा सार्वभौम व चक्रवर्ती पद को प्राप्त करता। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरु, पञ्चाल, कोशल और मत्स्य के अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख किया गया है, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ और ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा सार्वभौम पद को प्राप्त किया था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार कुरु के राजा जनमेजय, शतानीक सत्रजित्, यधांश्रौष्टि और दौष्यन्ति भरत ने तथा पञ्चाल के राजा पैजवन सुदास और दुर्मुख ने ऐन्द्र महाभिषेक द्वारा सार्वभौम पद की प्राप्ति की थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार परीक्षित के वंशज जनमेजय, भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन तथा दौष्यन्ति भरत व शतानीक सत्रजित् कुरु के ऐसे राजा थे, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर सार्वभौम पद को प्राप्त किया था। कुरु के राजाओं के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में पञ्चाल (यथा क्रैव्य और सत्रासाह), मत्स्य (यथा द्वैतवन ध्वसन) और कोशल (यथा पर आट् नार और पुरुकुत्स) के भी अनेक राजाओं का उल्लेख है, जो अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर सार्वभौम पद को प्राप्त कर सकने में समर्थ हुए थे। शांख्यायन श्रौत सूत्र, महाभारत और पुराणों आदि में भी मध्य देश के जनपदों के अनेक ऐसे राजाओं का वर्णन है, जो कि अश्वमेध यज्ञ द्वारा सार्वभौम पद को प्राप्त कर सके थे। पर अन्य जनपदों से अपनी अधीनता स्वीकृत करा लेने पर भी मध्य-देश के ये राजा सम्राट् नहीं कहाते थे, इनकी संज्ञा राजा ही रहती थी, यद्यपि ये सार्वभौम पद को प्राप्त कर लेते थे।

सम्राट् पद की प्राप्ति का प्रयत्न मगध, अङ्ग, बंग सदृश प्राच्य राजाओं द्वारा ही किया जाता था, जो अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकृत कराके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, अपितु उनका मूलोच्छेद करके अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये तत्पर रहते थे। महाभारत के समय में जरासन्ध इसी प्रकार का सम्राट् था, जिसने बहुत-से राजाओं का मूलोच्छेद करके अपने जनपद (मगध) का एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। बाद में मगध जो प्रायः सम्पूर्ण भारत में अपना साम्राज्य

विस्तृत करने में सफल हुआ, उसकी प्रवृत्ति उत्तर-वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो गई थी। मध्य देश और प्राच्य भारत के अतिरिक्त दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के अनेक जनपदों का उल्लेख भी ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है, जिनमें शूरसेन, चेदि, सात्वत, केकय, मद्र, गान्धार, विदर्भ आदि महत्त्व के हैं। इनकी शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी कतिपय निर्देश ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनका उल्लेख इस अध्याय के प्रारम्भ में किया जा चुका है, पर वैराज्य, भोज्य व स्वाराज्य के रूप में इनके शासन प्रकारों का जो निर्देश किया गया है, उसका सही-सही अभिप्राय ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट नहीं होता, यद्यपि यह कल्पना कर सकना कठिन नहीं है कि वैराज्य ऐसे जनपदों को सूचित करता है, जिनमें किसी राजा का शासन न हो।

चौथा अध्याय

रामायण और महाभारत का काल

(१) कोशल राज्य की शासन-पद्धति

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से भारत के प्राचीन राष्ट्रों या जनपदों की शासन-पद्धति के विषय में कतिपय निर्देश अवश्य मिलते हैं, पर इस साहित्य के प्रधानतया धर्म व कर्मकाण्डपरक होने के कारण इस सम्बन्ध में हमें अधिक परिचय प्राप्त नहीं होता। पर रामायण और महाभारत में भारत की जो पुरातन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है, वह भारत के प्राचीन राज्यों की शासन-पद्धति पर अच्छा प्रकाश डालती है। रामायण में इक्ष्वाकु वंश के राजा रामचन्द्र का वृत्तान्त बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इक्ष्वाकुवंश का शासन कोशल जनपद में था, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। कोशल कोई विशाल राज्य नहीं था। उसका स्वरूप एक नगर-राज्य या जनपद का ही था। जब राम को वनवास दिया गया, तो वे अयोध्या से चलकर एक रात अपने राज्य की सीमा में ही ठहरे। अयोध्या के बहुत से पुरवासी भी उनके साथ-साथ गये थे। रात को उन्हें सोता छोड़कर रामचन्द्र बहुत सवेरे चल पड़े, और अगले दिन कोशल राज्य की दक्षिण सीमा स्यन्दिका नदी को पार कर गये।[1] इस प्रकार स्पष्ट है, कि कोशल राज्य का क्षेत्रफल बहुत कम था, और उसके पड़ोस में ही अन्य अनेक राज्यों की सत्ता थी।

रामायण के अध्ययन से कोशल के शासन पर जो प्रकाश पड़ता है, उससे भारत के प्राचीन राज्यों की शासन-पद्धति को भली भाँति समझा जा सकता है। कोशल में ऐक्ष्वाकव वंश का शासन था, और इसी वंश के व्यक्ति वंशक्रमानुगत रूप से वहाँ के राजसिंहासन पर आरूढ़ होते थे।[2] जब राम के पिता दशरथ वृद्ध हो गये, तो उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को 'युवराज' के पद पर अभिषिक्त करने का विचार किया। पर यह कार्य वह स्वयं अपनी इच्छा से नहीं कर सकते थे। भारत की पुरानी परिपाटी के अनुसार युवराज व राजा के पद पर अभिषिक्त होने के लिए 'विशः' या

१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ३२।

२. 'विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम्।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम्॥ वाल्मीकि, अयोध्याकाण्ड, २।४

जनता की स्वीकृति की आवश्यकता थी। विशः द्वारा वरण किये जाने पर ही कोई व्यक्ति राजा के पद को प्राप्त कर सकता था। अतः दशरथ ने कोशल की परिषद् का अधिवेशन बुलाया। सबसे पूर्व उन्होंने अपने सचिवों (मन्त्रियों) के साथ परामर्श किया। जब वे राजा के प्रस्ताव से सहमत हो गये, तो परिषद् का अधिवेशन बुलाया गया। जब राजा दशरथ परिषद् के भवन में अपने आसन पर बैठ गये, तो 'लोकसम्मत राजाओं' ने परिषद् के भवन में प्रवेश किया, और अपने-अपने आसनों को ग्रहण किया।[1] वाल्मीकि की रामायण में परिषद् के सदस्यों को 'लोकसम्मत राजानः' कहा गया है, जो वैदिक युग के 'राजकृतः राजानः' का स्मरण दिलाता है। परिषद् के सदस्य जहाँ स्वयं 'राजा' व 'नृप' कहाते थे, वहाँ साथ ही वे लोकसम्मत (विशः द्वारा अभिमत) भी थे। परिषद् के ये सदस्य कौन-कौन थे, इस सम्बन्ध में भी रामायण में स्पष्ट निर्देश विद्यमान हैं। वहाँ लिखा है—"धर्म और अर्थ को भली भाँति समझने वाले राजा के अभिप्राय को भली भाँति समझकर ब्राह्मणों, बलमुख्यों (सेना के सेनानियों) और पौर-जनपदों ने विचार करना प्रारम्भ किया। भली भाँति विचार-विमर्श करके वृद्ध राजा दशरथ से इस प्रकार कहा।"[2] इस संदर्भ से स्पष्ट है कि जिस परिषद् के सम्मुख दशरथ ने राम को युवराज बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया था, उसके सदस्य निम्नलिखित थे—ब्राह्मण, प्रमुख सेनापति और पौर व जानपद। पौर व जानपद का क्या अभिप्राय है, इस विषय पर हम आगे चलकर विशद रूप से विचार करेंगे। यहाँ यह जान लेना पर्याप्त है कि युवराज व राजा बनने के लिए 'लोकसम्मत राजाओं' द्वारा वरण व स्वीकृत किया जाना रामायण के काल में भी आवश्यक था। दशरथ के प्रस्ताव से परिषद् के सब सदस्यों ने सहमति प्रकट की, और घोष द्वारा उसका अनुमोदन किया।[3] परिषद् के सदस्यों ने राजा दशरथ के प्रस्ताव पर अपनी सहमति इन शब्दों द्वारा प्रकट की—"हे पार्थिव, आप अब वृद्ध हो गये हैं। अब आप पार्थिव राम

१. "अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन्पर पुरादने।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसंमताः॥
अथ राजवितर्णेषु विविधेश्वासनेषु च।
राजान मेवाभिमुखाः निषेदुर्नियता नृपाः॥ अ० का० १।४६-४७।

२. "तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौर जानपदैः सह॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागत बुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्॥ अ० का० २।१९-२०।

३. "इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन्नृपाः नृपम्॥
वृष्टिमन्तं महामेघं नदन्त इव बर्हिणः।
स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः॥
जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव॥ अ० का०, सर्ग २।

को युवराज पद पर अभिषिक्त कीजिये। हम चाहते हैं कि महाबल, महाबाहु रघुवीर को राजछत्र द्वारा सिर को ढांपे हुए व महान् गज पर सवार होकर निकलते हुए देखें।"[1] परिषद् के इस वचन को सुनकर राजा ने प्रश्न किया—"हे राजाओ (राजानः), आपने जो मेरी बात को सुनकर राम को 'पति' (स्वामी) बनाने की इच्छा प्रकट की है, उसके सम्बन्ध में मुझे यह संशय है कि जब मैं धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन कर रहा हूँ, तो आप किसलिए राम को युवराज पद पर देखना चाहते हैं?"[2] इस पर पौर जानपदों के सहित (परिषद्) के महात्माओं[3] (प्रमुख व्यक्तियों) ने राज्य के गुणों का विस्तार से वर्णन किया, और यह बताया कि "राष्ट्र और पुर (राजधानी) के सब जन राम के बल, आरोग्य और आयु की कामना करते हैं। राजधानी में निवास करने वाले 'आभ्यन्तर' पौर और बाहर रहने वाले जानपद जन सबकी यही इच्छा है।"[4] परिषद् के सदस्यों ने अपने हाथों की अञ्जलि फैलाकर अपने मत को प्रकट किया,[5] और उन्हें देखकर राजा दशरथ ने कहा—"जो आप मेरे ज्येष्ठ पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं इससे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।"[6] इसके अनन्तर दशरथ ने एक शुभ दिन राम को युवराज के रूप में अभिषिक्त करने के लिए प्रस्तावित किया, जिसका परिषद् के सदस्यों ने जयघोष के साथ अनुमोदन किया।

वाल्मीकि रामायण के इस विवरण से कोशल राज्य के शासन के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें सूचित होती हैं—(१) यद्यपि कोशल में ऐक्ष्वाकव वंश का वंशक्रमानुगत शासन विद्यमान था, पर किसी व्यक्ति के युवराज व राजा के पद पर नियुक्त होने से पूर्व परिषद् में एकत्र हुए 'लोकसम्मत राजाओं' से इसके लिए अनुमति व स्वीकृति लेनी आवश्यक थी। (२) कोशल में एक परिषद् की सत्ता थी, जिसमें पौर, जान-

१. ,, अनेक वर्ष साहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
स रामं युवराजानं अभिषिञ्चस्व पार्थिवम्॥
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रवृताननम्॥ रामा० अयोध्या० २।२१-२२।

२. ,, श्रुत्वैतद्वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ।
राजानः संशयोऽयं मे तमिदं ब्रूत तत्त्वतः॥
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम्॥ रामा० अयोध्या० २।२४-२५।

३. ,, तं तमूचुः महात्मानः पौरजानपदैः सह। रामा० अयोध्या० २।२६।

४. ,, आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।
आभ्यन्तरश्चबाह्यश्च पौरजानपदो जनः॥ रामा० अयोध्या० २। ५०-५१।

५. ,, रामायण, अयोध्या काण्ड, ३।१।

६. ,, अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यायमिच्छथ॥" रामा० अयोध्या० ३।२।

पद, सेनानी और ब्राह्मण एकत्र होते थे। ये राज्य के प्रमुख व्यक्ति होते थे, और ये जनता का प्रतिनिधित्व भी करते थे। इसी कारण इन्हें 'लोकसम्मत' भी कहा जाता था। परिषद् के इन सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती थी, यह कह सकना कठिन है। सम्भवतः, जनपद के अन्तर्गत विविध ग्रामों के ग्रामणी और पुरसभा के सदस्य (जिन्हें क्रमशः जानपद और पौर कहा जाता था) प्रमुख ब्राह्मणों और सेनानायकों के साथ मिलकर राज्य की परिषद् का निर्माण करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में उस राजा को उत्तम बताया गया है, जिसकी परिषद् 'अक्षुद्र' हो, और जो 'वृद्धदर्शी' (वृद्धों या पुर व जनपद के प्रमुख पुरुषों द्वारा राजकीय विषयों का अवलोकन करने वाला) हो। इसमें सन्देह नहीं, कि कोशल-जैसे राज्यों में उत्तर-वैदिक काल में ऐसी परिषदों की सत्ता थी।

रामायण के काल में राजा की क्या स्थिति थी, इस विषय पर अयोध्या काण्ड के एक अन्य संदर्भ से भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। कैकेयी द्वारा जब राम को वनवास देने की व्यवस्था की गई, तो कोशल राज्य के वृद्ध प्रधानमन्त्री सिद्धार्थ ने उसे समझाते हुए यह कहा—"राजा सगर के एक पुत्र था, जिसका नाम असमञ्जस था। वह मार्ग पर खेलते हुए बच्चों को पकड़कर सरयू नदी में फेंक देता था, और इससे वह दुर्मति बहुत खुश होता था। इस बात को देखकर नागर लोग बहुत क्रुद्ध हुए, और उन्होंने राजा से कहा—हे राष्ट्रवर्धन, या तो आप अकेले असमञ्जस को लेकर रहिये और या हम सबको रखिये। राजा ने पूछा—तुम्हें किस कारण यह भय उत्पन्न हो गया है? नागरों ने उत्तर दिया—असमञ्जस हमारे खेलते हुए अबोध बच्चों को सरयू में फेंककर परम प्रसन्नता अनुभव करता है। जनता के इस वचन को सुनकर राजा ने जनता का प्रिय बने रहने की इच्छा से अपने पुत्र का परित्याग कर दिया, और उसे जीवन पर्यन्त देशनिकाले का दण्ड दिया।"[1] रामायण की इस कथा से भी इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राजा प्रजा का प्रिय बना रहने के प्रयोजन से अपने पुत्र को बहिष्कृत करने में भी संकोच नहीं करता था। क्योंकि जनता में प्रिय होने की इच्छा से राजा सगर ने अपने पुत्र असमञ्जस को देशनिकाला दे दिया था, अतः सगर की मृत्यु के बाद यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि राजा के पद पर किसे नियुक्त किया जाए। रामायण के अनुसार सगर के बाद जनता ने सुधार्मिक अंशुमन्त का राजा के पद के

१. ,, असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान्। सरय्वां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥
तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन्। असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान्वा राष्ट्रवर्धन ॥
तानुवाच ततो राजा किन्निमित्तमिदं भयम्। ताश्चापि राज्ञा संपृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥
क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान् बालान् उद्भ्रान्तचेतसः। सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥
स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः। तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया ॥
रामा० अयोध्या० ३७।१५-१९।

लिए वरण किया।[1] इससे स्पष्ट है, कि राजा को चुनना या वरण करना जनता के अधिकार-क्षेत्र में था।

कैकेयी के षड्यन्त्र से जब राम वनवास के लिए चले गये, और पुत्र-शोक में राजा दशरथ की मृत्यु हो गई, तो कोशल जनपद के सम्मुख यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अब राजा के पद पर किसे नियुक्त किया जाए। रामायण में लिखा है कि रात बीत जाने पर जब सूर्य का उदय हुआ, तो सब 'राजकर्तारः' सभा में एकत्र हुए।[2] राजपुरोहित वसिष्ठ भी इस सभा में उपस्थित थे। उन्हें संबोधन करके राजकर्ताओं ने कहा—"महाराज (दशरथ) अब स्वर्ग में हैं, और राम जंगल में निवास के लिए चले गये हैं। लक्ष्मण भी राम के साथ वन में चले गये हैं। भरत और शत्रुघ्न केकय की राजधानी राजगृह में अपने नाना के घर गये हुए हैं। हमें आज ही इस इक्ष्वाकु राज्य में किसी को राजा के पद पर नियुक्त कर देना चाहिए, क्योंकि अराजक राष्ट्र का विनाश निश्चित है। राजा से विहीन (अराजक) राष्ट्र में न पुत्र पिता के वश में रहता है, और न पत्नी पति के। ऐसे राष्ट्र में धन भी नहीं रह पाता, और न पति-पत्नी सम्बन्ध स्थिर रह सकता है। ऐसे अराजक जनपद में न सभाएँ होती हैं, न धनवानों के पास धन रहता है और न कृषि गोरक्षा व वाणिज्य सम्भव है। अराजक जनपद में कोई किसी का नहीं रह पाता। जिस प्रकार मछली मछली को खा जाती है, वैसे ही मनुष्य मनुष्य को खाने लगते हैं। राजा के बिना हमारा राष्ट्र जंगल के समान हो रहा है, अतः आप ऐसी व्यवस्था कीजिये, जिससे कि इक्ष्वाकुवंश का कोई कुमार या कोई अन्य व्यक्ति राजा के पद पर अभिषिक्त हो जाए।"[3] रामायण के इस

---

१. ,, काल धर्मं गते राम सगरे प्रकृतो जनाः।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम्॥"

२. "व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः॥" रामा० अयोध्या० ४३।२।

३. "स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह॥६॥
उभौ भरत शत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामह निवेशने॥७॥
इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्॥८॥
नाराजके पितुः पुत्रा भार्या वा वर्तते वशे॥१०॥
अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके॥११॥
नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः॥१२॥
नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषि गोरक्ष जीविनः॥१८॥

संदर्भ में जहाँ अराजक दशा का भयंकर वर्णन किया गया है, वहाँ साथ ही इससे यह भी सूचित होता है कि रामायण के युग में सभा में एकत्र हुए 'राजकर्तारः' को ही यह अधिकार था कि वे राजवंश के या किसी भी अन्य व्यक्ति को राजा के पद पर नियुक्त कर सकें। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है, कि रामायण की कथा के अनुसार जब राम का वनवास के लिए जाना निश्चित हो गया, तो राजपुरोहित वसिष्ठ ने यह प्रस्ताव भी पेश किया था, कि राम के वनवास के लिये जाने पर उनकी पत्नी सीता को कोशल के राजसिंहासन पर बिठाया जाए, क्योंकि पत्नी पति की अर्द्धाङ्गिनी होती है, और उसकी अनुपस्थिति में वह पति के कार्यों को सम्पादित कर सकती है।[४] पर जब सीता ने राम के साथ वन में निवास करने का निश्चय कर लिया, तभी वसिष्ठ की सम्मति के अनुसार भरत को केकय देश से वापस बुलाने के लिए दूत भेजने का निश्चय कोशल की सभा द्वारा किया गया। राजा और सभा की स्थिति के सम्बन्ध में रामायण के ये निर्देश बहुत महत्त्व के हैं, जिनसे सूचित होता है कि वैदिक और उत्तर-वैदिक युग की परम्पराएँ रामायण के काल में भी भारत के मध्यदेश के जनपदों में विद्यमान थीं।

(२) महाभारत युग के विविध राज्य

रामायण के समान महाभारत भी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिसमें भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है। यद्यपि इस विशाल ग्रन्थ में प्रधानतया कुरु जनपद के कौरवों और पाण्डवों का इतिवृत्त दिया गया है, पर प्रसंगवश अन्य राज्यों व उनके राजाओं का वृत्तान्त भी इसमें संकलित है। महाभारत के काल में भारत में बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता थी। इसीलिए कौरवों और पाण्डवों का पक्ष लेकर भारत के बहुत-से राजा कुरुक्षेत्र के मैदान में एकत्र हुए थे। महाभारत में इन सब के नाम दिये गए हैं। जिन राज्यों के राजा या शासक पाण्डवों का पक्ष लेकर अपनी सेनाओं के साथ कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिए एकत्र हुए थे, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ॥२२॥
नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥३१॥
स नः समादय द्विजवयवृत्तं नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्।
कुमारमिक्ष्वाकु सुतं तथाऽन्यं त्वमेव राजानमिहाभिषेचय ॥३८॥

रामा० अयोध्या०, सर्ग ४३।

४. "अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ॥
आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसग्रह वर्तिणाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥"

(१) मध्यदेश से—पञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कारूष, दशार्ण, काशी, पूर्वी कोशल और पश्चिमी मगध।

(२) पश्चिम से—भोज, अन्धक, वृष्णि, सात्वत, माधव, दशार्ह, आहुक, कुकुर और यादव।

(३) उत्तर-पश्चिम से—केकय और अभिसार।

(४) दक्षिण से—पाण्डय, चोल, केरल और काञ्ची।

कौरवों का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल होने वाले प्रमुख राज्य निम्नलिखित थे—

(१) पूर्व से—पूर्वी मगध, विदेह, प्राग्ज्योतिष (असम), अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, आन्ध्र, मेकल और उत्कल।

(२) मध्यदेश से—शूरसेन, वत्स और कोशल।

(३) पश्चिम से—सिन्धु-सौवीर, शाल्व, मालव, क्षुद्रक और अन्धक।

(४) पश्चिम-उत्तर से—पञ्चनद, गान्धार, त्रिगर्त, मद्र, कम्बोज, केकय, वाल्हीक, अम्बष्ठ, शिवि, खश, किरात, पुलिन्द और हंसपाद।

(५) मध्य भारत से—यादव, अवन्ति, महिष्मक, विदर्भ, निषध और कुन्तल।

(६) दक्षिण से—आन्ध्रक और कुक्कुर।

ऊपर जिन राज्यों या जनपदों के नाम दिये गए हैं, उनके अतिरिक्त भी अनेक राज्यों व जातियों के नाम महाभारत में मिलते हैं, जो कौरवों या पाण्डवों में से किसी एक का पक्ष लेकर कुरुक्षेत्र के युद्ध में शामिल हुए थे। इनमें अश्वातक, चिच्छिल, चूलिक, रेचक व विकुञ्ज उल्लेखनीय हैं। इन सब राज्यों में एक ही प्रकार की शासन-प्रणाली की सत्ता नहीं थी। कुछ ऐसे जनपद भी थे, जिनमें कुलतन्त्र या गणतन्त्र शासनों की सत्ता थी। केकय राज्य ने कौरवों का पक्ष लिया था, पर उसके पांच कुमार पाण्डवों के पक्ष में शामिल हुए थे। इससे सूचित होता है, कि केकय में राज-तन्त्र शासन न होकर एक ऐसी शासनपद्धति विद्यमान थी, जिसके शासक-वर्ग में कौरवों और पाण्डवों के प्रश्न को लेकर मतभेद हो गया था। अन्धक-वृष्णि राज्य का शासन भी गणतन्त्र था। यह राज्य एक संघात (Confederacy) के रूप में था, जिसमें अन्धक और वृष्णि दो गण सम्मिलित थे। महाभारत युद्ध के प्रश्न को लेकर इस संघात में मतभेद उत्पन्न हो गया था। वृष्णिगण ने पाण्डवों का पक्ष लिया था, और अन्धकगण के कतिपय कुलों ने कौरवों का और अन्यों ने पाण्डवों का।

महाभारत में जो ये बहुत-से राज्य उल्लिखित हैं, उनका परिचय भारत के अन्य प्राचीन साहित्य से भी मिलता है। पञ्चाल, मत्स्य, काशी, कोशल, मगध, अवन्ति, वत्स, कम्बोज, गान्धार और अङ्ग आदि का उल्लेख बौद्ध साहित्य के सोलह महाजनपदों में किया गया है। केकय और अभिसार उत्तर-पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध राज्य थे, सिकन्दर के उनके साथ युद्ध भी हुए थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी व कौटलीय

अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों में प्रायः इन सभी राज्यों व जनपदों का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों के आधार पर इन जनपदों का हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि महाभारत के काल में भारत के सब राज्यों की शासन-पद्धति एक समान नहीं थी। यदि कुछ राज्यों में राजाओं का वंशक्रमानुगत शासन था, तो ऐसे राज्य भी विद्यमान थे, जिनमें गणतन्त्र व कुलतन्त्र शासकों की सत्ता थी। महाभारत एक अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। उसमें अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं, जिनके अनुशीलन से इस युग की शासन-संस्थाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

(३) राजतन्त्र शासन

महाभारत के युग में कुरु, पञ्चाल, मगध, चेदि आदि बहुत-से राज्यों में राजतन्त्र शासनों की सत्ता थी। इनकी शासन-पद्धति के सम्बन्ध में महाभारत में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं। इस काल में भी राजा का मुख्य प्रयोजन प्रजा का रंजन ही माना जाता था। शान्तिपर्व में लिखा है—"उस महात्मा ने धर्मपूर्वक लोक का शासन किया। उसने सब प्रजा का रंजन किया, इसी कारण वह राजा कहाया।"[१] यह उक्ति राजा वैन्य के लिए है। शान्तिपर्व में संकलित इतिश्रुति के अनुसार राजा वैन्य महर्षियों के पास गया, और उसने उनसे राजधर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस प्रसंग में शान्तिपर्व के श्लोक महत्त्व के हैं—

"तब हाथ जोड़कर वैन्य ने महर्षियों से कहा—'धर्म और अर्थ को देख सकने वाली बुद्धि मुझमें उत्पन्न हो चुकी है। इस सूक्ष्म बुद्धि का उपयोग कर मुझे क्या करना चाहिये, यह मुझे समझाकर कहिये। आप मुझे जिस अर्थसमन्वित कार्य का उपदेश करेंगे, मैं वही करूँगा, यह बात निश्चित मानिये।' इस पर ऋषियों ने उत्तर दिया—'जो धर्म नियत है, तुम उसका शंकारहित रूप से अनुसरण करो। तुम्हें क्या प्रिय है और क्या अप्रिय—इसको भूलकर सबके प्रति समान व्यवहार करो। काम, क्रोध, लोभ और मान का तुम त्याग कर दो। जो कोई भी मनुष्य धर्म के मार्ग से विचलित हो, उसे तुम शाश्वत धर्म का अनुसरण करते हुए दण्ड दो। मन, वाणी और कर्म द्वारा इस प्रतिज्ञा का पालन करो—भूमि व जनता को ब्रह्म मानकर मैं सदा उसका पालन करूँगा। दण्डनीति में जिन बातों को धर्मानुकूल प्रतिपादित किया गया है, मैं उनका अशंक रूप से अनुसरण करूँगा। मैं कभी स्ववश (स्वेच्छाचारी) नहीं होऊँगा। यह बात भी ध्यान में रखूँगा, कि द्विजों को मुझे दण्ड नहीं देना है, और सम्पूर्ण प्रजाजन की मुझे सब प्रकार की विपत्तियों व संकटों से

१. "तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते॥ महा० शान्ति० ५९।१३३।

रक्षा करनी है।"[1]

इसके अनन्तर शान्तिपर्व में लिखा है—"तब वैन्य ने पूज्य देवर्षियों को उत्तर दिया—मैं आपके आदेश का अवश्य पालन करूँगा। ब्राह्मण लोग मेरे सहायक हों।[2]" वैन्य के यह वचन देने पर आचार्य शुक्र ने उसका पुरोहित और बालखिल्यों ने उसका मन्त्री होना स्वीकार किया। शासन-कार्य में उसकी सहायता करने के लिए एक 'सारस्वत्य गण' का भी निर्माण किया गया, और इन सबके सहयोग से वैन्य ने अपना कार्य प्रारम्भ किया।[3] क्योंकि राजा वैन्य ने दण्डनीति द्वारा प्रतिपादित मर्यादा के अनुसार शासन करना स्वीकार किया था, अतः महाभारत में लिखा है कि "वैन्य के शासन में जनता को वृद्धावस्था, दुर्भिक्ष, मानसिक क्लेश और शारीरिक रोगों का कोई भी भय नहीं रह गया था। उसके शासन में जनता को चोर व जीव-जन्तुओं तक से कोई भय नहीं था, और सारी पृथिवी धनधान्य से परिपूर्ण हो गई थी।"[4]

१. "ततस्तु प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षींस्तानुवाच ह ॥
सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धि धर्मार्थ दर्शिनी।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥
यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थ समन्वितम्।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥
तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशंकः समाचर ॥
प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥
यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता ॥
प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥
यश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीति व्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥
अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीष्व चाभिभो।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥" महा० शान्ति० ५९।१०९-११७।

२. "वैन्यस्तु तानुवाच देवानृषि पुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे सहायाश्चेदेवमस्तु सुरर्षभाः ॥" शान्ति० ५९।११८।

३. महा० शान्ति० ५९।११९-१२०।

४. "न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयः कुतः।
सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्येभ्यः कदाचन।
भयमासीत्ततस्तस्य पृथिवी सस्यमालिनी।" महा० शान्ति० ५९।१३०।

शान्ति पर्व का यह संदर्भ बड़े महत्त्व का है। राजा वैन्य (राजा पृथु) के पिता का नाम वेन था। राग और द्वेष से अभिभूत होकर उसने जनता के प्रति अपने कर्तव्यों की उपेक्षा प्रारम्भ कर दी थी। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मवादी ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशाग्रों द्वारा उसका घात कर दिया।[1] क्योंकि राजा वेन ने प्रजापालन के अपने प्रमुख कर्तव्य का पालन नहीं किया था, इस कारण ऋषियों के नेतृत्व में प्रजा उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई, और उसने परस्पर मन्त्र (परामर्श) करके कुशाग्रों (कानून या अंकुश) का आश्रय लेकर उसे राजा नहीं रहने दिया, इसी का संकेत इस श्लोक में किया गया है। पर क्योंकि वेन के पुत्र वैन्य पृथु ने राजसिंहासन पर आरूढ़ होते समय जो प्रतिज्ञा की थी, उसका यथावत् पालन किया, अतः चिरकाल तक वह राजा-पद पर आरूढ़ रहा।

महाभारत के इस प्रकरण के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि इस युग के राजतन्त्र शासनों में यह आवश्यक माना जाता था, कि (१) राजा प्रजा का पालन करना अपना कर्तव्य समझे। वह काम, क्रोध, लोभ, मान आदि के वशीभूत न होकर सबके प्रति समान व्यवहार करे, कभी स्ववश (स्वेच्छसि) न हो, और दण्डनीति द्वारा प्रतिपादित मर्यादा का पालन करते हुए राज्य का शासन करे। (२) राजा बनते हुए उसे एक प्रतिज्ञा करनी होती थी, जिसके द्वारा वह यह वचन देता था, कि मैं अपनी भूमि (राष्ट्र) को ब्रह्म मानूंगा, और उसका पालन ही अपना कर्तव्य समझूंगा। मैं कभी स्वेच्छारी रूप से कार्य नहीं करूंगा, और दण्डनीति द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुसार कार्य करूंगा। (३) यदि राजा इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण करे, तो उसे राज्यच्युत किया जा सकता था। (४) द्विजों (द्विजन्मा या सुशिक्षित व धर्माचरण करने वाले लोगों) को अदण्ड्य समझा जाता था।

महाभारत में अन्य भी अनेक राजाओं के पदच्युत किये जाने का उल्लेख आया है। राजा विविंश के १५ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े का नाम खनीनेत्र था। अपने भाइयों को पीड़ित करके वह राजसिंहासन पर आरूढ़ हो गया। पर वह राज्य की रक्षा नहीं कर सका, और प्रजा के रंजन में भी वह सफल नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ, कि जनता ने उसे राज्यच्युत कर दिया, और उसके पुत्र सुवर्चा को राजगद्दी पर बिठाया। अपने पिता का उदाहरण उसके सम्मुख था, और वह यह भी देख चुका था कि जनता द्वारा उसे राज्यच्युत कर दिया गया था। इस कारण उसने प्रजा के हित को सदा दृष्टि में रखा, और राजधर्म में रहते हुए उसने राज्य का शासन किया। जब प्रजा ने देखा कि सुवर्चा सत्यवादी, क्षम व दम से युक्त और ब्रह्मण्य

१. "तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेष वशानुगम्।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुऋ षयो ब्रह्मवादिनः॥" महा० शान्ति० ५९।१०३

गुणों से युक्त है, तो वह भी उसके प्रति अनुरक्त हो गई।[1]

राजा कौन बने, इस सम्बन्ध में भी जनता की सम्मति का प्राचीन भारत में बहुत महत्त्व था। वंशक्रमानुगत शासन वाले राज्यों में भी इस प्रश्न पर राजा की अपनी इच्छा सर्वोपरि नहीं होती थी। महाभारत की एक कथा के अनुसार राजा ययाति अपने बाद अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु को राजा बनाना चाहता था। इस पर ब्राह्मण-प्रमुख वर्णों (ब्राह्मण वर्ग जिनमें प्रमुख है, ऐसे विविध वर्णों के लोगों) ने ययाति से यह कहा—"राजन्, शुक्र के नाती और देवयानी के पुत्र यदु की उपेक्षा कर आप क्यों पुरू को राजा बनाना चाहते हैं? यह आपका सबसे ज्येष्ठ पुत्र है, उसके बाद तुर्वसु है, उसके बाद शर्मिष्ठा का पुत्र द्रुह्यु है। इनके बाद फिर अनु और पुरु हैं। आप ज्येष्ठ पुत्रों की उपेक्षा कर किस कारण कनिष्ठ को राज्य देना चाहते हैं? यह हमें समझाइये। आप अपने धर्म (परम्परागत प्रथा) का अनुसरण क्यों नहीं करते?"[2] इसका ययाति ने यह उत्तर दिया—"ब्राह्मण-प्रमुख वर्ण मेरी बात को सुनें, कि किस कारण मैं ज्येष्ठ पुत्र को राज्य नहीं देना चाहता। मेरे ज्येष्ठ पुत्र ने मेरे आदेशों का पालन नहीं किया। वह पिता के प्रतिकूल आचरण करता है, अतः उसे पुत्र कहना भी समुचित नहीं है। जो माता-पिता का कहना माने, उनके हित व लाभप्रद वचन का पालन करे, जो माता-पिता के प्रति पुत्र के समान बरताव करे, वही पुत्र कहाने योग्य है। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु—सभी ने मेरी आज्ञाओं का उल्लंघन किया है।

---

१. "तेषां ज्येष्ठः खनीनेत्रः सुतान् सर्वानपीडयत्"
खनीनेत्रस्तु विक्रान्तो जित्वा राज्यमकण्टकम्।
नाशकद्रक्षितुं राज्यं नान्वरज्यन्त तं प्रजाः॥
तमपास्य च तद्राज्ये तस्य पुत्रं सुवर्चसम्।
अभ्यषिञ्चन्त राजेन्द्रं मुदिताश्चाभवंस्तदा॥
स पितुर्विक्रियां दृष्ट्वा राज्यान्निरसनञ्च तत्।
नियतो वर्तयामास प्रजाहित चिकीर्षया॥
ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शुचिः शमदमान्वितः।
प्रजास्तं चान्वरज्यन्त धर्मं नित्यं मनस्विनम्॥ महा० अश्वमेध पर्व, ४।७-११।

२. "अभिषेक्तुकामं नृपतिं पुरूं पुत्रं कनीयसम्।
ब्राह्मण प्रमुखाः वर्णा इदं वचनमब्रुवन्॥
कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पुरोः प्रयच्छसि॥
यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतोजातस्तमनु तुर्वसुः।
शर्मिष्ठाया स्सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पुरुरेव च॥
कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयाम् राज्यमर्हति।
एतत्संबोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय॥" महा० आदि पर्व, ८५।१८-२१।

केवल पुरु ही मेरे कथन को मानता है। अतः वही मेरा उत्तराधिकारी है।"[१]

राजा ययाति की बात को सुनकर प्रकृतियों (प्रजाजनों) ने उत्तर दिया—"जो पुत्र गुणसम्पन्न हो, सदा माता-पिता का हित करे, वह कनिष्ठ होता हुआ भी (राज्यरूपी) कल्याण को प्राप्त करने का अधिकारी है। क्योंकि पुरु आपका प्रिय करने वाला है, अतः वही राज्य का स्वामी-पद पाने के योग्य है। अतः अपने पुत्र पुरु को ही राज्य के लिए अभिषिक्त कर दीजिए।"[२] महाभारत के इस संदर्भ से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भारत के प्राचीन राज्यों में राजा के पद को प्राप्त करने के लिए प्रकृतियों की अनुमति अनिवार्य थी। प्रकृति शब्द का अर्थ जनता या प्रजाजन है, यह कौटलीय अर्थशास्त्र से भी सूचित होता है, जहाँ प्रकृति (जनता) के कोप को सब कोपों में सर्वाधिक गरीयान् कहा गया है।

जनता का राजा के वरण के सम्बन्ध में इतना अधिक अधिकार माना जाता था, कि वह किसी सामान्य दोष के कारण भी किसी व्यक्ति को राजा स्वीकार करने से इनकार कर सकती थी। महाभारत की एक कथा के अनुसार राजा प्रतीप का ज्येष्ठ पुत्र देवापि सर्वगुण सम्पन्न था। वह पितृभक्त, सत्यवादी, धार्मिक व सब प्रकार से योग्य था। बालकों और वृद्धों के प्रति उसके हृदय में दया का भाव था। साधुजनों का वह सत्कार करता था, और पौर-जनपद भी उससे 'सम्मत' थे। वह प्राणिमात्र के हित के लिए तत्पर रहता था। पिता, शास्त्र और ब्राह्मणों का वह अनुवर्ती था। जब काल की गति के कारण राजा प्रतीप वृद्ध हो गया, तो उसने निश्चय किया कि देवापि को राजा बना कर उसका अभिषेक कर दिया जाए। पर जनता ने राजा के

१. "ब्राह्मणप्रमुखाः वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथञ्चन॥
मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगोनानुपालितः।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः॥
माता पित्रोर्वचनकृद् हितः पथ्यश्च यः सुतः।
सुपुत्रः पुत्रवद् यश्च वर्तते मातृ पितृषु॥
यदुनामहमवज्ञातः तथा तुर्वसुनापि च।
द्रुह्युना चानुना चापि मय्यवज्ञा कृता भृशम्॥
पुरुणानुकृतं वाक्यं मानितञ्च विशेषतः।
कनीयान् मम दायादो धृता तेन जरा मम॥ महा० आदिपर्व, ८५।२२-२७।

२. "प्रकृतय ऊचुः—यः पुत्रो गुणसम्पन्नो मातापित्रोर्हितः सदा।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि सत्तम॥
अर्हः पुरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत्तव।
अभ्यषिञ्चत्ततः पुरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः॥
महा० आदिपर्व ८५।३०-३२

इस विचार को पसन्द नहीं किया। ब्राह्मणों, वृद्धों और पौर-जानपदों ने इसका विरोध किया, क्योंकि देवापि त्वक् रोग से पीड़ित था। यद्यपि वह प्रजा का प्रिय था, पर देवता ऐसे राजा का अभिनन्दन नहीं करते जो हीनाङ्ग हो, अतः ब्राह्मणों, वृद्धों व पौर-जानपदों ने देवापि को राजा स्वीकृत करने से इन्कार कर दिया। इस पर देवापि ने वन का आश्रय लिया। प्रतीप का दूसरा पुत्र वाह्लीक था, उसे युवराज बनाया गया। पर जब प्रतीप की मृत्यु हुई, तो वाह्लीक ने भी युवराज पद का त्याग कर दिया, और प्रतीप के तीसरे पुत्र शन्तनु को राजगद्दी दी गई।[1] महाभारत के इस संदर्भ में ब्राह्मणों, वृद्धों और पौर-जानपदों द्वारा देवापि के राजा बनने का विरोध किये जाने की बात लिखी गई है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब दशरथ ने राम का अभिषेक करने का विचार किया था, तो जनता द्वारा अपने विचार की स्वीकृति के लिए उसने एक परिषद् बुलाई थी, जिसमें ब्राह्मण, बलमुख्य और पौर-जानपद सम्मिलित हुए थे। देवापि के राजा बनने का विरोध भी सम्भवतः राज्य की परिषद् द्वारा ही किया गया था, जिसके सदस्य ब्राह्मण, वृद्ध और पौरजानपद थे। भारत के पुराने साहित्य में वृद्ध शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह हम अगले एक अध्याय में स्पष्ट करेंगे। यहाँ भी वृद्ध से कुलवृद्धों, ग्रामवृद्धों आदि का ग्रहण करना चाहिए।

जनता द्वारा राजा के वरण किये जाने की पुरानी वैदिक परिपाटी महाभारत के युग के राजतन्त्र राज्यों में भी कायम थी, यह बात सर्वथा स्पष्ट है।

---

१. "प्रतीपः पृथिवीपालस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥
तस्य पार्थिवसिंहस्य राज्यं धर्मेण शासितः ।
त्रयः प्रजज्ञिरे पुत्राः देवकल्पा यशस्विनः ॥
देवापिरभवच्छ्रेष्ठो वाह्लीकस्तदनन्तरम् ।
तृतीयः शन्तनुस्तात धृतिमान् मे पितामहः ॥
देवापिस्तु महातेजास्त्वग्दोषी राजसत्तमः ।
धार्मिकः सत्यवादी च पितुः शुश्रूषणे रतः ॥
पौरजानपदानाञ्च सम्मतः साधु सत्कृतः ।
सर्वेषां बालवृद्धानां देवापिः हृदयङ्गमः ॥
वदान्यः सत्यसन्धश्च सर्वभूतहिते रतः ।
वर्तमानः पितु शास्त्रे ब्राह्मणानां तथैव च ॥
अथ कालस्य पर्याये वृद्धो नृपति सत्तमः ।
सम्भारान् अभिषेकार्थं कारयामास शास्त्रतः ॥
तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौर जानपदैः सह ।
सर्वे निवारयामासुः देवापेरभिषेचनम् ॥
प्रियः प्रजानामपि सः त्वग्दोषेण प्रदूषितः ।
हीनाङ्गं पृथिवीपालं नाभिनन्दन्ति देवताः ॥
निवारितं नृपं दृष्ट्वा देवापिः संश्रितो वनम् ॥

वैदिक युग की सभा और समिति जैसी संस्थाओं की सत्ता के सम्बन्ध में महाभारत में कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश नहीं मिलते। पर महाभारत के शान्ति पर्व में राजधर्म का प्रवचन करते हुए भीष्म का यह कथन है, कि राजा में जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सब किसी एक पुरुष में हों, यह सम्भव नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि राजा अपनी सहायता व परामर्श के लिए कतिपय अमात्यों को नियत करे। इस विषय पर शान्ति पर्व के ये श्लोक उल्लेखनीय हैं—

"चार ब्राह्मण नियत किये जायें, जो चिकित्सा में निपुण हों, स्नातक हों, विद्वान् व सदाचारी हों। अठारह ऐसे क्षत्रिय नियत किए जायें, जो शक्तिसम्पन्न और शस्त्र धारण करने वाले हों। इक्कीस ऐसे वैश्य नियत किए जायें, जो वित्त से सम्पन्न हों। तीन ऐसे शूद्र नियत किए जायें, जो विनीत और सत्कर्म करने वाले हों। साथ ही पौराणिक अनुश्रुति के ज्ञाता एक ऐसे सूत को भी लिया जाये, जिसकी आयु पचास साल से ऊपर हो चुकी हो, और साथ ही जो निन्दा न करने वाला, विद्वान्, समदर्शी और श्रुति-स्मृति का ज्ञाता हो।"[1] यहाँ भीष्म ने एक ऐसी सभा का वर्णन किया है, जिसके सदस्यों की संख्या ४७ होती थी। इसमें जनता के चारों वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। शूद्रों तक को इसमें स्थान प्राप्त था। जनता में वैश्य (कृषि, पशु-पालन और वाणिज्यों का अनुसरण करने वालों का) कर्म सबसे अधिक होता है, अतः उसके प्रतिनिधियों की संख्या सबसे अधिक रखी गई थी। सम्भवतः, यह एक ऐसी संस्था थी, जो सब महत्त्वपूर्ण राजकीय विषयों पर विचार-विमर्श किया करती थी। इसमें जो निर्णय किये जायें, उन्हें 'राष्ट्र' के सम्मुख पेश किया जाता था और इस प्रयोजन में उन्हें 'राष्ट्रीय' के पास भेज दिया जाता था।[2] यहाँ राष्ट्र और राष्ट्रीय का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है। राजा का वरण करने के लिए जो लोग एकत्र होते थे, उन्हें महाभारत में 'ब्राह्मण-प्रमुखाः वर्णाः, वृद्धाः और पौरजानपदाः' कहा गया है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। 'ब्राह्मण-प्रमुखाः वर्णाः' का क्या अभिप्राय है, यह अब सर्वथा स्पष्ट है। इससे उन ४७ व्यक्तियों का ग्रहण होता है, जिसमें ४ ब्राह्मण, १८ क्षत्रिय, २१ वैश्य ३ शूद्र और १ सूत अन्तर्गत थे। इनसे मिलकर एक ऐसी सभा का निर्माण होता था, जिससे राजा सब राजकीय विषयों पर परामर्श किया करता था। राजा के वरण

१. "चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन्।
क्षत्रियान्दश चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नान् एकविंशति संख्यया।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।
पञ्चाशद् वर्ष वयसं प्रगल्भमनसूयकम्॥
श्रुतिस्मृति समायुक्तं विनीतं समदर्शिनम्।" महा० शान्ति पर्व ८५।७-१०

२. "ततः सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत्।" महा० शान्ति० ८५।१२

के प्रसंग में जिन्हें 'पौर जानपदाः' कहा गया है, सम्भवतः वे ही इस संदर्भ में 'राष्ट्र' कहे गये हैं और उन्हीं के नेता को 'राष्ट्रीय' की संज्ञा दी गई है। इससे सूचित होता है, कि प्राचीन भारत के जनपदों में 'पौर जानपद' भी एक संस्था थी, जिसे 'राष्ट्र' भी कहते थे। पौर-जानपद के सम्बन्ध में हम आगे चलकर विशद रूप से विचार करेंगे, पर महाभारत-युग में भी उसकी सत्ता का निर्देश अवश्य विद्यमान है। शान्ति पर्व में स्पष्ट रूप से लिखा है, कि प्रजा के दर्शन का (प्रजा से सम्पर्क स्थापित रखने और उसकी सम्मति से अवगत रहने का) यही ढंग है।[1]

राजतन्त्र राज्यों में सभा या जन-संसद् के सम्बन्ध में शान्ति पर्व के एक अन्य अध्याय से भी बड़े महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं। युधिष्ठिर प्रश्न करता है कि, "संसद् में जब विद्वान्, मूढ़ और प्रगल्भ व्यक्ति मृदु और तीक्ष्ण भाषणों द्वारा अपना आक्रोश प्रकट कर रहे हों, तो क्या करना चाहिये।"[2] भीष्म ने इस प्रश्न के उत्तर में ये बातें कही हैं—"जन-संसद् में जो कोई आक्रोश द्वारा दोषारोपण करता है, राजा उसके सुकृत स्वयं प्राप्त कर लेता है। केवल उसके दुष्कृत ही उसके पास बच रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की गर्हित बातों की उसी ढंग से उपेक्षा की जाए, जैसे रोगपीड़ित व्यक्तियों के वचनों की की जाती है। ऐसे व्यक्ति के प्रति जनता में विद्वेष उत्पन्न हो जाता है, और उसका भाषण निष्फल हो जाता है। उसके पाप-कर्म सर्वविदित हो जाते हैं और वह लज्जित होकर मृत के समान होकर रह जाता है। स्वल्प बुद्धि वाले जो कुछ कहें, उस सबको सहन कर लेना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा व निन्दा से किसी का क्या बनता-बिगड़ता है। जैसे जंगल में कौआ बेकार बकवास करता है, ऐसे ही संसद् में अल्पबुद्धि के व्यक्ति के भाषण को समझना चाहिए। जिस मनुष्य के लिए कुछ भी अवाच्य नहीं है, और कुछ भी अकार्य नहीं है, उसके कथन की परवाह करने की क्या आवश्यकता है? जो मनुष्य सामने तो गुणों का बखान करता है और पीठ पीछे निन्दा करता है, वह कुत्ते के समान है।"[3]

१. "अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते सदा प्रजाः।" महा० शान्ति० ८५।१२

२. युधिष्ठिर उवाच—

विद्वान्मूढप्रगल्भेन मृदुस्तीक्ष्णेन भारत।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिंदम ॥ महा० शान्ति० ११४।१

३. "आक्रुष्य दूष्यमाणश्च सुकृतं तस्य विन्दति।
दुष्कृतं चात्मनो मर्षी तस्मिन्नेव प्रमार्जति ॥३॥
गर्हितं तमुपेक्षेत वाश्यमानमिवातुरम्।
लोके विद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते ॥४॥
इति संश्लाघते नित्यं तेन पापेन कर्मणा।
इदमुक्तो मया कश्चित्सम्मतो जनसंसदि ॥
स तत्र व्रीडितः शुष्को मृतकल्पोऽवतिष्ठते ॥५॥

महाभारत के इस संदर्भ से जहाँ राजतन्त्र राज्यों में जनसंसद् की सत्ता सूचित होती है, वहाँ साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि इस संसद् में मृदु और तीक्ष्ण दोनों प्रकार के भाषण हुआ करते थे। संसद् के सदस्य निन्दा, कटु आलोचना और क्रोधपूर्ण भाषण भी देते थे। भीष्म ने इनके सम्बन्ध में राजा को यह परामर्श दिया है, कि वह इनकी उपेक्षा करे, और जंगल में कौए की बकवास के समान इनके प्रति वृत्ति रखे। भीष्म ने संसद् के सदस्यों और उनके भाषणों के प्रति जिस उपेक्षा वृत्ति का उपदेश दिया है, उससे यह भी सूचित होता है, कि महाभारत के युग में राजतन्त्र राज्यों में जनसंसद् का विशेष महत्त्व नहीं रहा था। पुरानी परिपाटी के अनुसार समिति या संसद् अब भी विद्यमान थीं, पर राजा लोग उनके भाषणों को कोई महत्त्व नहीं देना चाहते थे। समिति या संसद् के समान सभा की भी इस युग के राज्यों में सत्ता थी। शान्ति पर्व में सभासदों के ये गुण बताये गए हैं—वे सत्य, मृदुता व लज्जा सम्पन्न और सम्यक् भाषण में समर्थ हों।[1] वैदिक युग की सभा के समान इस काल में भी सभा का मुख्य कार्य न्याय करना ही था।

पर अमात्यों और मन्त्रियों का महत्त्व अब भी विद्यमान था। यह आवश्यक व उपयोगी समझा जाता था, कि राजा दण्डनीति की मर्यादा में रहकर शासन-कार्य का संचालन करे, और मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा न करे। स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासकों का विकास अभी भारत के राज्यों में नहीं हुआ था। शान्तिपर्व के अनेक अध्यायों में अमात्यों व मन्त्रियों के गुणों व उपयोगिता का विशद रूप से विवेचन किया गया है। भीष्म के अनुसार राज्य का शासन एक व्यक्ति द्वारा कभी भी सम्भव नहीं होता। जिस राजा के मन्त्री कुलीन, परस्पर सहयोग करने वाले, सच्चे मार्ग को जानने वाले, ज्ञानी, अनागत-विधाता, समय के अनुरूप कार्य को समझने वाले, और गुजरे हुए का सोच न करने वाले होते हैं, उसका राज्य सदा उन्नति करता है।[2] मन्त्रियों के सम्बन्ध में जो अनेक संदर्भ महाभारत में विद्यमान हैं, उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। ये संदर्भ प्राचीन नीतिग्रन्थों में प्रतिपादित मन्त्रियों के

यद्यत्र्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेत्सदा ॥७॥
प्रकृत्या हि प्रशंसन्वा निन्दन्वा किं करिष्यति।
वने काक इवा बुद्धिर्वाशयमानो निरर्थकम् ॥८॥
यस्यावाच्यं न लोकेऽस्मिन्नाकार्यं चापि किंचन।
वाचं तेन न संदध्याच्छुचिः संश्लिष्ट कर्मणा ॥११॥
प्रत्यक्ष गुणवादी यः परोक्षं तु विनिन्दकः।
स मानवः श्ववल्लोके नष्ट लोक परायणः ॥१२॥ महा० शान्तिपर्व, अ० ११४।

१. "ह्री निषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जव समन्विताः।
शक्ता कथयितुं सम्यक्ते तव स्युः सभासदाः॥" महा० शान्ति० ८३।२।

२. महाभारत शान्तिपर्व, अ० ८३।१५-५१।

गुणों का निरूपण करते हैं। इनका सार यही है, कि क्योंकि राजा अकेला शासनसूत्र का संचालन नहीं कर सकता। अतः उसे सुयोग्य मन्त्रियों की सहायता प्राप्त करनी चाहिए।

राष्ट्र या राज्य के शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में भी कुछ महत्वपूर्ण बातें महाभारत द्वारा ज्ञात होती हैं। शान्तिपर्व में लिखा है—प्रत्येक ग्राम का एक अधिपति नियत किया जाए। फिर क्रमशः दस, बीस, सौ और एक हजार ग्रामों के शासक नियत किये जाएँ। ग्राम के शासक को 'ग्रामिक' कहते थे, दस ग्रामों के शासक को 'दशिक', बीस ग्रामों के शासक को 'विंशाधिप', सौ ग्रामों के शासक को 'शतपाल' और हजार ग्रामों के शासक की 'सहस्रपति' संज्ञा थी।[1] जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत जो नगर हों, उनके लिए एक-एक 'सर्वार्थ चिन्तक' शासक की नियुक्ति की जाती थी।[2] ये सब राजपदाधिकारी राजा की सभा में सभासदों के रूप में सम्मिलित होते थे।[3] ग्रामिक का कार्य ग्राम-सम्बन्धी सब कार्यों को सम्पन्न करना और ग्राम के दोषों का निवारण करना माना जाता था। उसका यह भी कार्य था, कि वह ग्राम विषयक सब मामलों की सूचना 'दशिक' के पास भेजता रहे। दशिक विंशाधिक को सूचनाएँ भेजता था, विंशाधिक शतपाल को, शतपाल सहस्रपति को और सहस्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र के राजा को। नगर, पुर या राजधानी का राजपदाधिकारी अपने क्षेत्र के सब विषयों का शासन करता था।

राजकीय करों के सम्बन्ध में भी अनेक बातें महाभारत से ज्ञात होती हैं। राजा प्रजा से जो कर ग्रहण करता था, उसे 'बलि' कहते थे। यह बलि खेती आदि की पैदावार का छठा भाग (षड् भाग) होती थी। इस बलि का प्रयोजन प्रजाजन की रक्षा करना ही माना जाता था।[4] कर ग्रहण करते हुए प्रजा का दोहन मृदु रीति

१. "ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम पतिस्तथा।
विंशति त्रिंशतीशं च सहस्रस्य च कारयेत्॥
ग्रामेयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
ता नाचक्षीत दशिने दाशिनो विंशिने पुनः॥
विंशाधिपस्तु तत्सर्वं वृत्तं जानपदे जने।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत्॥
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः।
शाखा नगरमर्हस्तु सहस्रपतिे कृतः॥ महा० शान्ति० ८७।२-८।
२. नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः।
उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः॥" महा० शान्ति० ८७।१०
३. "भवेत्स तान्परिक्रामेत्सर्वानेव सभासदः॥" महा० शान्ति० ८७।११
४. आददीत बलिञ्चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
षड भाग मपि प्राज्ञः तासामेवाभिगुप्तये॥ महा० शान्ति० ६६।२५

से किया जाय, जैसे भ्रमर फूलों का करता है, और जैसे बछड़ा गाय का करता है, जो दूध पीता है पर स्तनों को नहीं काटता।[1] कर निर्धारित करते हुए देश और काल को दृष्टि में रखा जाता था। खेती की पैदावार पर षड् भाग लेना जहाँ धर्मानुकूल माना जाता था, वहाँ व्यापारियों, शिल्पियों आदि से कर लेते हुए यह ध्यान में रखा जाता था कि उनको मुनाफा कितना हुआ है, और उनके पारिवारिक खर्च क्या हैं। शान्ति पर्व में लिखा है कि 'व्यापारी पर कर लगाते हुए यह देखा जाए, कि उसने माल किस कीमत पर खरीदा था, ढुलाई पर उसका क्या खर्च हुआ, किस कीमत पर उसका माल बिका, और क्या कुछ खर्च पड़ा, और उसके योग-क्षेम की क्या दशा है। शिल्पियों पर कर लगाते हुए यह दृष्टि में रखा जाए कि माल का उत्पादन-व्यय क्या आता है, कितना खर्च मजदूरी में देना पड़ता है, और शिल्प की क्या दशा है।[2] निस्सन्देह, करों को निर्धारित करते हुए यह ध्यान में रखा जाता था, कि उत्पादकों पर अनुचित बोझ न पड़े। इसीलिए शान्ति पर्व में भीष्म ने प्रतिपादित किया है, कि यदि जनता का बहुत अधिक दोहन किया जाए, तो उसकी कर्म करने की प्रेरणा नष्ट हो जायगी।[3] भीष्म यह भी भली-भाँति समझते थे कि राजकर्मचारी लोग कर वसूल करते हुए जनता पर अनुचित रूप से अत्याचार करते हैं, और उसे व्यर्थ कष्ट देते हैं। इसी कारण उन्होंने उपदेश किया था, कि रक्षा-कार्य के लिए अधिकृत कर्मचारी पापी, दूसरों का धन लूटनेवाले, दूसरों को क्षति पहुँचानेवाले और शठ भी होते हैं, अतः उनसे प्रजा की रक्षा की जाए।[4]

महाभारत के अनुशीलन से राजतन्त्र राज्यों की शासन-संस्थाओं और शासन के प्रकार के सम्बन्ध में जो निर्देश प्राप्त होते हैं, उनका हमने इस प्रकरण में उल्लेख किया है। इनसे इस युग के शासन का एक अच्छा चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

(४) गणतन्त्र राज्य

महाभारत के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि महाभारत-युग में केवल राजतन्त्र राज्यों की ही सत्ता नहीं थी, अपितु अनेक ऐसे भी राज्य थे जिनका शासन गणतन्त्र

१. "मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरान्न प्रपातयेत्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्॥ महा० शान्ति ८८।४

२. "विक्रयं क्रय मध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत्करान्॥
उत्पत्तिं च दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत्।
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रतिकारयेत्॥ महा० शान्ति ८७।१३-१४

३. "राष्ट्रमप्यति दुग्धं हि न कर्म कुरुते भृशम्॥" महा० शान्ति० ८७।२१

४. "जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः।
रक्षाभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥" महा० शान्ति० ८७।१२

था। महाभारत में अनेक गणराज्यों का उल्लेख है, जिनमें योधेय, मालव, शिवि, औदुम्बर, अन्धक-वृष्णि, त्रिगर्त, माध्यमकेय, अम्बष्ठ, वातधान, यादव, कुकुर, भोज आदि प्रमुख हैं। सम्भवतः, महाभारत के समय में यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णि गणों ने परस्पर मिलकर एक संघ (League) बनाया हुआ था, जिसके अन्यतम 'संघ-मुख्य' कृष्ण थे। महाभारत की कथा से कृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः स्वाभाविक रूप से महाभारत के अनुशीलन द्वारा इस संघ के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इस विषय में शान्ति पर्व का एक संदर्भ विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

"भीष्म ने कहा—इस सम्बन्ध में वह प्राचीन इतिहास उद्धृत करने योग्य है, जिसमें वासुदेव और महर्षि नारद का संवाद उल्लिखित किया गया है।

"वासुदेव ने कहा—(राज्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले) मन्त्र को ऐसे मनुष्य से नहीं कहा जा सकता जो मित्र न हो, या जो मित्र होते हुए भी विद्वान् न हो, और या जो मित्र व विद्वान् होते हुए भी ऐसा न हो जिसका अपने ऊपर अधिकार हो। हे नारद, तुम मेरे मित्र हो और तुम्हारी अविकल बुद्धि से भी मैं परिचित हूँ। अतः मैं तुमसे इस विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। ऐश्वर्य के नाम से मैं अपने बन्धु-बान्धवों का दास्य कर रहा हूँ। यद्यपि आधी शासन-शक्ति मेरे हाथों में है, पर मुझे दूसरों के दुर्वचन सदा सहने पड़ते हैं। हे देवर्षे, जिस प्रकार अग्नि की इच्छा करने वाला निरन्तर अरणि को रगड़ता है, उसी प्रकार वाणी से कहे हुए दुर्वचन निरन्तर मेरे हृदय को जलाते रहते हैं। यद्यपि संकर्षण में बल की प्रचुरता है, गद में सकुमारता है, प्रद्युम्न अपने रूप के कारण मत्त रहता है, तथापि हे नारद, मैं सर्वथा असहाय हूँ। हे नारद, अन्य अन्धक और वृष्णि लोग बलवान और सुमहाभाग हैं, और वे सदा उत्थान के लिए तत्पर रहते हैं। ये अन्धक वृष्णि जिसके पक्ष में हो जायँ, उसके पास सब-कुछ है; और ये जिसके विरुद्ध हो जायँ, उसके पास कुछ भी नहीं रहता। जब इनमें विरोध हो जाय, तो मैं किसका पक्ष लूँ, यह निश्चय कर सकना मेरे लिए सम्भव नहीं रहता। आहुक और अक्रूर के सम्बन्ध में यह बात है, कि वे जिसके पक्ष में हों उसके लिए इससे अधिक दुःख की और कोई बात नहीं हो सकती; और जिसके वे विरुद्ध हो जायँ उसके लिए भी इससे अधिक दुःख की और कोई बात नहीं हो सकती। मेरी दशा जुआरियों की माता के समान है, जो न एक की विजय चाहती है और न दूसरे की पराजय। हे नारद, मेरी तथा बन्धु-बान्धवों की स्थिति को दृष्टि में रखते हुए कृपया यह बताइये कि दोनों के लिए कौनसी बात श्रेयस्कर है। मैं इस समय बहुत क्लेश में हूँ।'[1]

१. भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं वासुदेवस्य महर्षेनारदस्य च ॥

"नारद ने कहा—आपत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, एक बाह्य और दूसरी आभ्यन्तर। पहली वे जो दूसरों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, और दूसरी वे जो अपनी की हुई होती हैं। तुम्हारी वर्तमान अवस्था में यह आभ्यन्तर विपत्ति है, जो तुम्हें कष्ट पहुँचा रही है, यह अपने ही कर्मों द्वारा उत्पन्न हुई है। अक्रूर और भोज के अनुयायियों ने, उन सब के साथ मिलकर जोकि आर्थिक लाभ की आशा से, काम के कारण या उनकी वीरता के भय से उनके साथ हो गये हैं, स्वयं प्राप्त ऐश्वर्य (राजशक्ति) को अन्य स्थान पर निहित कर दिया है। जिस प्रकार उलटी किये हुए अन्न को फिर नहीं खाया जा सकता, उसी प्रकार उस राजशक्ति को, जोकि अब भलीभाँति उनमें जड़ जमा चुकी है और ज्ञाति (बन्धु-बान्धव) जिसके सहायक हैं, अब वापस नहीं लिया जा सकता। अब बभ्रु उग्रसेन से किसी भी प्रकार राज्य वापस नहीं लिया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से बन्धु-बान्धवों में फूट पड़ जाने का भय है। हे कृष्ण, तुम इस विषय में सर्वथा असहाय हो, और यदि यह कार्य किसी सुदुष्कर कर्म द्वारा सम्पन्न हो भी जाए (अर्थात् बभ्रु उग्रसेन से राजशक्ति छीन भी ली जाए), तो भी इस काम में महान् विनाश, व्यय आदि के खतरे हैं और सम्भव है कि इससे सबका विनाश भी हो जाए। इसलिए हे कृष्ण, तुम एक ऐसे शस्त्र का प्रयोग करो

वासुदेव उवाच।
नासुहृत्परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम्।
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान्॥
स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद् वक्ष्यामि नारद।
कृत्स्नां बुद्धिं च ते प्रेक्ष्य संपृच्छे त्रिदिवङ्गम॥
दास्यमैश्वर्यं वादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अर्धभोक्ताऽस्मि भोगानां वाग् दुरुक्तानि च क्षमे॥
अरणी मग्नि कामो वा मथ्नाति हृदयं मम।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मां दहति नित्यदा॥
बलं संकर्षणे नित्यं सौकोमार्यं पुनर्गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद॥
अन्ये हि सुमहाभागाः बलवन्तो दुरासदाः।
नित्योत्थानेन सम्पन्नाः नारदान्धक वृष्णयः॥
यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्।
द्वयोरेनं प्रचरतो वृणोम्येकतरं न च॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरेव महामुने।
नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम्॥
ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयदर्शनात्।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा॥ महा० शान्ति ८१।१-१२।

जो लोहे का बना हुआ नहीं है, जो बहुत ही मृदु है पर फिर भी जो हृदय को छेदने में समर्थ है। उस शस्त्र का बार-बार परिशोधन करके तुम अपने बन्धु-बान्धुवों की वाणी को ठीक करो।

"वासुदेव ने कहा—हे मुनि, वह शस्त्र कौन-सा है जो लोहे का बना हुआ नहीं है, पर जो बहुत मृदु होते हुए भी हृदय को छेदने में समर्थ है, और जिसका बार-बार परिशोधन कर मैं अपने बन्धु-बान्धुवों की वाणी को ठीक कर सकता हूँ।

"नराद ने कहा—जो शस्त्र लोहे का बना हुआ नहीं है, वह यह है—दूसरों के गुणों को स्वीकार कर उनका यथायोग्य सत्कार करना, सहनशक्ति, क्षमा, मार्दव और अपनी शक्ति के अनुसार निरन्तर अन्नभोजन देते रहना। जो बन्धु-बान्धुव लोग बोलने की इच्छा रखते हैं, उनके कटु तथा ओछे वचनों का तुम ख़याल न करो, और अपनी वाणी द्वारा तुम उनके हृदय, वाणी तथा मन को शान्त करने का प्रयत्न करो। जो महापुरुष नहीं है, जिसका अपने ऊपर संयम नहीं है, जिसके बहुत-से सहायक व अनुयायी नहीं हैं, वह राज्य के भार का सम्यक् रीति से वहन नहीं कर सकता। साफ़ और समतल मार्ग पर तो हर एक बैल ही भार को उठा ले जा सकता है, पर विकट मार्ग पर केवल उत्तम बैल ही भार को ले जा सकता है। संघ-राज्यों का विनाश पारस्परिक फूट व भेद से ही होता है। हे केशव, तुम संघमुख्य हो, यह संघ तुम्हारी प्रधानता में नष्ट न होने पाए, ऐसा उपाय करो। बुद्धिमत्ता, सहिष्णुता, इन्द्रियों का निग्रह और धन का संत्याग—ये ऐसे गुण हैं, जिनके कि अभाव में कोई प्राज्ञ अपने पद पर स्थिर नहीं रह सकता। अपने पक्ष के उद्भावन से धन, यश और आयु की प्राप्ति होती है। हे कृष्ण, तुम ऐसे कार्य करो, जिनसे तुम्हारे बन्धु-बान्धवों का विनाश न होने पाए। तुम भविष्य नीति, वर्तमान नीति, युद्ध नीति तथा षाड्गुण्य के प्रयोग में निपुण हो। यादव, कुकुर, भोज और सब अन्धक-वृष्णिजन व उनके स्वामी तुम्हारे ऊपर ही आश्रित हैं। तुम्हारे पर आश्रित रहकर ही यादव लोग सुख प्राप्त कर रहे हैं।"[1]

१. नारद उवाच

आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह। प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वान्यतः ॥
सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा। अक्रूर भोजप्रभवा सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥
अर्थहेतोर्हि कामाद्वा वीर बीभत्सयापि वा। आत्मना प्राप्तमैश्वर्यं अन्यत्र प्रतिपादितम् ॥
कृतमूल मिदानीं तत् ज्ञातिशब्दं सहायवत्। न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव स्वयम् ॥
बभ्रूग्रसेनतो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन। ज्ञातिभेदभयात्कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ॥
तच्च सिद्ध्येत प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम्। महाक्षयो व्ययं वा स्याद्विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥
अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा। जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ॥

वासुदेव उवाच

अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम्। येनैषामुद्धरे जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च ॥

नारद उवाच

शक्त्यान्न दानं सततं तितिक्षाऽऽर्जव मार्दवम्। यथार्ह प्रतिपूजा च शस्त्र मेतदनायसम् ॥

महाभारत का यह सन्दर्भ बड़े महत्त्व का है। इसके अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णि गणराज्य थे, और उन्होंने अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता को कायम रखते हुए अपने को एक संघ में संगठित किया हुआ था। इस संघ में दो मुख्य दल थे, जिनके नेता आहुक और अक्रूर थे। इन दलों में घोर मतभेद था, और इनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। ये दल संघ के मुख्यों पर कटु आक्षेप करते रहते थे। कृष्ण की स्थिति इस संघ में 'संघ-मुख्य' की थी। कृष्ण विविध ज्ञातियों की कटु आलोचना से सदा परेशान रहते थे। इसीलिए उन्होंने नारद मुनि से अपनी मुसीबत के सम्बन्ध में प्रश्न किया, जिसका उत्तर उन्होंने यह कहकर दिया कि यह अन्दरूनी (आभ्यन्तर) विपत्ति है जो तुम्हें परेशान कर रही है। इस विपत्ति का निवारण एक ऐसे शस्त्र द्वारा किया जा सकता है, जो लोहे का बना न होकर अत्यन्त मृदु होते हुए भी हृदयों को जीतने में समर्थ होता है। यह शस्त्र है, दूसरों के प्रति सदा मीठी वाणी बोलना, सबका यथायोग्य रूप से आदर करना, और सबका अन्न-भोजन आदि द्वारा यथाशक्ति सत्कार करना। निःसन्देह, लोकतन्त्र शासन वाले गणराज्यों में संघमुख्यों के लिए यह अनिवार्य है कि वे सबका मन रखें, सबके प्रति मृदु वाणी का प्रयोग करें, सबका आदर करें, और अन्न-भोजन आदि द्वारा सबका यथोचित रीति से सत्कार करते रहें।

यादवों के संघराज्य में कृष्ण की स्थिति बड़े महत्त्व की थी। कृष्ण वृष्णि-गण में उत्पन्न हुए थे, जो यादव-संघ के अन्तर्गत एक गणराज्य था। जब कृष्ण युवा थे, तो यादव-संघ का नेतृत्व कंस के हाथों में आ गया था। यह कंस मगध के राजा जरासन्ध का मित्र था। मगधराज इस यत्न में था, कि भारत के बड़े भाग को अधीन कर अपना साम्राज्य स्थापित करे। कामरूप का राजा भगदत्त, करूष का राजा वक्र, बंग का राजा वासुदेव और चेदि का राजा शिशुपाल जरासन्ध के सहायक व वशवर्ती थे और साम्राज्य-विस्तार के कार्य में उसे सहायता दे रहे थे। जरासन्ध ने यादव-संघ के नेता कंस को भी अपने पक्ष में कर लिया था, जिसके कारण इस संघराज्य की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ गई थी। कृष्ण यह नहीं सह सके कि यादव-संघ

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च। गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च॥
नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान्। महतीं धुरमादाय समुद्यम्योरसा वहेत्॥
सर्व एव गुरुं भारमनड्वान् वहते समे। दुर्गे प्रतीतः सुगवो भारं वहति दुर्वहम्॥
भेदाद् विनाशः संघानां संघ मुख्योऽसि केशव। यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदयं संघस्तथा कुरु॥
नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात्। नान्यत्र धनसन्त्यागाद् गुणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा। ज्ञातीनामविनाशः स्याद्यथा कृष्ण तथा कुरु॥
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो। षाड्गुण्यस्य विधानेन यात्रा यान विधौ तथा॥
यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः। त्वय्यायत्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये॥
त्वमासाद्य यदुश्रेष्ठ मेधन्ते यादवाः सुखम्॥ महा० शान्ति० ८१।१३—३१

मगध के साम्राज्य के अधीन हो जाए और उससे गणशासन का अन्त होकर वहाँ कंस जरासन्ध की सहायता से स्वेच्छाचारी रूप से शासन करने लगे। कंस का विवाह जरासन्ध की कन्या से हुआ था, और वह यादवराज्य में निरंकुश राजा बनने के प्रयत्न में था। कृष्ण ने कंस का वध किया, और उसके पिता बभ्रु उग्रसेन को यादव-संघ का प्रधान निर्वाचित कराया। बाद में कृष्ण ने इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों की सहायता से जरासन्ध का भी वध कराया, और उसके पुत्र सहदेव को मगध की राजगद्दी पर बिठाया। कौरवों और पाण्डवों के संघर्ष का अन्त कर उनमें समझौता कराने का भी कृष्ण ने यत्न किया, जिसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। जब समझौता कराने के सब प्रयत्न असफल हो गए, तो कृष्ण ने कौरव-पाण्डवों की सम्मिलित सभा के सम्मुख भाषण देते हुए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, कि बहुतों के हित के लिये एक व कतिपय व्यक्तियों की बलि दे देना सर्वथा उचित है। जिस प्रकार सबके हित के लिए यादवों ने कंस का परित्याग कर दिया, और अब अन्धक, वृष्णि आदि सब यादव सुखी हैं, उसी प्रकार दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदि जो व्यक्ति किसी भी प्रकार पाण्डवों से समझौता करने को तैयार नहीं हैं, उन को गिरफ्तार करके कुरु जनपद के क्षत्रियों को अपना सामूहिक हित सम्पादित करना चाहिए।[1] क्योंकि कृष्ण अपने जनपद की इस परम्परा से परिचित थे, और उन्होंने स्वयं इसे क्रियान्वित भी किया था, इसीलिये उन्होंने कुरु जनपद को भी इसी का अनुकरण करने का उपदेश दिया था।

महाभारत के कर्णविजय पर्व में भद्र, रोहितक, आग्रेय और मालव जनपदों का 'गण' रूप से उल्लेख है।[2] इन गणों को कर्ण द्वारा विजय किया गया था, और इनकी स्थिति इन्द्रप्रस्थ के पश्चिम में थी। सभापर्व में अनेक ऐसे जनपदों (औदुम्बर, शिवि, त्रिगर्त, यौधेय, अम्बष्ठ, क्षुद्रक, मालव, वशाति आदि) का परिगणन है, जिनके लिये 'मौलेय', 'सुजातयः', 'श्रेणिमन्तः' और 'शस्त्रधारिणः' विशेषण दिये गये हैं।[3] पाणिनि की अष्टाध्यायी व कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा इनमें से अनेक के गणराज्य होने की सूचना

१. "उग्रसेन सुतः कंसः परित्यक्तः स बान्धवैः।
ज्ञातीनां हित कामेन मया शस्तो महामृधे ॥
उग्रसेनः कृतो राजा भोजराज्यस्य वर्धनः।
कंसमेकं परित्यज्य कुलार्थे सर्वयादवाः॥
सम्भूय सुखमेधन्ते भारतान्धक वृष्णयः।
तथा दुर्योधनं कर्णं शकुनिं चापि सौबलम्।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छत ॥
महा० उद्योग पर्व।

२. "भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्रेयान् मालवान् अपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ॥"

३. महा० शान्तिपर्व ५२/१३-१७

मिलती है। इनमें कतिपय कुलों का शासन था, और ये अपनी जाति का अभिमान विशेष रूप से अनुभव करते थे। इनकी शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में अधिक परिचय बाद के साहित्य में मिलता है, जिस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

महाभारत के शान्ति पर्व के एक अन्य अध्याय में भी गणराज्यों के सम्बन्ध में विशद रूप से विचार किया गया है। प्राचीन भारत में गणराज्यों का क्या स्वरूप था, और उनकी क्या निर्बलताएँ थीं, यह जानने के लिए इस अध्याय का बहुत उपयोग है। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म से युधिष्ठिर ने प्रश्न किया—"हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, मैं आप से गणों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ। किस प्रकार गणों की उन्नति होती है, किस प्रकार वे पारस्परिक फूट से बचे रह सकते हैं, और किस प्रकार वे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। मैं यह देखता हूँ कि गणों का विनाश पारस्परिक फूट के कारण होता है, बहुतों के हाथ में मन्त्र (राजकीय विचार-विमर्श) का गुप्त रह सकना कठिन है, ऐसा मेरी बुद्धि कहती है। वे किस प्रकार फूट से बच सकते हैं, इस सम्बन्ध में मुझे बताइये। मैं गणों के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चाहता हूँ।"[१]

भीष्म ने युधिष्ठिर के इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया—"गणों में और कुलों के राजाओं में लोभ और क्रोध पारस्परिक वैर को उत्पन्न करते है। इनमें से कोई तो लोभ के वश हो जाते हैं, और कोई क्रोध के। फिर वे क्रोध के वश होकर गुप्तचरों, शक्ति के प्रयोग, धन के प्रदान, साम, दान, विभेद, और क्षय, व्यय व भय के उपायों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रयत्न करते हैं। इस दशा में संघात रूप में वर्तमान गणों में भी धन के प्रदान द्वारा फूट पड़ जाती है, और उनके व्यक्ति परस्पर 'विमनस' (भिन्न मतों वाले) हो जाते हैं, जिसके कारण वे शत्रु के भय प्रयोग करने से उसके वश में चले जाते हैं। गणों का विनाश फूट के कारण ही होता है, फूट से वे शत्रु द्वारा सुगमता से जीत लिए जाते हैं। अतः गणों को यह यत्न करना चाहिये, कि वे परस्पर मिलकर 'संघात' में संगठित होकर रहें। 'संघात' के रूप में संगठित हो जाने पर गणों को अर्थ की प्राप्ति होती है, और बाह्य (जनपद) भी उनसे मैत्री स्थापित करते हैं। उत्तम गण तभी उन्नति करते हैं, जब वे शास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म और व्यवहार को कायम रखें, और सब बातों को सही रूप में देखें। गण तभी उन्नति करते हैं, जब (उनके कुलनेता) अपने पुत्रों और भाइयों को काबू में रखें, उनको नियन्त्रण में रखें, और उन्हें नियन्त्रित (विनीत) करके उनसे काम लें। क्रोध, भेद,

१. "गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ॥६
यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत। अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥७
भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये। मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥८
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परन्तप। यथा च ते न भिद्येरन् तच्च मे वद भारत" ॥९
महा० शान्ति० अ० १०७

भय, दण्ड, कर्षण, निग्रह और वध—ये ऐसी बातें हैं, जिनका यदि गणों में उपयोग किया जाए, तो वे शीघ्र शत्रु के वश में हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि गणों में गणमुख्यों का सदा सम्मान किया जाए (उनके प्रति क्रोध आदि का उपयोग न किया जाए), क्योंकि गणों का सुव्यवस्थित रूप से कायम रह सकना प्रधानतया उन्हीं पर निर्भर करता है। गण के जो प्रधान हों, मन्त्र की उन्हें गुप्ति रखनी चाहिये। यह उचित नहीं है, कि सारे गण के सम्मुख मन्त्र (राजकीय विचार-विमर्श) को उपस्थित किया जाये। गणमुख्यों को ही एक साथ बैठकर गण के हित के लिए कार्य करने चाहिएं। जब गणों में फूट या भेद उत्पन्न होने लगे, तो समझदार व्यक्तियों को तुरन्त ही उसे रोक देना चाहिये। जब कुलों में कलह उत्पन्न हो, और कुलवृद्ध उनकी उपेक्षा करें, तो ये कलह गण में फूट पैदा करने वाले होते हैं, और कुलों का ही नाश कर देते हैं। गणों के लिए आभ्यन्तर भय ही महत्त्व का है, बाह्य भय निःसार है। आभ्यन्तर भय ही उनकी जड़ों को काटने वाला होता है। शत्रु लोग भेद और धन के प्रदान द्वारा ही गणों को जीतते हैं, अतः संघात ही एक ऐसा उपाय है जिससे गणों की रक्षा हो सकती है।"[1]

महाभारत के इस संदर्भ से यह स्पष्ट रूप से सूचित होता है, कि गणों के शासन में कतिपय कुलों का महत्त्व होता था, जो उद्योग, बुद्धि, रूप व धन में समान

[1] "भीष्म उवाच
गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम। वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥१०
लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्। ततो ह्यमर्षसंयुक्तौ अन्योन्यजनिताशयौ ॥११
चार मन्त्र बलादानैः सामदान विभेदनैः। क्षय व्यय भयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ॥१२
तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः। भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥१३
भेदे गणा विनश्येयुः भिन्नास्तु सुजयाः परैः। तस्मात्संघात योगेन प्रयतेरन्गणाः सदा ॥१४
अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघात बल पौरुषैः। बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघात वृत्तिषु ॥१५
धर्मिष्ठान्व्यवहारान् च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः। यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥१७
पुत्रान् भ्रातृन्निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान्सदा। विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥१८
क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः। नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥२२
तस्मान् मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः। लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥२३
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥२४
गण मुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः ॥२५
तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम्। निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ॥२७
कुलेषु कलहाः जाताः कुल वृद्धैरुपेक्षिताः। गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ॥२८
आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यं असारं बाह्यतोभयम्। आभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ॥२९
भेदाच्चैव प्रदानाच्च नाभ्यन्ते रिपुभिर्गणाः। तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणम् महत् ॥३२
महा० शान्ति० अ० १०७

न होते हुए भी जाति की दृष्टि से अपने को एक समान समझते थे।[1] चाहे उनमें शक्ति, बुद्धि व धन आदि की कितनी भी विषमता हो, पर शासन में उनकी स्थिति एक समान होती थी। इसी कारण शत्रु के लिए धन आदि देकर उनमें फूट डाल सकना सुगम होता था। भीष्म के अनुसार कुलवृद्धों का यह कर्तव्य था, कि वे अपने भाइयों व पुत्रों को नियन्त्रण में रखें, ताकि गण के अन्तर्गत विविध कुलों में फूट न पड़ने पाए। साथ ही, गण के मुख्यों व प्रधानों का भी यह कर्तव्य था, कि वे आभ्यन्तर भयों से गण की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहें। भीष्म के अनुसार गणों के लिए अकेले अपनी रक्षा कर सकना भी सुगम नहीं होता। इसलिए उन्होंने उपदेश किया है, कि उन्हें परस्पर मिलकर 'संघात' बनाने चाहियें। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी इस बात को स्वीकार किया गया है, कि 'अभिसंहत' गण शत्रुओं द्वारा सुगमता से नहीं जीते जा सकते। भीष्म ने गणों की रक्षा व उन्नति के लिए जिन बातों को अत्यन्त उपयोगी माना है, वे निम्नलिखित हैं—(१) गण में जो शास्त्रानुकूल धर्म व व्यवहार चले आ रहे हों, उनका यथावत् रीति से पालन किया जाए, उन्हें भली भाँति स्थापित रखा जाए। (२) सब बातों को उनके वास्तविक रूप में देखा जाए। पक्षपात व लोभ आदि के कारण किसी बात को अन्यथा न देखा जाए। (३) गण के अन्तर्गत कुलों के व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है, कि वे अपने कुलगौरव के कारण नियन्त्रण में न रहें। कुलवृद्धों के लिए यह आवश्यक है, कि वे अपने भाइयों व पुत्रों को काबू में रखें, उन्हें नियन्त्रण में रहने के लिए विवश करें, और नियन्त्रण में रहने पर उनका गण के हित के लिए उपयोग करें। (४) गणमुख्यों का सम्मान किया जाए, क्योंकि गण की रक्षा और उन्नति उन्हीं पर निर्भर रहती है। (५) राजकीय विषयों में जो गोपनीय हों, उन्हें सम्पूर्ण गण के सम्मुख उपस्थित न किया जाए। गणमुख्य स्वयं ही उन पर मिलकर विचार व निर्णय किया करें, क्योंकि गणों में मन्त्र की गुप्ति कठिन होती है। (६) यह यत्न किया जाए, कि गणों में फूट न पड़े। धन देकर व फूट डालकर शत्रु राजा गणों को अपने वश में लाने में समर्थ होते हैं। जब गण में फूट पड़ने लगे, तो समझदार नेताओं का कर्तव्य है, कि वे गण को फूट से बचाएँ। (७) गणों के लिए असली भय आभ्यन्तर ही होता है, बाह्य भय का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं। अतः यह प्रयत्न होना चाहिये, कि गणों की आभ्यन्तर भयों से रक्षा की जाए। भीष्म ने इस तथ्य को बड़े स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रकट किया है—क्रोध, लोभ व मोह के कारण गण के मुख्यों व नेताओं में इतनी अधिक फूट पड़ जाती है कि वे परस्पर बातचीत करना भी बन्द कर देते हैं। जब यह दशा आ जाए, तो समझ लो

---

१. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूप द्रव्येण वा पुनः ॥"

महा० शान्ति० १०७।३१

कि अब पराभव के चिह्न प्रकट हो गये हैं।[1]

मगध के सम्राट् गणों की इन्हीं निर्बलताओं से लाभ उठाकर वृज्जि संघ की पराजय के लिए तत्पर हुए थे, यह बौद्ध साहित्य से सूचित होता है। मगध के राजा अजातशत्रु ने अपने प्रधान मन्त्री अमात्य वर्षकार के साथ नकली रूप से कलह करके उसे मगध से बहिष्कृत कर दिया था, और उसने वृज्जि संघ में जाकर शरण ली थी। वहाँ उसने वृज्जि संघ के नेताओं में क्रोध, लोभ, मोह आदि उत्पन्न कर फूट डाल दी थी, और उनमें यह दशा आ गई थी कि वे आपस में बातचीत तक भी नहीं करते थे। अजातशत्रु ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और आक्रमण कर वृज्जि संघ को जीत लिया।[2] पञ्चतन्त्र के 'काकोलूकीयम्' तन्त्र में भी इसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख एक कथा के रूप में किया गया है।

१. "अकस्मात्क्रोध मोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात्।
अन्योऽन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम्॥"
महा० शान्ति० १०७।३०

२. बुद्धचर्या पृ० ५२०—५२३

पाँचवाँ अध्याय

बौद्ध युग की शासन-संस्थाएँ

(१) सोलह महाजनपद और साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति

महाभारत के समय में भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी। इनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। शासनपद्धति की दृष्टि से ये जनपद प्रधानतया दो प्रकार के थे—राजतन्त्र और गणतन्त्र। महाभारत के समय और छठी सदी ईस्वी पूर्व के मध्य का राजनीतिक इतिहास प्रायः अज्ञात है। महाभारत के समय के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। इस काल का कोई ऐसा साहित्य भी उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर जहाँ राजनीतिक इतिहास को क्रमबद्ध रूप से तैयार किया जा सके, वहाँ साथ ही इस युग की शासन-संस्थाओं का भी परिचय प्राप्त किया जा सके।

पर छठी सदी ईस्वी पूर्व से इस दशा में अन्तर आना प्रारम्भ होता है। इस सदी में महात्मा बुद्ध ने अष्टांगिक आर्य धर्म का प्रतिपादन किया, और जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर भी इसी सदी में उत्पन्न हुए। बौद्ध और जैन-साहित्यों में जहाँ बुद्ध और महावीर का चरित्र संकलित है, वहाँ साथ ही उन जनपदों व राजाओं के सम्बन्ध में भी उनके द्वारा बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं, जिनका इन धर्माचार्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। निरन्तर विकास द्वारा भारत के विविध जनपदों में जिस प्रकार की शासन-संस्थाएँ स्थापित हो गई थीं, उनका भी इस साहित्य से परिचय मिलता है। पाणिनि की प्रसिद्ध अष्टाध्यायी का काल भी छठी सदी ई० पू० के लगभग माना जाता है। अष्टाध्यायी व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ है। पर उसके तद्धित प्रकरण में बहुत-से ऐसे सूत्र हैं, जो इस युग के जनपदों व उनकी शासन-संस्थाओं पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

भारत के जनपदों में साम्राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन काल से ही विद्यमान थी। मध्यदेश के कुरु, पञ्चाल, कोशल आदि जनपदों के राजा अन्य जनपदों से अपनी अधीनता स्वीकृत कराके सार्वभौम व चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, तो मगध-जैसे प्राच्य जनपद के राजा अन्य जनपदों का मूलोच्छेद करके एकराट् व सम्राट् बनने के लिए यत्न कर रहे थे। महाभारत के समय में मगध का

राजा जरासन्ध था। उसने सब दिशाओं में दिग्विजय करके अपने साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया। पूर्व में अंग, बंग, कलिंग और पुण्ड्र को जीतकर जरासन्ध ने अपने अधीन कर लिया था। पश्चिम में कारूष जनपद का राजा वक्र और चेदि का राजा शिशुपाल उसके अधीनस्थ थे, और उससे मित्रता का सम्बन्ध रखते थे। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए जरासन्ध ने अनेक गणराज्यों पर भी आक्रमण किये। उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली यादवों का संघराज्य था, जिसमें अनेक गण सम्मिलित थे। कृष्ण इसी संघ के 'संघमुख्य' थे। जरासन्ध के आक्रमणों से परेशान होकर ही यादव लोग अपने मूल अभिजन को छोड़कर द्वारका में जा बसने के लिए विवश हुए थे। जरासन्ध का साम्राज्यवाद भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं के साम्राज्यवाद से बहुत भिन्न था। वह पराजित राजाओं का मूलोच्छेद करने का यत्न किया करता था। इसी कारण महाभारत में लिखा है, कि उसके कारागार में बहुत-से राजा कैद थे और जरासन्ध उनकी बलि देने की तैयारी कर रहा था। कृष्ण की कूटनीति के कारण पाण्डवों ने जरासन्ध का संहार किया, यह हम पहले लिख चुके हैं।

जरासन्ध के बाद मगध के अन्य अनेक राजाओं ने भी उसकी नीति का अनुकरण किया। बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायिभद्र, नागदासक और महापद्म नन्द के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। पुराणों में महापद्म नन्द को 'एकराट्', 'एकच्छत्र', 'अतिबल' और 'सर्वक्षत्रान्तक' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। मगध के अन्य राजा भी इसी प्रकार के थे। इन्हीं मागध राजाओं ने धीरे-धीरे भारत के अन्य गणतन्त्र व राजतन्त्र जनपदों को परास्त कर देश के बड़े भाग में अपना एकच्छत्र 'अनुलंघित शासन' स्थापित कर लिया था।

मगध के समान अन्य भी अनेक जनपद पड़ोस के अन्य जनपदों को जीतकर अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर थे। इसीलिए इनकी स्थिति जनपद के स्थान पर 'महाजनपद' की हो गई थी। बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख आता है।[1] यह सूची बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर एक ही ढंग से उपलब्ध होती है।[2] यह सूची एक श्लोक के रूप में है, और उसका अनेक स्थानों पर एक ही रूप में आना कुछ विशेष अर्थ रखता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि वह श्लोक जिसमें इन सोलह महाजनपदों का विवरण है, बौद्ध साहित्य के विकास से पूर्व ही बन चुका था, और एक प्रचलित श्लोक को विविध स्थलों पर प्रकरणवश उद्धृत कर दिया जाता था। बौद्ध साहित्य के ये सोलह महाजनपद निम्नलिखित थे—

(१) **अंग**—यह मगध के ठीक पूर्व में था। मगध और अंग के बीच में चम्पा नदी बहती थी, जो इन दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करती थी। अंग की राजधानी का नाम भी चम्पा था, जिसे उस समय भारत के बड़े छः नगरों में गिना जाता था।

१. अंगुत्तर निकाय १, २१३; ४, २५२, २५६, १६० ।
२. Rhys Davids : Buddhist India p. 188.

अन्य पांच नगर राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी थे।[1] चम्पा पूर्वी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र थी। चम्पा नदी और गंगा के जल-मार्गों द्वारा बहुत-से व्यापारी यहाँ से सुवर्णभूमि (पेगू और मालमीन) आया-जाया करते थे। अंग और मगध में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। महात्मा बुद्ध के समय में अंग मगध के अधीन हो चुका था।

(२) **मगध**—इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। बार्हद्रथ और पुलक के वंशों का अन्त होने पर बुद्ध के समय में श्रेणिय बिम्बिसार मगध के राजा थे।

(३) **काशी**—इसकी राजधानी वाराणसी (बनारस) थी। अनेक जातक कथाओं से सूचित होता है, कि यह वाराणसी बौद्ध-काल में भारत की सबसे बड़ी नगरी थी। एक ग्रन्थ के अनुसार इसका विस्तार बारह योजनों में था।[2]

(४) **कोशल**—इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। यह अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित थी। कोशल देश की दूसरी प्रसिद्ध नगरी साकेत (अयोध्या) थी। कोशल-जनपद के पश्चिम में पंचाल-जनपद, पूर्व में सदानीरा (गण्डक) नदी, उत्तर में नैपाल की पर्वतमाला और दक्षिण में स्यन्दिका नदी थी। आधुनिक समय का अवध प्रान्त प्रायः वही है, जो प्राचीन समय में कोशल था। इसमें ऐक्ष्वाकव-वंश के क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। इनकी वंशावली पुराणों में अविकल रूप से दी गई है। महात्मा बुद्ध के समय में कोशल की राजगद्दी पर राजा विरुद्धक (विडूडभ) विराजमान थे।

(५) **वृजि या वज्जि**—यह एक संघ का नाम था, जिसमें आठ गणराज्य सम्मिलित थे। इन आठ गणों में विदेह, लिच्छवि और ज्ञातृकगण सबसे मुख्य थे। सारे वज्जि-संघ की राजधानी वैशाली थी। वर्तमान समय के बिहार प्रान्त में गंगा के उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण में जो उत्तरी बिहार का प्रदेश है, उसे तिरहुत कहते हैं। वज्जि-संघ की स्थिति वहीं पर थी। वज्जि-संघ में सम्मिलित आठों गण पृथक्-पृथक् जनपद थे। विदेह की राजधानी मिथिला थी। ज्ञातृकगण की राजधानी कुण्डग्राम थी। जैन-धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर का प्रादुर्भाव यहीं पर हुआ था। लिच्छवि गण की राजधानी वैशाली थी। यह वैशाली सम्पूर्ण वज्जि-संघ की भी राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के समय में यह वज्जि-संघ अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध था।

(६) **मल्ल**—यह महाजनपद भी एक संघ के रूप में था, जिसमें दो गण सम्मिलित थे—कुशीनारा के मल्ल और पावा के मल्ल। यह संघ वज्जि-संघ के ठीक पश्चिम में था। आजकल का गोरखपुर जिला जहाँ है, वहाँ ही प्राचीन काल में मल्ल-महाजनपद की स्थिति थी।

(७) **वत्स**—इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। इस नगरी के अवशेष इलाहाबाद

१. महाजनक जातक (नं० ५३९)
२. गुत्तिल जातक Cowell : The Jataka vol II pp. 172-178.

ज़िले में यमुना के किनारे कोसम गाँव में उपलब्ध हुए हैं। बौद्ध-काल में वत्स बहुत ही शक्तिशाली राज्य था। वहाँ का राजा उदयन अपने समय का सबसे प्रतापी व प्रसिद्ध राजा था। संस्कृत-साहित्य उसकी कथाओं से परिपूर्ण है।

(८) **चेदि**—वर्तमान समय का बुन्देलखण्ड प्राचीन चेदि राज्य को सूचित करता है। इसकी राजधानी शुक्तिमती नगरी थी, जो शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित थी।

(९) **पंचाल**—यह कोशल और वत्स के पश्चिम में तथा चेदि के उत्तर में स्थित था। प्राचीन समय में पंचाल दो राज्यों में विभक्त था—उत्तर-पंचाल व दक्षिण-पंचाल। वर्तमान समय का रुहेलखण्ड उत्तर-पंचाल को तथा कानपुर व फ़र्रुखाबाद के प्रदेश दक्षिण-पंचाल को सूचित करते हैं। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण-पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी।

(१०) **कुरु**—इस महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। यह नगर वर्तमान दिल्ली के समीप यमुना के तट पर स्थित था। हस्तिनापुर, मेरठ और दिल्ली के प्रदेश इस जनपद के अन्तर्गत थे।

(११) **मत्स्य**—इसकी राजधानी विराट् नगर या वैराट थी, जो वर्तमान समय के जयपुर क्षेत्र में है। मत्स्य-महाजनपद यमुना के पश्चिम में तथा कुरु के दक्षिण में स्थित था।

(१२) **शूरसेन**—इसकी राजथानी मथुरा थी। महाभारत के समय का प्रसिद्ध अन्धक-वृष्णिसंघ इसी प्रदेश में स्थित था। बौद्ध-साहित्य में शूरसेन के राजा अवन्ति-पुत्र का उल्लेख मिलता है, जो महात्मा बुद्ध का समकालीन था।

(१३) **अश्मक**—यह राज्य गोदावरी नदी के समीपवर्ती प्रदेश में था। इसकी राजधानी पोतन या पोतलि थी।

(१४) **अवन्ति**—चेदि के दक्षिण-पश्चिम में, जहाँ अब मालवा प्रदेश है, प्राचीन समय में अवन्ति का महाजनपद था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। बौद्ध-काल में यह राज्य बहुत शक्तिशाली था। महात्मा बुद्ध के समय में अवन्ति का राजा चण्ड प्रद्योत था, जो वत्सराज उदयन को जीतकर अपना साम्राज्य बनाने में तत्पर था, और जिसके भय से ही मगधराज अजातशत्रु ने राजगृह की किलाबन्दी की थी।

(१५) **गान्धार**—इसकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय भारत में विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र थी। रावलपिण्डी, पेशावर, काश्मीर तथा हिन्दूकुश पर्वत-माला तक फैले हुए पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेश इस महाजनपद में सम्मिलित थे। महात्मा बुद्ध के समय में इनका राजा पुक्कसाती था, जिसने मगधराज बिम्बिसार के पास एक दूतमण्डल भेजा था।

(१६) **कम्बोज**—गान्धार के परे उत्तर में पामीर का प्रदेश तथा उससे भी

परे बदख्शां का प्रदेश कम्बोज-महाजनपद कहलाता था। कम्बोज में इस काल में भी गणतन्त्र-शासन स्थापित था।

अन्य जनपद—इन सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त, उस समय भारत में अन्य भी बहुत-से जनपद स्वतन्त्र रूप से विद्यमान थे। कोशल के उत्तर और मल्ल के पश्चिमोत्तर में (आधुनिक नैपाल की तराई में) शाक्य-जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। यहीं पर महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। शाक्यगण के पड़ोस में ही कोलियगण (राजधानी—रामग्राम), मोरियगण (राजधानी—पिप्पलिवन), बुलिगण (राजधानी—अल्लकप्प), भग्गगण (राजधानी—सुंसुमार) और कालामगण (राजधानी—केसपुत्त) की स्थिति थी।

गान्धार, कुरु तथा मत्स्य के बीच केकय, मद्रक, त्रिगर्त और यौधेय जनपद थे। और अधिक दक्षिण में सिन्धु, शिवि, अम्बष्ठ और सौवीर आदि जनपदों की स्थिति थी।

पर बौद्ध-साहित्य में सोलह महाजनपदों का जिस प्रकार बार-बार उल्लेख आता है, उससे प्रतीत होता है, कि उस समय में ये सब अन्य जनपद अपने पड़ोसी शक्तिशाली महाजनपदों की किसी-न-किसी रूप में अधीनता स्वीकार करते थे। वस्तुतः, उस समय में इन सोलह जनपदों में भी मगध, वत्स, कोशल और अवन्ति—ये चार सबसे अधिक शक्तिशाली थे। ये जहाँ अपने समीपवर्ती राज्यों को जीतकर अपने अधीन करने की कोशिश में थे, वहाँ आपस में भी इनमें घनघोर संघर्ष का प्रारम्भ हो चुका था।

(२) बौद्ध युग के गणराज्य

गणराज्यों की सूची—पिछले प्रकरण में जिन सोलह महाजनपदों का हमने उल्लेख किया है, उन सबमें एक ही प्रकार की शासन-पद्धति विद्यमान नहीं थी। उनमें से कुछ राज्य राजतन्त्र थे और अन्य गणतन्त्र। गणतन्त्र-राज्यों में कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था। जनता स्वयं ही अपना शासन करती थी। षोडश महाजनपदों में वज्जि, मल्ल और शूरसेन राज्यों का गणतन्त्र होना निश्चित माना जा सकता है। पर इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक गणराज्यों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में मिलता है, जो निम्नलिखित हैं—(१) कपिलवस्तु के शाक्य, (२) रामग्राम के कोलिय, (३) मिथिला के विदेह, (४) कुशीनारा के मल्ल, (५) पावा के मल्ल, (६) पिप्पलिवन के मोरिय, (७) अल्लकप्प के बुलि, (८) सुंसुमार पर्वत के भग्ग, (९) केसपुत्त के कालाम, और (१०) वैशाली के लिच्छवि।

मिथिला के विदेह और वैशाली के लिच्छवि राज्यों के संघ को वज्जि कहा जाता था। इन गणराज्यों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। हम इन पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

शाक्य गण—बौद्ध-साहित्य में कपिलवस्तु के शाक्यराज्य का बहुत महत्व

है। महात्मा बुद्ध इसी राज्य में उत्पन्न हुए थे। शाक्य लोग जाति से क्षत्रिय थे। महात्मा बुद्ध के निर्वाण होने पर उनके भस्मावशेष के लिये शाक्य लोगों ने इसी आधार पर दावा किया था, कि बुद्ध भी क्षत्रिय थे और हम भी क्षत्रिय हैं। इसलिये हमें भी उनके भस्मावशेष का अंश प्राप्त होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा था, कि महात्मा बुद्ध हमारी ही जाति के थे।[१] बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार शाक्य-जाति का सम्बन्ध प्राचीन इक्ष्वाकु-वंश के साथ जोड़ा गया है। सुमंगलविलासिनी[२] और महावंश[३] की कथाओं में शाक्यों को राजा ओक्काक या इक्ष्वाकु का वंशज बताया गया है। विष्णुपुराण से भी इसी मत की पुष्टि होती है।[४] महावस्तु में शाक्यों को आदित्यबन्धु कहा गया है।[५] आदित्यबन्धु और सूर्यवंशी एक ही बात है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार इक्ष्वाकु सूर्यवंश का था। एक अन्य स्थान पर महावस्तु में महात्मा बुद्ध को, जो कि शाक्य-जाति के थे, 'इक्ष्वाकु-कुलसम्भव' विशेषण से कहा गया है।[६] इस प्रकार इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि शाक्य-गणराज्य के लोग प्राचीन सूर्यवंश के क्षत्रिय ही थे।

शाक्य-गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु थी। यह एक अत्यन्त सुन्दर और महान् नगर था। महावस्तु के अनुसार यह सात दीवारों से घिरा हुआ था।[७] कपिलवस्तु के अतिरिक्त शाक्यराज्य के अन्य भी अनेक नगरों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में मिलता है। इनके नाम सामगाम, उलुम्पा, देवदह, चातुमा, सक्वर, सीलावती और खोमदुस्स हैं।[८]

शाक्य-गणराज्य में जनतन्त्र शासन-पद्धति प्रचलित थी। उसका कोई वंश-क्रमानुगत राजा नहीं होता था। राज्य के मुखिया (राष्ट्रपति) को ही 'राजा' कहा जाता था। बौद्ध-काल के अन्य अनेक राज्यों में प्रत्येक कुल के मुखिया को 'राजा' कहते थे, लिच्छवियों में यही व्यवस्था थी। पर शाक्यों में प्रत्येक मुखिया व सरदार को राजा नहीं कहा जाता था, वहाँ 'राजा' केवल एक होता था, जिसे निर्वाचित किया जाता था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्यराज्य के वंशक्रमानुगत राजा नहीं थे, वे कुछ समय के लिये 'राजा' निर्वाचित किये गये थे। यही कारण है, कि जहाँ बौद्ध-साहित्य में अनेक स्थलों पर उनके नाम के साथ 'राजा' का विशेषण आता है,

१. Digha Nikaya (Mahaparinibban Suttanta) Vol. II., p. 165.
२. Sumangala Vilasini pt. I, pp. 258-260.
३. Mahavansa, edited by Geiger pp. 12-14.
४. Vishnu Purana (Wilson) Vol. IV. Ch. xxii, pp. 167-172.
५. Maha Vastu ii, p. 303.
६. Ibid iii, p. 247.
७. Ibid ii, p. 75.
८. Cambridge History of India, Vol. I, p. 175.

वहाँ अन्यत्र उनके जीवन-काल में ही उनके छोटे भतीजे भद्दिय को 'राजा' कहा गया है, और उन्हें केवल 'शाक्य शुद्धोदन' लिखा गया है।[१]

शाक्य-राज्य में शासन करने के लिए एक परिषद् होती थी, जिसके अधिवेशन कपिलवस्तु के सन्थागार में हुआ करते थे। बौद्ध-साहित्य में कपिलवस्तु के सन्थागार (सभाभवन) का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। अम्बट्ठसुत्त में वर्णन आता है, कि एक बार पौष्करसाति नाम का ब्राह्मण शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में गया। वहाँ सन्थागार में बहुत-से शाक्य ऊँचे आसनों पर बैठे हुए थे।[२] महावस्तु के अनुसार बनारस के राजघराने के ३२ कुमार कपिलवस्तु में बसने के लिए आए। उनके प्रस्ताव को शाक्य-परिषद् के सम्मुख पेश किया गया। इस शाक्य-परिषद् के सदस्यों की संख्या महावस्तु में पाँच सौ लिखी गई है। राजा सेनजित् ने शाक्य-कुमारी के साथ विवाह करने की इच्छा से जो राजदूत भेजा था, उसने भी अपने राजा के सन्देश को सन्थागार में एकत्रित पांच सौ शाक्यों की परिषद् के सम्मुख उपस्थित किया था।[३] ललितविस्तार के अनुसार भी शाक्यों की परिषद् के सदस्यों की संख्या पाँच सौ थी।[४] इससे स्पष्ट है, कि शाक्य-परिषद् में प्रत्येक नागरिक सदस्य नहीं होता था। शाक्य-राज्य एक प्रकार का श्रेणितन्त्र (एरिस्टोक्रेसी) था, जिसमें कुलीन शाक्य-घरानों के मुखिया ही शासन का सब कार्य करते थे। इन पाँच सौ सदस्यों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इस विषय में कोई निर्देश बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

कपिलवस्तु के सन्थागार का बौद्ध-साहित्य में एक अन्य स्थान पर भी उल्लेख मिलता है। जिस समय महात्मा बुद्ध कपिलवस्तु के समीप न्यग्रोधाराम में ठहरे हुए थे, तब शाक्य लोगों का नया सन्थागार बनकर तैयार हुआ था। शाक्यों की प्रार्थना पर महात्मा बुद्ध ने इस नवीन सन्थागार का उद्घाटन किया और रात-भर उनके अपने, आनन्द तथा मोग्गलान के उपदेश होते रहे।[५] सन्थागार को शाक्य-लोग जो महत्त्व देते थे, वह उनके राज्य की शासन-प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डालता है।

डा० रीज डेविड्स के अनुसार शाक्य-राज्य के अन्य नगरों में भी इसी प्रकार के सन्थागार विद्यमान थे, और उनके निवासी अपने सन्थागारों में एकत्रित होकर अपने स्थानीय नियमों की व्यवस्था किया करते थे।[६] सम्पूर्ण राज्य का शासन कपिलवस्तु

१. Rhys Davids : Buddhist India, P. 19.
२. Dialogues of the Buddha I, p. 113.
३. Cowell : The Jataka, Vol. IV, pp. 91-92.
४. Lalitavistara, pp. 136-137.
५. Rhys Davids : Buddhist India p. 20.
६. Ibid p. 20.

के केन्द्रीय सन्थागार में एकत्रित शाक्य-परिषद् द्वारा होता था।

शाक्यों के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में बौद्ध-साहित्य से विशेष परिचय नहीं मिलता। पर इसमें सन्देह नहीं, कि महात्मा बुद्ध के समय में यह एक स्वतन्त्र तथा समृद्ध राज्य के रूप में विद्यमान था। इसकी स्वतन्त्रता का अन्त साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति द्वारा हुआ। कोशल देश के राजा विडूडभ (विरुद्धक—प्रसेनजित् का पुत्र) के आक्रमण द्वारा इसकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट की गई।

लिच्छविगण—जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के कारण कपिलवस्तु के शाक्यों का महत्त्व है, उसी प्रकार वर्धमान महावीर के कारण वैशाली के लिच्छवि भी विशेष महत्त्व रखते हैं। जैन-धर्म के संस्थापक तीर्थंकर महावीर का प्रादुर्भाव वैशाली के राज्यसंघ में हुआ था। महावीर स्वयं लिच्छवि नहीं थे। वैशाली के शक्तिशाली राज्यसंघ में सम्मिलित ज्ञातृकगण में उनका जन्म हुआ था। ज्ञातृकगण वज्जि राज्यसंघ के अन्तर्गत था। यही कारण है, कि जैनों का धार्मिक साहित्य इस संघ के विषय में विशेष प्रकाश डालता है। बौद्ध-साहित्य से भी इसके विषय में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं।

शाक्यों की तरह लिच्छवि लोग भी क्षत्रिय थे। महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके भस्मावशेष के एक हिस्से के लिए लिच्छवि लोगों ने भी इस आधार पर दावा किया था कि भगवान् क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं, इसलिए हमें भी उनके भस्मावशेष का भाग मिलना चाहिए, ताकि हम उसके सम्मान के लिए स्तूपों का निर्माण कर सकें।[१] जैन-साहित्य के अनुसार भी लिच्छवि लोग क्षत्रिय वर्ण के थे।[२]

लिच्छवि-राज्य की राजधानी वैशाली थी। प्राचीन भारतीय नगरों में वैशाली का बहुत महत्त्व था। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थों में इसकी स्थापना के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार इसका संस्थापक राजा इक्ष्वाकु का पुत्र विशाल था, जिसके कारण इसका नाम वैशाली पड़ा था।[३] विष्णु-पुराण के अनुसार वैशाली का संस्थापक कुमार विशाल ऐक्ष्वाकु-वंश के राजा तृणबिन्दु का पुत्र था।[४] वैशाली का संस्थापक चाहे कोई हो, पर इसमें कोई सन्देह

१. Dialogues of the Buddha (Mahaparinibban Suttanta) Vol. III, p. 187.

२. Jacobi : Kalpa Sutra, p. 266.

३. "इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुनः परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नः विशाल इति विश्रुतः।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता॥
(रामायण ४७/११-१२)

४. Wilson : Vishnu Purana Vol. III, p. 246.

नहीं, कि यह नगरी बहुत प्राचीन थी और प्राचीन नगरों में इसका महत्त्व बहुत अधिक था।

वैशाली का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। उससे सूचित होता है, कि यह नगर बहुत विशाल, विस्तृत और समृद्ध था। रामायण में वैशाली नगरी को रम्य, दिव्य और स्वर्गोपम, इन विशेषणों से विभूषित किया गया है।"[1] जातक-ग्रन्थों के अनुसार महात्मा बुद्ध के समय में वैशाली नगरी तीन प्राचीरों से, जो एक-दूसरे से एक गव्यूति की दूरी पर स्थित थे, घिरी हुई थी और इन प्राचीरों में तीन बड़े प्रवेश-द्वार थे, जो ऊँचे तोरणों व बुर्जों से सुशोभित थे।[2] तिब्बती अनुश्रुति में वैशाली का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—'वैशाली तीन भागों में विभक्त थी। प्रथम भाग में सात हज़ार मकान थे, जिनके बुर्ज सोने के बने हुए थे। दूसरे भाग में चौदह हजार मकान थे, जिनके बुर्ज चाँदी के बने हुए थे। तृतीय भाग में इक्कीस हजार मकान थे, जिनके बुर्ज तांबे के बने हुए थे। इन तीनों भागों में उच्च, मध्य और निम्न श्रेणियों के लोग अपनी स्थिति के अनुसार निवास करते थे।[3] ह्युएनत्सांग ने भी वैशाली का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि "प्राचीन वैशाली नगर की परिधि साठ या सत्तर ली थी। पर प्रासादों से पूर्ण नगर के भाग की परिधि चार या पाँच ली थी।"[4] ललितविस्तार में वैशाली का वर्णन करते हुए उसे अत्यन्त समृद्ध, वैभवशाली, धनधान्य से भरपूर, अत्यन्त रमणीक, विविध प्रकार के मनुष्यों से पूर्ण, विविध प्रकार की इमारतों से सुसज्जित, बाग, पार्क, उद्यान आदि से समलंकृत लिखा गया है।[5]

इसी प्रकार अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी वैशाली का बहुत समृद्ध तथा वैभवशाली नगर के रूप में वर्णन किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि वैशाली बहुत ही समृद्ध नगर था। लिच्छवि-गण की राजधानी होने के अतिरिक्त यह वज्जि राज्यसंघ—जिसमें कुल मिलाकर आठ गणराज्य सम्मिलित थे—की भी राजधानी थी। इस दशा में यह बिलकुल स्वाभाविक है, कि यह बहुत ही उन्नत और समृद्ध दशा को पहुँच गया हो। आचार्य महावीर और महात्मा बुद्ध अपने धर्मों का प्रचार करते हुए अनेक बार वहाँ गये थे। यही कारण है, कि इन धर्मों के साहित्य में

१. "विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा।"

रामायण ४/१०

२. Fausball : The Jataka p 504.

३. Rockhill : Life of the Buddha, p. 62.

४. Watters : On Yuan Chwang Vol. II, p. 63.

५. "इयं वैशाली महानगरी ऋद्धा च स्फीता च क्षेमा च सुभिक्षा च रमणीया चाकीर्णबहुजनमनुष्या च वितर्दि निर्यूहतोरण गवाक्षहर्म्य कूटागारप्रासादतलसमलंकृता च पुष्पवाटिकावनराजिसंकुसुमिता च"

Lalitavistara edited by Lefnann P. 21.

वैशाली का अनेक बार उल्लेख आया है। वर्तमान समय में बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नामक एक गाँव है, जो गण्डक नदी के बायें तट पर स्थित है। इसी स्थान पर प्राचीन समय में प्रसिद्ध वैशाली नगरी विद्यमान थी।

लिच्छवि लोगों का सामाजिक जीवन बहुत उन्नत था। वे एक-दूसरे के साथ बहुत सहानुभूति रखते थे। जब कोई लिच्छवि बीमार पड़ता था, तो दूसरे उससे हालचाल पूछने के लिए आना अपना कर्तव्य समझते थे। यदि किसी के घर में कोई संस्कार या उत्सव हो, तो दूसरे लोग उसमें उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे।

लिच्छवि लोगों को सौन्दर्य से बहुत प्रेम था। वे अपनी वेषभूषा तथा बाह्य आकृति पर विशेष ध्यान देते थे। जिस समय महात्मा बुद्ध अन्तिम बार वैशाली पधारे, तो लिच्छवि लोगों ने उनका किस प्रकार स्वागत किया, इसका वर्णन अवलोकनीय है। हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

"उन्होंने अपने शानदार और भव्य रथों को तैयार करने का हुकुम दिया, और उनपर चढ़कर वैशाली से बाहर निकले। उनमें से कुछ नीले रंग के थे, उन्होंने कपड़े भी नीले पहने हुए थे, उनके आभूषण भी नीले रंग के थे। कुछ श्वेत रंग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी श्वेत रंग के थे। कुछ लाल रंग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी लाल रंग के थे। कुछ पीले रंग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी पीले रंग के थे।" महापरिनिर्वाणसूत्र से यह उद्धरण लिया गया है। परन्तु इसी प्रकार का वर्णन अंगुत्तरनिकाय में भी उपलब्ध होता है। महावस्तु में लिच्छवियों के इन्हीं रंगों का और भी विशद रूप से वर्णन किया गया है—"कुछ लिच्छवि लोग हैं, जिनके घोड़े नीले रंग के हैं। उनके रथ, रश्मियाँ, चाबुक, दण्ड, वस्त्र, आभूषण, पगड़ी, छतरी, तलवार, रत्न, जूता आदि प्रत्येक वस्तु नीले रंग की हैं।" इसी प्रकार पीत, मञ्जिष्ठ, लाल, श्वेत, हरे और रंग-बिरंगे लिच्छवियों का वर्णन महावस्तु में पाया जाता है। कई विद्वानों ने कल्पना की है, कि लिच्छवियों का इन विविध रंगों के वस्त्र, आभूषण आदि पहनना उनके आन्तरिक श्रेणिभेद को सूचित करता है।

लिच्छवी-राज्य की शासन-पद्धति गणतन्त्र थी। उसमें कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था। राज्य की शासन-शक्ति लिच्छवि जनता में निहित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में लिच्छवि-राज्य को 'राजशब्दोपजीवी संघ' कहा गया है।[1] इसका अभिप्राय यह है, कि लिच्छवि लोगों में प्रत्येक अपने को 'राजा' समझता था। ललितविस्तार से 'राजशब्दोपजीवी' शब्द का अर्थ भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। वहाँ लिखा है—वैशाली के निवासियों में उच्च, मध्य, वृद्ध, ज्येष्ठ आदि के भेद का विचार नहीं

---

१. "लिच्छविक वृजिक मल्लक मद्रक कुकुर कुरु पञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः संघाः।" कौ० अर्थशास्त्र ११।१।

किया जाता। वहाँ प्रत्येक आदमी अपने विषय में यही समझता है कि 'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ। कोई किसी से छोटा बनना स्वीकृत नहीं करता।'[१]

लिच्छवि-राज्य की राजसभा के अधिवेशन सन्थागार में होते थे। इस सभा में कितने लिच्छवि 'राजा' सम्मिलित होते थे, इसका निर्देश भी बौद्ध-साहित्य में मिलता है। एकपण्ण जातक में लिखा है, कि वैशाली में जो राजा राज्य करते हैं, उनकी संख्या सात हजार सात सौ सात है। साथ ही, राजाओं के साथ शासन करने वाले उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिकों की संख्या भी इतनी ही (अर्थात् इनमें से प्रत्येक सात हजार सात सौ सात) है।[२] चुल्लकलिङ्ग जातक में लिखा है, कि सात हजार सात सौ सात लिच्छवि राजा वैशाली में रहते थे।[३] वे सब परस्पर विवाद तथा प्रश्नोत्तर करते रहते थे। अट्ठकथा में भी लिच्छवियों के इतने ही राजा, उप-राजा और सेनापति लिखे हैं। लिच्छवियों के सात हजार सात सौ सात राजाओं, उपराजाओं, सेनापतियों और भाण्डागारिकों का क्या अभिप्राय है, इस प्रश्न पर ऐतिहासिकों में मतभेद है। कुछ के विचार में इस संख्या का कोई विशेष महत्व नहीं है। यह केवल इतना ही सूचित करती है, कि लिच्छवि-राज्य में शासन करने वाली श्रेणि बहुत बड़ी थी। कुछ ऐतिहासिकों का यह विचार है, कि वैशाली में सात हजार सात सौ सात शासक-परिवार थे। वैसे तो वैशाली की आबादी बहुत अधिक थी, क्योंकि बौद्ध-साहित्य में यह वर्णन आता है, कि जब महात्मा बुद्ध वहाँ यात्रा करते हुए गये, तो १,६८०,०० आदमी उनका स्वागत करने के लिए आये।[४] इससे यह स्पष्ट है, कि वैशाली की आबादी बहुत अधिक थी। वैशाली जैसे महान् और प्रख्यात नगर की आबादी यदि लाखों में हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इस दशा में यही कल्पना ठीक प्रतीत होती है, कि वैशाली में सात हजार सात सौ सात कुलीन लिच्छवि-परिवार निवास करते थे, जिनमें शासन-शक्ति निहित थी। वे सब वैशाली के सन्थागार में एकत्रित हो शासन-कार्य करते थे। वे अच्छे जमींदार भी होते थे, इसलिए यदि उनके साथ उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक भी हों तो यह आश्चर्य की बात नहीं है।

१. "नोच्च मध्य वृद्ध ज्येष्ठानुपालिता एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति। न च कस्यचित् शिष्यत्वमुपगच्छति।"

Lalitavistara ch. iii

२. "तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसंतानं येव राजूनं सत्तसहस्सानि सत्तसत्तानि सत्त च। राजानो होति तत्तका, येव उपराजानो तत्तका सेनापतितो तत्तका, तत्तका भण्डागारिका।"
Fausball : The Jataka, Vol. i, p. 504.

३. Fausball : The Jataka, Vol. iii, p. 1.

४. Mahavastu : Vol. i. p. 256.

इन राजाओं का राज्याभिषेक भी होता था।[1] क्योंकि प्रत्येक लिच्छवि अपने को राजा समझता था, इसलिए उन सबको राज्याभिषेक होना भी आवश्यक था।

राज्य में एक शासनाधिकारी होता था, जिसे नायक कहते थे। इस नायक की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी।[2] सम्भव है, कि यह नायक ही लिच्छवि राजाओं में प्रधान व राष्ट्रपति का कार्य करता हो। सम्भवतः, इसका कार्य लिच्छवि राजसभा के नियमों को क्रियारूप में परिणत करना होता था।

लिच्छवि-राज्य की न्याय-व्यवस्था बड़ी अद्भुत थी। अभियुक्त लिच्छवि को पहले विनिच्चय महामात्त (विनिश्चय महामात्र) नामक कर्मचारी के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। इस महामात्त का कार्य यह होता था, कि वह अभियुक्त पर किये गए आरोप की जाँच करे। यदि तो विनिच्चय महामात्त अभियुक्त को निरपराधी समझे, तो वह उसे छोड़ देता था। अन्यथा वह उसे वोहारिक व व्यावहारिक नामक कर्मचारी के सम्मुख उपस्थित करता था। विनिच्चय महामात्त को यह अधिकार नहीं था, कि वह अभियुक्त को सजा दे सके। व्यावहारिक यदि अभियुक्त को निरपराधी समझे, तो वह भी उसे छोड़ सकता था। पर दण्ड देने का अधिकार उसे भी नहीं था। अपराधी होने की दशा में व्यावहारिक अभियुक्त को सुत्तधर व सूत्रधर नामक कर्मचारी के सम्मुख उपस्थित करता था। सूत्रधर भी अभियुक्त को छोड़ सकते थे। पर यदि वे उसे अपराधी पाएं, तो अट्ठकुलक नामक कर्मचारी के सम्मुख पेश करते थे। अट्ठकुलक के बाद अभियुक्त को क्रमशः सेनापति, उपराजा और राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। राजा को भी स्वयं दण्ड देने का अधिकार नहीं था। वह 'पवेणिपोत्थक' नामक कर्मचारी के सामने अभियुक्त को पेश करता था। इस प्रकार इतने राज-कर्मचारियों के सम्मुख अपराधी साबित होने के अनन्तर ही किसी अभियुक्त को दण्ड मिल सकता था। अभियुक्त के छूटने के अवसर तो बहुत अधिक थे, पर उसे दण्ड तभी मिल सकता था, जब उसका अपराध पूर्णतया साबित हो जाय।

लिच्छवियों का यह शक्तिशाली राज्य समीप के साम्राज्यवादी राजाओं की दृष्टि में काँटे की तरह चुभ रहा था। जिस समय मगध के सम्राटों ने अपनी शक्ति का विस्तार गंगा के उत्तर में करना प्रारम्भ किया, तो लिच्छवि-राज्य देर तक उनका सामना नहीं कर सका। लिच्छवि-राज्य की स्वतन्त्रता का विनाश मगधराज अजातशत्रु द्वारा किया गया था।

विदेह गण—मिथिला का विदेह-राज्य भारतीय इतिहास में बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में इसका उल्लेख आता है। इस देश के राजा जनक वैदिक साहित्य और अध्यात्मविद्या के महान् पण्डित होते थे। बृहदारण्यक उपनिषद्

---

१. Fausball : The Jataka Vol. iv, p. 148.

२. Rockhill : Life of the Buddha, p. 62.

में विदेह के राजा जनक की परिषद् में अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विवादों का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया गया है। रामायण, महाभारत और पुराणों में भी विदेह के राजाओं का वर्णन आता है। बौद्ध-साहित्य में भी विदेह-राज्य के अनेक राजाओं का वर्णन मिलता है। जातक-ग्रन्थों में विदेह के राजाओं के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ भी लिखी गई हैं।

इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है, कि विदेह-राज्य में पहले राजतन्त्र-शासन विद्यमान था। प्राचीन वैदिक काल, रामायण-काल तथा महाभारत-काल में विदेह में वंशक्रमानुगत राजा होते थे। पर बौद्ध-काल में इस राज्य में राजतन्त्र-शासन का अन्त होकर गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो चुकी थी। भारत के विविध राज्यों में भी भिन्न-भिन्न समयों में शासन-विधान में परिवर्तन होते रहे हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है। कुरु, पाञ्चाल आदि राज्यों में प्राचीन समय में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, पर कौटलीय अर्थशास्त्र के समय में उनमें गणराज्य स्थापित हो चुका था। यही विदेह-राज्य में हुआ। राजतन्त्र से गणतन्त्र में यह परिवर्तन किस प्रकार आया, इस सम्बन्ध में हमें महाभारत से कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं। शान्तिपर्व में वर्णित इस विषय की कथा उल्लेखनीय है। विदेह का राजा जनक ब्रह्मज्ञान में इतना लीन हो गया था, कि उसे मोक्ष नजर आने लगा था। द्वन्द्व से विहीन और विमुक्त दशा को पहुँचकर उसने राज्यकार्य की उपेक्षा प्रारम्भ कर दी थी। इसीलिए उसकी यह मनोवृत्ति हो गई थी—"जब मैं सर्वथा अकिञ्चन हो जाऊँ, जब मेरे पास कोई धन न रहे, तभी मुझे अनन्त धन की प्राप्ति होगी। यदि मिथिला अग्नि द्वारा भस्म भी हो जाए, तो मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ता।"[1]

जिस राजा की यह मनोवृत्ति हो, वह व्यक्तिगत रूप से चाहे कितना ही धर्मात्मा व अध्यात्मवादी क्यों न हो, राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन वह कदापि नहीं कर सकता। इसीलिए महाभारत में जनक के सम्बन्ध में लिखा गया है—धन, अपत्य, मित्र और विविध रत्न आदि के होते हुए भी जनक ने पावन मार्ग का परित्याग कर दिया, और वह मूढ़ हो गया। उसने विचार किया कि राज्य का परित्याग कर भिक्षा-वृत्ति को अपना ले। इस पर विदेह की राजमहिषी बहुत दुखी हुई। अत्यन्त दुखी व क्रुद्ध होकर महारानी कौशल्या अपने पति के पास गई और उसे इस प्रकार समझाने लगी—क्या कारण है जो तुम धन-धान्य से युक्त इस राज्य का परित्याग कर भिक्षुवृत्ति को अपनाने के लिए कटिबद्ध हो। राज्याभिषेक के समय जो प्रतिज्ञा तुमने की थी, उसे स्मरण करो। इस समय तुम्हारी वृत्ति उस प्रतिज्ञा के सर्वथा विपरीत है। तुम

१. "अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता॥
अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चित्प्रदह्यते। महा० शान्ति० १७।१८-१९।

महान् राज्य का परित्याग कर एक स्वल्प बात से लुब्ध हो रहे हो। तुम प्रदीप्त श्री का परित्याग कर इस समय एक कुत्ते के समान दीख रहे हो। आज तुम्हारी माता पुत्रविहीन हो गई है, और कौशल्या पति से विहीन। सब क्षत्रिय यह समझते हुए कि धर्म और काम तुम पर आश्रित हैं, तुम्हारा अनुगमन करते हैं, और तुम्हीं पर भरोसा रखते हैं। उन सबको निराश व विफल करके तुम पता नहीं किस लोक को जाओगे। तुम जिस वृत्ति का अनुकरण कर रहे हो, उसके कारण तुम्हारी प्रतिज्ञा का भंग होता है। हे राजन्, तुम पृथिवी का पालन करो, पृथिवी पर तुम्हारा अनुग्रह हो।[1]

पर अपनी पत्नी के इन वचनों का राजा जनक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसीलिए महाभारतकार ने कहा है—"इस संसार में राजा जनक की एक तत्त्ववेत्ता के रूप में कीर्ति सर्वत्र मानी जाती है। पर वह भी मूढ़ता में फँस गया था।"[2]

संसार के इतिहास में कितने ही राजाओं को अपने राजसिंहासनों का परित्याग इसलिए करना पड़ा है, क्योंकि वे अपने राजधर्म की उपेक्षा कर प्रजा पर अत्याचार करते थे। पर भारतीय इतिहास में राजा जनक का एक ऐसा उदाहरण मिलता है, जिसने ब्रह्मज्ञान में लीन होने के कारण अपने राजकीय कर्तव्यों की उपेक्षा कर दी थी। "मिथिला चाहे आग में जलकर भस्म भी हो जाए, इससे मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ता", यह

१. "उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम्।
विदेहराजमहिषी दुःखिता प्रत्यभाषत॥
धनान्यपत्यं मित्राणि रत्नानि विविधानि च।
पन्थानं पावनं हित्वा जनको मौढ्यमास्थितः॥
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम्।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद्वचः॥
कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम्।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धान्यमुष्टिमुपाससे॥
प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव।
यद्राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे लुभ्यसि पार्थिव॥
श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत् सम्प्रति वीक्ष्यसे।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौशल्या चापतिस्त्वया॥
आश्रिताः धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते।
त्वदाशामभिकांक्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः॥
तांश्च त्वं विफलान् कृत्वा कं नु लोकं गमिष्यसि।
प्रशाधि पृथिवीं राजन् यत्र तेऽनुग्रहो भवेत्॥"

महा० शान्ति० १८।३-२२

२. "तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते।
सोऽप्यासीन्मोहसम्पन्नो मा मोहवशमन्वगा॥"

महा० शान्ति० १८।३७।

मनोवृत्ति ठीक वैसी ही है, जैसी कि रोमन सम्राट् नीरो की थी, जोकि रोम को अग्नि से भस्म होता हुआ देखकर स्वयं बांसुरी बजाता हुआ उस दृश्य का आनन्द ले रहा था। सम्भवतः, विदेह के जनक राजा की इसी मनोवृत्ति के कारण जनता ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, और राजसत्ता का अन्त कर अपने जनपद में गणतन्त्र शासन की स्थापना कर दी थी। सम्भवतः, विदेह के इस जनक राजा का व्यक्तिगत नाम कराल था, जिसके बन्धु-बान्धवों के साथ विनष्ट होने का उल्लेख कौटलीय अर्थ-शास्त्र में भी मिलता है।[1]

विदेह-राज्य भी वज्जि-राज्यसंघ में सम्मिलित था। जिस समय मगधराजा अजातशत्रु ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उस पर आक्रमण किया, तभी उसकी स्वतन्त्रता का अन्त हुआ।

वज्जि-संघ—लिच्छवि, विदेह और अन्य छः गणराज्यों से मिलकर एक संघ बना हुआ था, जिसे वज्जि-संघ कहते थे। लिच्छवि और विदेह के अतिरिक्त इस संघ में जो गण सम्मिलित थे, उनमें से कुण्डग्राम के ज्ञातृक गण के सम्बन्ध में हमें जैन-साहित्य से विशेष परिचय मिलता है। जैनधर्म के संस्थापक वर्द्धमान महावीर ज्ञातृक-जाति के क्षत्रिय थे, और ज्ञातृक गण में उत्पन्न हुए थे। उनका पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक-गण के प्रमुख नेताओं में एक था।

ज्ञातृक राज्य के शासन के सम्बन्ध में डॉ० हार्नले ने जैन-साहित्य के आधार पर इस प्रकार लिखा है—वहाँ का शासन एक सभा (सीनेट) द्वारा होता था, जिसमें क्षत्रिय-परिवारों के मुख्य नेता सम्मिलित होते थे। इस सभा के अध्यक्ष को राजा कहते थे, जो उपराजा और सेनापति की सहायता से शासन का संचालन करता था।[2]

वज्जि-राज्यसंघ के—जिसमें लिच्छवि, विदेह और ज्ञातृक-राज्यों के अतिरिक्त अन्य भी पाँच राज्य सम्मिलित थे—शासन का स्वरूप क्या था, इस सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ महापरिनिब्बानसुत्त में उपलब्ध होता है।[3] जिस समय मगध-राज अजातशत्रु ने वज्जि-राज्यसंघ पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में सलाह करने के लिए अपने प्रधान मन्त्री वस्सकार को महात्मा बुद्ध के पास भेजा, तो उन्होंने अपने शिष्य आनन्द को सम्बोधन करके जो प्रवचन किया, वह बड़े महत्त्व का है।

"आनन्द! क्या तूने सुना है कि वज्जि लोग एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते हैं?

"हाँ भगवन्, सुना है।

"आनन्द! जब तक वज्जि एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते

१. कौटलीय अर्थशास्त्र १।३।
२. Hoernle : Uvasagadasao. Vol. ii, p. 6.
३. बुद्धचर्या (महापरिनिब्बाण सुत्त), पृ० ५२०-५२१।

रहेंगे, तब तक आनन्द ! वज्जियों की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

"क्या आनन्द ! तूने सुना है कि वज्जि लोग एक होकर बैठक करते हैं, एक हो उत्थान करते हैं, और एक हो राजकीय कार्यों की सँभाल करते हैं ?

"हाँ, भगवन्, सुना है।

"आनन्द ! जब तक वज्जि लोग एक हो बैठक करते रहेंगे, एक हो उत्थान करते रहेंगे, और एक हो राजकीय कार्यों की सँभाल करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

"क्या आनन्द ! तूने सुना है कि वज्जि लोग जो अपने राज्य में विहित है, उसका उल्लंघन नहीं करते। जो विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करते; और जो नियम पुराने समय से वज्जि लोगों में चले आ रहे हैं उनका पालन करते हैं ?

"हाँ, भगवन्, सुना है।

"आनन्द ! जब तक वज्जि लोग जो अपने राज्य में विहित है उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो विहित नहीं है उसका अनुसरण नहीं करेंगे, और जो पुराने समय से नियम वज्जि लोगों में चले आ रहे हैं उनका पालन करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

"क्या आनन्द ! तूने सुना है कि वज्जियों के जो वृद्ध (महल्लक) नेता हैं उनका वे सत्कार करते हैं। उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते हैं, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते हैं ?

"हाँ, भगवन्, सुना है।

"आनन्द ! जब तक वज्जियों में वृद्ध (महल्लक) नेता रहेंगे, उनका वे सत्कार करेंगे, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते रहेंगे। उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।"[1]

महापरिनिब्बाणसुत्तान्त का यह संदर्भ बड़े महत्त्व का है। इससे बज्जिसंघ की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—(१) वज्जिसंघ की अनेक सभाएँ थीं, जिनके अधिवेशन बहुधा होते रहते थे। (२) वज्जिसंघ के लोग परस्पर मिलकर राजकीय कार्यों की संभाल करते थे, एक हो बैठक करते थे और एक हो अपने संघ की उन्नति के लिए प्रयत्न किया करते थे। (३) वे अपने संघ के परम्परागत नियमों व व्यवहार के पालन में जागरूक रहते थे, और जो संघ द्वारा प्रतिपादित व विहित बातें न हों, उनका अनुसरण नहीं करते थे। (४) बज्जिसंघ का शासन वृद्धों या महल्लकों के हाथों में था, जिनका वज्जि लोग आदर करते थे और जिनकी बात को वे सुनने, मानने तथा ध्यान देने योग्य समझते थे।

मल्ल-संघ—महात्मा बुद्ध के समय में मल्ल-जाति के क्षत्रियों के दो राज्य विद्य-

१. बुद्धचर्या (महापरिनिब्बाण सुत्त), पृ० ५२०-५२१।

मान थे—कुशीनारा का मल्ल-राज्य और पावा का मल्ल-राज्य। बौद्ध-काल में मल्ल-राज्य के महत्त्व का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि इसकी गणना षोडश महाजनपदों में की गई है। मल्ल-राज्य बहुत प्राचीन है। महाभारत में इसका जिकर आता है। जिस समय पाण्डवों ने दिग्विजय की थी, तो भीमसेन पूर्व दिशा का विजय करते हुए मल्ल-राज्य भी गया था, और उसके साथ भी उसका युद्ध हुआ था। महाभारत में अन्यत्र मल्लों का उल्लेख अंग, बंग और कलिंग के साथ किया गया है।[1]

कुशीनारा का महत्त्व इसलिए बहुत अधिक है, क्योंकि महात्मा बुद्ध का स्वर्गवास (महापरिनिर्वाण) इसी नगरी में हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है, कि महात्मा बुद्ध को इस नगर से विशेष स्नेह था और वे वहीं पर मरना चाहते थे। वे पावा में बीमार पड़े थे। पर अपनी अन्तिम लीला कुशीनारा में समाप्त करने की इच्छा से वे वहाँ पर चले आये थे। उन्होंने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को विशेष रूप से मल्लों के पास यह सूचना देने के लिए भेजा था, कि महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण होने वाला है, अतः मल्ल लोग उनसे मिल जाएँ।[2]

"आनन्द ! कुशीनारा में जाकर कुशीनारावासी मल्लों को कहो—हे वाशिष्ठो, आज रात के पिछले पहर तथागत का परिनिर्वाण होगा। चलो वाशिष्ठो चलो, वाशिष्ठो, पीछे अफसोस मत करना कि हमारे ग्रामक्षेत्र में तथागत का परिनिर्वाण हुआ, लेकिन हम अन्तिम काल में तथागत का दर्शन न कर पाए।"

आनन्द ने कहा—अच्छा भगवन्।

"आयुष्मान् आनन्द चीवर पहनकर, पात्र-चीवर ले, अकेले ही कुशीनारा में प्रविष्ट हुआ। उस समय कुशीनारा के मल्ल किसी कार्य से सन्थागार (सभा-भवन) में जमा हुए थे। तब आयुष्मान् आनन्द जहाँ कुशीनारा के मल्लों का सन्थागार था, वहाँ गये। जाकर उन्होंने मल्लों को महात्मा बुद्ध का सन्देश सुना दिया।" मल्ल लोग किस प्रकार दुःखित हो महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन करने के लिए गये, इसका अत्यन्त विस्तृत वर्णन महापरिनिब्बानसुत्त में उपलब्ध होता है।

जिस समय महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण का समाचार सुनने के लिए आनन्द कुशीनारा गया, उस समय भी वे अपने सन्थागार में एकत्रित हो सभा कर रहे थे। इसी प्रसंग से मल्ल-राज्य के शासन-विधान के सम्बन्ध में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण बातें भी ज्ञात होती हैं। लिच्छवि और शाक्य-राज्यों की तरह मल्लों में भी सन्थागार के होने में तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। पर मल्लों के आठ 'प्रमुखों' की सूचना भी महापरिनिब्वानसुत्त से मिलती है। मल्लों में आठ प्रमुख होते थे। सम्भवतः, शासन का कार्य आठ प्रमुखों में निहित था, जो सन्थागार में किये गए निर्णयों को क्रिया में

१. महाभारत, सभापर्व ३०।३।
२. बुद्धचर्या (महापरिनिब्बाण सुत्त), पृ० ५४२-५४५।

परिणत करते थे। इसी प्रकार 'पुरुष' नामक छोटे राज-कर्मचारियों का भी ज़िकर आता है, जो विविध कार्यों को सम्पादित करते थे।

कुशीनारा वर्तमान समय में गोरखपुर जिले में जहाँ कसिया नामी गाँव है, वहाँ पर स्थित था। कसिया गोरखपुर से ३७ मील पूर्व में स्थित है। इस विषय पर ऐतिहासिकों में विवाद रहा है कि कसिया ही कुशीनारा था या नहीं। विन्सेन्ट ए० स्मिथ के अनुसार कुशीनारा नैपाल-राज्य की तराई में स्थित था।[1] पर अब यह बात भलीभाँति सिद्ध हो गई है, कि कसिया ही प्राचीन कुशीनारा है। कारण यह है, कि पुरातत्त्व-विभाग के अन्वेषणों से कसिया के समीप विद्यमान एक प्राचीन स्तूप के अन्दर एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है, जिस पर निम्नलिखित वाक्य उत्कीर्ण है—

('परिनि) र्वाण—चैत्य—ताम्रपट्ट'

इस लेख के प्राप्त होने के पश्चात् कसिया को ही प्राचीन कुशीनारा स्वीकृत कर लिया गया है।

मल्लों का दूसरा राज्य पावा में था। कनिंघम ने पावा को गोरखपुर जिले के पडरौना के साथ मिलाया है, जो गण्डक नदी के तीर पर कुशीनारा से १२ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन का अन्तिम भोजन इसी स्थान पर किया था और यहीं पर वे बीमार पड़ गये थे। बीमारी की दशा में ही वे एक दिन में पावा से कुशीनारा आ गये थे। कसिया और पडरौना में अन्तर केवल १२ मील है। इसलिए सम्भव है, कि पडरौना के समीप ही कहीं प्राचीन पावा नगरी स्थित हो। कुशीनारा और पावा के अतिरिक्त मल्लों के अन्य भी अनेक नगर थे। चुल्लवग्ग में मल्लों के एक अन्य नगर का जिकर आता है, जिसका नाम अनूपिया था।[2] कुछ समय के लिये महात्मा बुद्ध इस नगर के विहार में भी रहे थे।[3] अंगुत्तरनिकाय में एक अन्य मल्लनगर का उल्लेख आता है, जिसे उरुवेलकप्प कहते थे।[4] यहाँ भी महात्मा बुद्ध ने कुछ समय निवास किया था।[5] अनूपिया व उरुवेलकप्प कोई पृथक् राज्य नहीं थे। ये मल्लराज्यों के अन्तर्गत नगरमात्र थे।

अन्य गणराज्य—बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित प्रधान गणराज्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य गणराज्य भी हैं, जिनका एक-दो बार उल्लेख बौद्ध-साहित्य में आया है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) अल्लकप्प के बुली, (२) देवदह और रामगाम के कोलिय, (३) पिप्पलि-

१. V. A. Smith : Early History of India, P. 159.

२. Chulla vagga Vii, I.

३. Fausball : The Jataka, vol I, pp. 65-66.

४. Anguttarnikaya, vol. iv. p. 438.

५. Samyuttanikaya, pt. V. p. 228.

वन के मोरिय, (४) सुंसुमार पर्वत के भग्ग, (५) केसपुत्र के कालाम ।

महात्मा बुद्ध के महापरिनिब्बान के पश्चात् इन गणराज्यों की ओर से भी यह माँग पेश की गई थी, कि हमें भी भगवान् के भस्मावशेष का अंश मिलना चाहिये, ताकि हम उनके उचित सम्मान के लिये स्तूप आदि का निर्माण कर सकें। पिप्पलिवन के मोरियों के अतिरिक्त अन्य राज्यों की माँग पूर्ण भी हो गई थी । पर मोरिय लोग बहुत पीछे पहुँचे थे, तब तक बुद्ध के शरीर के भस्मावशेष बाँटे जा चुके थे । उन्हें राख के अंगारों को लेकर ही सन्तुष्ट होना पड़ा था ।

(३) गणराज्यों की कार्यविधि

मगध के सम्राटों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए जिन अनेक जनपदों को विजय किया था, उनमें से बहुत-से ऐसे थे, जिनमें गणतन्त्र-शासन स्थापित था । वज्जि-संघ, मल्ल, शाक्य, भग्ग, मोरिय आदि जनपद गणराज्य ही थे । महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव एक गण व संघराज्य में ही हुआ था । उनका जीवन संघ के वातावरण में ही व्यतीत हुआ था । यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नये धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना की, तो उसे 'भिक्षु-संघ' नाम दिया । अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय में विद्यमान राजनीतिक संघों को दृष्टि में रखा, और उन्हीं के नियमों व कार्यविधि को अपनाया । बौद्ध-साहित्य द्वारा यह बात भली भाँति स्पष्ट है । जिस समय मगधराज अजातशत्रु का प्रधान मन्त्री वर्षकार बुद्ध के पास वज्जि-राज्यसंघ पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिये गया, उस समय बुद्ध ने सात अपरिहाणीय धर्मों का उपदेश दिया, जिनके पालन करते हुए वज्जियों को जीत सकना उनकी सम्मति में सम्भव नहीं था । वर्षकार के लौट जाने के कुछ देर बाद बुद्ध ने भिक्षुओं को एकत्रित कर उन्हीं सात अपरिहाणीय धर्मों का कुछ परिवर्तन के साथ उपदेश किया । इस प्रसंग में महापरिनिब्बान सुत्तान्त में लिखा है—

"तब भगवान् ने वस्सकार ब्राह्मण के जाने के थोड़ी ही देर बाद आयुष्मान् आनन्द को आमन्त्रित किया ।

"जाओ, आनन्द ! तुम जितने भिक्षु राजगृह के आसपास विचरते हैं, उन सबको उपस्थानशाला में एकत्र करो ।

"अच्छा, भगवन् !

"भगवन् ! भिक्षुसंघ को एकत्र कर दिया । अब आप आज्ञा करें ।"

"तब भगवान् आसन से उठकर जहाँ उपस्थानशाला थी, वहाँ गये और बिछे हुए आसन पर बैठ गये । बैठकर भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—

'भिक्षुओ ! तुम्हें सात अपरिहाणीय धर्मों का उपदेश करता हूँ । उनका ध्यान

से श्रवण करो।'

"कहिये, भगवन् !

"भिक्षुओ, जब तक भिक्षु लोग एक साथ एकत्रित होकर बहुधा अपनी सभायें करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओ ! भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग एक ही बैठक करते रहेंगे, एक ही उत्थान करते रहेंगे और एक ही संघ के कार्यों को सम्पन्न करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग जो अपने संघ में विहित है, उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करेंगे, जो पुराने भिक्षुओं के नियम चले आ रहे हैं, उनका पालन करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग जो अपने में बड़े धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित; संघ के पिता, संघ के नायक, स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करते रहेंगे, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते रहेंगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग पुनः-पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं पड़ेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

"जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग वन की कुटियों में निवास करने की इच्छावाले रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।"

"जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग यह स्मरण रखेंगे, कि भविष्य में सुन्दर ब्रह्मचारी संघ में सम्मिलित हों और सम्मिलित हुए लोग ब्रह्मचारी रहते हुए सुख से निवास करें, तब तक भिक्षु-संघ की वृद्धि होगी, हानि नहीं।

"भिक्षुओ ! जब तक ये सात अपरिहाणीय धर्म भिक्षुओं में रहेंगे, जब तक भिक्षु इन सात अपरिहाणीय धर्मों में दिखाई देंगे, तब तक भिक्षु-संघ की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है, कि अपने संघ के लिये महात्मा बुद्ध ने जिन सात अनुल्लंघनीय धर्मों का प्रतिपादन किया है, वे प्रायः वही हैं जिनका महत्त्व वज्जिसंघ में विद्यमान था। इनमें से पहले चार धर्म तो बिल्कुल वे ही हैं।

यह बात सर्वथा स्वाभाविक थी, कि महात्मा बुद्ध अपने धार्मिक संघ का निर्माण करते हुए अपने समय में विद्यमान राजनीतिक संघों का अनुसरण करते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ की विशेष परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार अनेक नवीन नियमों का भी निर्माण

१. बुद्धचर्या (महापरिनिब्बाण सुत्तान्त) पृ० ५२३-५२४।

किया होगा। पर उनके स्वरूप, कार्यविधि आदि में राजनीतिक संघों से बहुत कुछ सादृश्य होगा, यह बात सर्वथा स्पष्ट और स्वाभाविक है। राजनीतिक संघों की कार्यविधि से हमें विशेष परिचय नहीं है, पर सौभाग्यवश भिक्षु संघ की कार्यविधि का वर्णन बड़े विस्तार के साथ बौद्ध-ग्रन्थों में किया गया है। उसी को दृष्टि में रखकर हम यहां संघराज्यों की कार्यविधि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

भिक्षु-संघ के सदस्यों के बैठने के लिये पृथक्-पृथक् आसन होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिये एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे 'आसनप्रज्ञापक' कहते थे। वैशाली की महासभा में अजित नाम के भिक्षु को इस पद पर नियुक्त किया गया था। चुल्लवग्ग में लिखा है—

"उस समय अजित नाम का दसवर्षीय (जिसकी उपसम्पदा हुए दस वर्ष व्यतीत हो गये हों) भिक्षु भिक्षु-संघ का प्रतिमोक्षोद्देशक (उपोसथ के दिन भिक्षु नियमों की आवृत्ति करने वाला) था। संघ ने आयुष्मान् अजित को ही स्थविर भिक्षुओं का आसनप्रज्ञापक नियत किया।"[1]

संघ में जिस विषय पर विचार होना हो, उसे पहले प्रस्ताव के रूप में पेश किया जाता था। पर प्रस्ताव को उपस्थित करने से पूर्व पहले उसकी सूचना देनी होती थी। इस सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। ज्ञप्ति के बाद प्रस्ताव को बाकायदा उपस्थित किया जाता था। प्रस्ताव के लिये बौद्ध-साहित्य में पारिभाषिक शब्द 'प्रतिज्ञा' है। जो प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) के पक्ष में होते थे, वे चुप रहते थे। जो विरोध में होते थे, वे अपना विरोध प्रकट करते थे। यदि प्रस्ताव उपस्थित होने पर संघ चुप रहे, तो उसे तीन बार पेश किया जाता था। तीनों बार संघ के चुप रहने पर उस प्रस्ताव को स्वीकृत समझ लिया जाता था। विरोध होने पर बहुसम्मति द्वारा निर्णय करने की प्रथा थी। हम इस प्रक्रिया को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं। राजगृह की महासभा में आयुष्मान् महाकश्यप ने सभा को सम्बोधन करके कहा :—

"भिक्षुओ, संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इन पांच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करे। इस काल में अन्य भिक्षु लोग राजगृह में न जाएं। यह ज्ञप्ति (सूचना) है।

"भिक्षुओ, संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इन पांच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करे। इस काल में अन्य भिक्षु लोग राजगृह में न जाएं। जिस आयुष्मान् को पांच सौ भिक्षुओं का राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने

1. *Chullavagga xii, 2, 7.*

के लिए नियुक्त करना और इस काल में अन्य भिक्षुओं को राजगृह में न जाना पसन्द हो, वह चुप रहे। जिसको पसन्द न हो, वह बोले।"

दूसरी बार फिर इसी वाक्य को दुहराया गया। तीसरी बार फिर इसी वाक्य को दुहराया गया। उसके बाद महाकाश्यप ने कहा—

"संघ इन पांच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करने तथा इस काल में अन्य भिक्षुओं के राजगृह में न जाने के प्रस्ताव से सहमत है। संघ को यह पसन्द है। इसलिये चुप है। यह मेरी धारणा है।"

महात्मा बुद्ध के समय में उन्हीं के आदेश से निम्नलिखित प्रस्ताव संघ के सम्मुख उपस्थित किया गया था—

"संघ मेरी बात को सुने। इस भिक्षु उबाल से संघ के बीच में एक अपराध के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। कभी यह अपराध को स्वीकार करता है। कभी उसका निषेध करता है। कभी परस्पर-विरोधी बातें कहता है। कभी दूसरों पर आक्षेप करता है। कभी जानता हुआ भी झूठ बोलता है। यदि संघ पसन्द करे, तो भिक्षु उबाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड दिया जाए। यह ज्ञप्ति (सूचना) है।

"संघ मेरी बात को सुने। इस भिक्षु उबाल से संघ के बीच में एक अपराध के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। कभी यह अपराध को स्वीकार करता है। कभी निषेध करता है। कभी परस्पर-विरोधी बातें कहता है। कभी दूसरों पर आक्षेप करता है। कभी जानता हुआ भी झूठ बोलता है। संघ निश्चय करता है कि इस भिक्षु उबाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड दिया जाए। जो भिक्षु इस भिक्षु उबाल को तस्स-पापीय्यसिका कम्म' का दण्ड देने के पक्ष में हों, वे कृपया चुप रहें। जो इसके पक्ष में न हों, वे बोलें।

"फिर मैं इसी प्रस्ताव को दोहराता हूँ—

"फिर तीसरी बार मैं इसी प्रस्ताव को दोहराता हूँ।

"यह निश्चय हो गया कि इस भिक्षु उबाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड दिया जाए। इसीलिये संघ चुप है। यह मेरी धारणा है।"[१]

इन दो उदाहरणों से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि भिक्षुसंघों में कार्य-विधि किस प्रकार की थी, और किस ढंग से ज्ञप्ति तथा प्रतिज्ञा (प्रस्ताव) पेश किये जाते थे।

भिक्षुसंघ के लिये 'कोरम' (quorum) का भी नियम था। संघ की बैठक के लिये कम-से-कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। यदि कोई कार्य पूरे कोरम के बिना किया जाए, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

---

१. बुद्धचर्या, पृ० ५४८-५४९।

गणपूरक नाम के एक भिक्षुकर्मचारी का कार्य ही यह होता था, कि वह कोरम को पूरा करने का प्रयत्न करे। यह संघ के अधिवेशन के लिये जितने भिक्षुओं की आवश्यकता हो, उन्हें एकत्रित करता था। आजकल की व्यवस्थापिका-सभाओं में जो कार्य ह्विप (whip) करते हैं, प्रायः यह गणपूरक पुराने भिक्षुसंघ में वही कार्य करता था।

जिन प्रस्तावों पर किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होती थी, वे सर्वसम्मति से स्वीकृत समझे जाते थे। उन पर वोट लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। उन पर विवाद भी नहीं होता था। परन्तु यदि किसी प्रश्न पर मतभेद हो, तब उसके पक्ष और विपक्ष में भाषण होते थे और बहुसम्मति द्वारा उसका निर्णय किया जाता था। बहुसम्मति द्वारा निर्णय होने को 'ये भूयस्सिकम्' व 'ये भूयसीयम्' कहते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में वोट के लिये 'छन्द' शब्द है। छन्द का दूसरा अर्थ स्वतन्त्र होता है। इससे यह ध्वनि निकलती है, कि वोट के लिये 'स्वतन्त्रता' को बहुत महत्त्व दिया जाता था।

वोट के लिए प्रयोग में आने वाले टिकटों को 'शलाका' कहते थे। वोट लेने के लिये एक भिक्षु कर्मचारी होता था, जिसे 'शलाकाग्राहक' कहते थे, यह 'शलाका-ग्रहण' (वोट एकत्रित करना) का काम किया करता था।

शलाका-ग्राहक नियुक्त करते हुए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाता था—

(१) जो अपनी रुचि के रास्ते न जाए।
(२) जो द्वेष के रास्ते न जाए।
(३) जो मोह के रास्ते न जाए।
(४) जो भय के रास्ते न जाए।
(५) जो पहले से पकड़े रास्ते न जाए।

वर्तमान शब्दों में हम इन पांच बातों को इस प्रकार कह सकते हैं—

(१) जो नियमों के अनुसार कार्य करे, वोट लेते समय स्वच्छन्द आचरण न करे।
(२) जो निष्पक्षपात हो, किसी पक्ष से द्वेष न करता हो।
(३) जो किसी से पक्षपात न करे, किसी पक्ष से मोह न रखता हो।
(४) जो किसी शक्तिशाली दल या व्यक्ति के भय में न आ सकता हो।
(५) जिसकी सम्मति पहले से ही बनी हुई न हो।

शलाका-ग्राहक को नियुक्त करने के लिए निम्नलिखित पद्धति का अनुसरण किया जाता था—

जिस व्यक्ति का नाम शलाका-ग्राहक के पद के लिये पेश किया जाना हो, पहले उससे यह स्वीकृति ले ली जाती थी कि यदि संघ उसे नियुक्त करे, तो वह पद को

स्वीकृत कर लेगा। उसके पश्चात् कोई योग्य भिक्षु निम्नलिखित प्रस्ताव संघ के सम्मुख उपस्थित करता था—

"संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ पसन्द करे, तो अमुक व्यक्ति को शलाका-ग्राहक पद के लिये नियुक्त किया जाए। यह ज्ञप्ति है।"

इसके पश्चात् नियमानुसार प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) उपस्थित किया जाता था।

वोट लेने के तीन ढंग थे—(१) गूढक, (२) सकर्णजल्पक, और (३) विवृतक। चुल्लवग्ग में इन तीनों पद्धतियों को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

(१) गूढक—शलाका-ग्राहक जितने पक्ष हों, उतने रंगों की शलाकायें बनाता था। क्रम से भिक्षु उसके पास वोट देने के लिये आते थे। प्रत्येक भिक्षु को शलाका-ग्राहक बताता था, कि इस रंग की शलाका इस पक्ष की है। तुम्हें जो पक्ष अभिमत हो, उसकी शलाका उठा लो, वोट देने वाले के शलाका उठा लेने पर वह उसे कहता था, तुमने कौन-सी शलाका उठाई है, यह किसी दूसरे को न कहना।

(२) सकर्णजल्पक—जब वोट देनेवाला भिक्षु शलाका-ग्राहक के कान में कह-कर अपने मत को प्रगट करे, तो उसे 'सकर्णजल्पक' विधि कहा जाता था।

(३) विवृतक—जब वोट खुले रूप में लिया जाए, तो विवृतक विधि होती थी।

जिन प्रश्नों पर भिक्षुसंघ में मतभेद होता था, उनपर अनेक बार बहुत गरमा-गरम बहस हो जाती थी, और निर्णय पर पहुँच सकना कठिन हो जाता था। इस दशा में संघ की एक उपसमिति बना दी जाती थी, जिसे 'उद्वाहिका' या 'उब्बहिका' कहते थे। यह 'उद्वाहिका' विवादग्रस्त विषय पर भलीभाँति विचार कर उसका निर्णय करने में समर्थ होती थी। पर यदि इसमें भी परस्पर-विरोध शान्त न हो, तो 'ये भूय-सीयम्' के अतिरिक्त निर्णय का अन्य कोई उपाय नहीं रहता था।

उद्वाहिका द्वारा किस प्रकार कार्य होता था, इसे स्पष्ट करने के लिए हम बौद्ध-साहित्य से एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

"तब उस विवाद के निर्णय करने के लिए संघ का अधिवेशन किया गया। पर उस विषय का निर्णय करते समय अनर्गल बहस होने लगी। किसी भी कथन का अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता था। तब आयुष्मान् रेवत ने संघ के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया—

'भगवन्, संघ मेरी बात को सुने। हमारे इस विषय को निर्णय करते समय अनर्गल विवाद उत्पन्न हो रहे हैं, किसी बात का भी अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो रहा है, यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इस विषय को उद्वाहिका (उपसमिति) के सुपुर्द करे।"

आयुष्मान् रेवत के प्रस्तावानुसार चार प्राचीनक भिक्षु और चार पावेयक भिक्षु चुने गये। प्राचीनक भिक्षुओं में आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान् साढ़, आयुष्मान् क्षुद्रशोभित और आयुष्मान् वार्षभग्रामिक को लिया गया। पावेयक भिक्षुओं में आयु-

ष्मान् रेवत, आयुष्मान् संभूत साणवासी, आयुष्मान् यश काकंडपुत्त और आयुष्मान् सुमन लिये गये। तब आयुष्मान् रेवत ने संघ के सम्मुख प्रस्ताव उपस्थित किया—

"भगवन्! संघ मेरी बात को सुने। हमारे इस विषय को निर्णय करते समय अनर्गल विवाद उत्पन्न हो रहे हैं, किसी बात का भी अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो रहा है, यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ चार प्राचीनक और चार पावेयक भिक्षुओं की उद्वाहिका को इस विवाद को शमन करने के लिये नियुक्त करे। यह ज्ञप्ति है। इसके बाद तीन बार प्रस्ताव उपस्थित किया गया, और सबके सहमत होने के कारण उस विवाद-ग्रस्त विषय को उद्वाहिका के सुपुर्द कर दिया गया।

संघ की वक्तृताओं तथा अन्य कार्य को उल्लिखित करने के लिए लेखक भी हुआ करते थे। महागोविन्द सुत्तांत (दीर्घनिकाय) के अनुसार "तातविंशदेव सुधम्म-सभा एकत्रित हुए और अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गये। वहाँ उस सभा में चार महाराज इस कार्य के लिये विराजमान थे, कि भाषणों तथा प्रस्तावों को उल्लिखित करें।" तातविंशदेवों की सभा में 'महाराज' की उपाधि से युक्त लेखकों के उपस्थित होने की कल्पना में आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मनुष्यों में जो संस्थाएँ होती हैं, देवों में भी उन्हीं की कल्पना की जाती है। उस समय बौद्ध-संघ तथा राजनीतिक संघों में इस प्रकार के सम्मानास्पद लेखक प्रस्तावों तथा भाषणों को उल्लिखित करने के लिये नियुक्त होते थे। इसीलिये देव-सभा में भी उनकी सत्ता कल्पित की गई थी।

यदि कोई वक्ता संघ में भाषण करते हुए वक्तृता के नियमों का ठीक प्रकार से पालन न करे, परस्पर-विरोधी बातें बोले, पहले कही हुई बात को दोहराये, कटु भाषण करे या इसी प्रकार कोई अन्य अनुचित बात करे, तो उसे दोषी समझा जाता था और इसके लिये उसे उत्तरदायी होना पड़ता था।

जो भिक्षु संघ के अधिवेशन में किसी कारण उपस्थित न हो सकें, उनकी सम्मति लिखितरूप से माँग ली जाती थी। यह आवश्यक नहीं होता था कि इन अनुपस्थित भिक्षुओं की सम्मति का निर्णय के लिये परिगणन अवश्य किया जाए, पर उनकी सम्मति माँगना आवश्यक समझा जाता था। उनकी सम्मति से उपस्थित भिक्षुओं को अपनी सम्मति बनाने में सहायता मिल सके, इसीलिये यह व्यवस्था की गई थी।

बौद्ध-संघ की इस कार्यविधि का अनुशीलन करने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि संघ एक अत्यन्त उन्नत तथा विकसित संस्था थी। कार्यविधि के नियमों की बारीकियों पर उसमें ध्यान दिया जाता था। यह हम पहले बता चुके हैं, कि बौद्ध-संघ का निर्माण राजनीतिक संघों को सम्मुख रखकर किया गया था। कार्यविधि की ये सब बातें राजनीतिक संघों से ही ली गई थीं। बौद्ध-संघ की कार्यविधि के अनुशीलन से यह कल्पना सुगमता के साथ की जा सकती है, कि यही विधि राजनीतिक संघों में भी विद्यमान थी। उनमें भी इसी के अनुसार कार्य होता था।

(४) राजतन्त्र राज्यों के शासन का स्वरूप

बौद्ध-युग के सब राज्यों में एक ही प्रकार का शासन प्रचलित नहीं था। भिन्न-भिन्न राजतन्त्र-राज्यों में राजा की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। यही कारण है, कि जातक-साहित्य तथा अन्य बौद्ध-ग्रन्थों में इस विषय में विविध तथा परस्पर-विरोधी विचार उपलब्ध होते हैं। हम यहाँ इन विचारों को प्रदर्शित करने का यत्न करेंगे।

राजा की स्थिति—बौद्ध-साहित्य के अनुसार राजा राज्य का स्वामी नहीं होता था, उसका कार्य केवल प्रजा का पालन तथा अपराधियों को दण्ड देना ही समझा जाता था। वह व्यक्तियों पर कोई अधिकार नहीं रखता था। जातक-कथा के अनुसार एक बार एक राजा की प्रिय रानी ने अपने पति से यह वर माँगा कि मुझे राज्य पर अमर्यादित अधिकार प्रदान कर दिया जाए। इस पर राजा ने अपनी प्रिय रानी से कहा—'भद्रे ! राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियों पर मेरा कोई भी अधिकार नहीं है, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। मैं तो केवल उनका स्वामी हूँ, जो राजकीय नियमों का उल्लंघन कर अकर्त्तव्य कार्य को करते हैं। अतः मैं तुम्हें राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियों का स्वामित्व प्रदान करने में असमर्थ हूँ।'[1] इससे स्पष्ट है, कि जातक-साहित्य के समय में राजा का अधिकार मर्यादित माना जाता था और वे सम्पूर्ण जनता पर अबाधित-रूप से शासन नहीं कर सकते थे।

राज्य व राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विचार बौद्ध-साहित्य में पाये जाते हैं, वे भी इसी विचार की पुष्टि करने वाले हैं। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पहले राज्यसंस्था नहीं थी, अराजक दशा थी। जब लोगों में लोभ और मोह उत्पन्न हो जाने के कारण 'धर्म' नष्ट हो गया, तो उन्हें राज्यसंस्था के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिये वे एक स्थान पर एकत्रित हुए और अपने में जो सबसे अधिक योग्य, बलवान्, बुद्धिमान् और सुन्दर व्यक्ति था, उसे राजा बनाया गया। एक योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाकर सबने उसके साथ निम्न प्रकार से 'समय' (संविदा या इकरार) किया—"अबसे तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो, जो दण्ड देने योग्य हो और उसे पुरस्कृत किया करो, जो पुरस्कृत होने योग्य हो। इसके बदले में हम तुम्हें अपने क्षेत्रों की उपज का एक भाग प्रदान किया करेंगे"[2] इसके आगे लिखा गया है—"क्योंकि यह व्यक्ति सब द्वारा सम्मत होकर अपने पद पर अधिष्ठित होता है, इसलिये इसे 'महा-सम्मत' कहते हैं। क्योंकि यह क्षेत्रों का रक्षक है, और हानि से जनता की रक्षा करता है, अतः 'क्षत्रिय' कहाता है।"[3] क्योंकि यह प्रजा का रञ्जन करता है, इसलिये

१. भद्दे मय्हं सकलरट्ठवासिनो न किञ्चि होन्ति नाहं तेसं सामिको। ये पन राजानं कोपेत्वा अकत्तब्बं करोति ते सज्जेवाहं सामिकोति इमिना कारणेन न सक्का तुय्हं सकल रट्ठे इस्सरियञ्च दातुं ति ॥
Fusball : The Jataka I, p. 398.

२. Rockhill : Life of the Buddha, p. 3-4.

३. Ibid p. 7

इसे 'राजा' कहा जाता है।" राजा के सम्बन्ध ये विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसी ढंग के विचार महाभारत, शुक्रनीति आदि प्राचीन नीति-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। पर यहाँ हम यही प्रदर्शित करना चाहते हैं, कि बौद्ध-काल में भी राजा के सम्बन्ध में जो विचार प्रचलित थे, वे उसे जनता व राज्य का अमर्यादित स्वामी नहीं बनने दे सकते थे। वे उसकी शक्ति को मर्यादित रखने का ही प्रयत्न करते थे।

पर बौद्ध-काल के सभी राजा शासन में इन उदात्त सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करते थे। जातक-कथाओं में अनेक इस प्रकार के राजाओं का भी उल्लेख आया है, जो अत्याचारी, क्रूर और प्रजापीड़क थे। महापिंगल-जातक में बनारस के एक राजा का उल्लेख आया है, जिसका नाम महापिंगल था। वह अधर्म से प्रजा का शासन करता था। दण्ड, कर आदि द्वारा वह जनता को इस प्रकार पीसता था, जैसे कोल्हू में गन्ना पीसा जाता है। वह बड़ा क्रूर, अत्याचारी और भयंकर राजा था। दूसरों के प्रति उसके हृदय में दया का लवलेश भी न था। अपने कुटुम्ब में भी वह अपनी धर्मपत्नी, सन्तान आदि पर तरह-तरह के अत्याचार करता रहता था।[1]

इसी प्रकार केलिशील-जातक में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का वर्णन करते हुए लिखा है, कि वह बड़ा स्वेच्छाचारी तथा क्रूर राजा था। उसे पुरानी वस्तुओं से बड़ा द्वेष था। वह न केवल पुरानी चीजों को ही नष्ट करने में व्यापृत रहता था, पर साथ ही वृद्ध स्त्री-पुरुषों को तरह-तरह के कष्ट देकर उन्हें मारने में भी उसे बड़ा आनन्द अनुभव होता था। जब वह किसी बूढ़ी स्त्री को देखता, तो उसे बुलाकर पिटवाता था। बूढ़े पुरुषों को वह इस ढंग से जमीन पर लुढ़काता था, मानो वे धातु के बरतन हों।[2]

इसी प्रकार अन्यत्र भी जातक-कथाओं में अत्याचारी और क्रूर राजाओं का वर्णन है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अधिकांश राजा धार्मिक और प्रजा-पालक होते थे। ऊपर जिन राजाओं का ज़िक्र हमने किया है, वैसे राजा जातक-कथाओं में बहुत कम हैं। बौद्ध-काल के राजा प्रायः अपनी 'प्रतिज्ञा' पर दृढ़ रहनेवाले होते थे। जो राजा प्रजा पर अत्याचार करते थे, उनके विरुद्ध विद्रोह भी होते रहते थे। जातक-कथाओं में अनेक राजाओं के विरुद्ध किये गये विद्रोहों तथा राजाओं के पदच्युत किये जाने के उल्लेख मिलते हैं। कुछ उदाहरण हम यहाँ उपस्थित करते हैं—

सच्चंकिर जातक में एक राजा की कथा आती है, जो बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। आखिर, लोग उसके शासन से तंग आ गये और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य सब देशवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि इस राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जाए। इसी के अनुसार एक बार जब वह अत्याचारी राजा हाथी पर जा रहा था, उस पर आक्रमण किया गया और उसे वहीं कत्ल कर दिया गया। राजा को मारकर

१. Cowell : The Jataka Vol. II, p. 166.
२. Ibid Vol. II, p. 99.

जनता ने स्वयं बोधिसत्व को अपना राजा निर्वाचित किया।[1] इसी प्रकार पदकुशलमाणव जातक में एक अत्याचारी राजा के विरुद्ध जनता के विद्रोह का वर्णन आता है। इस राजा के विरुद्ध भड़काते हुए जनता को निम्नलिखित बात कही गई थी— 'जानपद और निगम में एकत्रित जनता मेरी बात पर ध्यान दे। जल में अग्नि प्रज्वलित हो उठी है। जहाँ से हमारी रक्षा होनी चाहिये, वहीं से अब रक्षा के स्थान पर भय हो गया है। राजा और उसका ब्राह्मण पुरोहित राष्ट्र पर अत्याचार कर रहे हैं। अब तुम लोग अपनी रक्षा स्वयं करो। जहाँ तुम्हें शरण मिलनी चाहिये, वही स्थान अब भयंकर हो गया है।[2]

जनता को यह बात समझ में आ गई। उन्होंने मिलकर राजा का घात कर दिया, और इस प्रकार उस अत्याचारी शासक का अन्त हुआ। खण्डहाल जातक में पुष्पवती नगरी के राजा की कथा आती है, जिसका पुरोहित खण्डहाल नाम का ब्राह्मण था। इस खण्डहाल के प्रभाव में आकर राजा बहुत पथभ्रष्ट हो गया, और उसने स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा से अपनी स्त्रियों, बच्चों और प्रजा के मुख्य व्यक्तियों को बलि देने का विचार करना प्रारम्भ किया। उसने सब तैयारी भी कर ली। पर जब इस महान् हत्याकाण्ड का अवसर उपस्थित हुआ, तो जनता इसे सह न सकी और उसने विद्रोह कर दिया। पुरोहित खण्डहाल कतल कर दिया गया, और जनता ने राजा पर भी आक्रमण किया। पर शक्क के हस्तक्षेप करने पर जनता उसे प्राणदान देने के लिए उद्यत हो गई। राजा की जान बच गई, पर उसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि उसे राज्य से च्युत किया जाए और पुष्पवती से बहिष्कृत कर बाहर चाण्डालों के साथ बसने की अनुमति दी जाए। ऐसा ही किया गया, और जनता के विरोध से पुष्पवती के इस अत्याचारी और पथभ्रष्ट राजा के शासन का अन्त हुआ।[3] इन उदाहरणों से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है, कि बौद्ध-काल में अत्याचारी राजाओं के शासन को जनता सहन नहीं कर सकती थी, और अवसर पाकर उन्हें पदच्युत करने में कभी नहीं चूकती थी।

बौद्ध-काल के राजतन्त्र राज्यों में राजा प्रायः वंशक्रमानुगत होते थे। पर राज-सिंहासन पर विराजमान होने के लिए उन्हें यह सिद्ध करना आवश्यक होता था, कि वे राज्यकार्य का संचालन करने के लिए उपयुक्त योग्यता रखते हैं। गामणिचण्ड

१. Cowell : The Jataka, Vol. I, p. 180.

२. ''सुनन्तु मे जानपदा नेगमा च समागता।
यदोदकं तदादित्तं यतो खेमं ततो भयम्॥
राजा विलुम्पते रट्ठं ब्राह्मणो च पुरोहितो।
अत्तगुत्ता विहरथ जाते सरणोत भजयम्॥
Fausball : The Jataka, Vol. III, p. 513.

३. Cowell : The Jataka, Vol. vi, p. 79.

जातक में कथा आती है, कि जब बनारस के राजा जनसंध की मृत्यु हो गई, तो आमात्यों ने विचार किया कि राजकुमार की आयु बहुत कम है, अतः उसे राजा नहीं बनाना चाहिये। फिर विचार के अनन्तर उन्होंने यह निर्णय किया कि राजगद्दी पर बिठाने से पूर्व कुमार की परीक्षा करना आवश्यक है। कुमार को न्यायालय (विनिश्चय-स्थान) में ले जाया गया, और वहाँ उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली गई। जब उसने यह सिद्ध कर दिया कि राजा के लिए आवश्यक सब गुण उसमें विद्यमान हैं, तभी उसे वह पद दिया गया।[1]

पादंजलि जातक की कथा इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण है। बनारस के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। उसने अपने 'अर्थधर्मानुशासक अमात्य' के पद पर बोधिसत्व को नियत किया हुआ था। राजा का एक लड़का था, जिसका नाम पादंजलि था। यह बहुत आलसी और सुस्त था। कुछ समय पश्चात् राजा ब्रह्मदत्त की मृत्यु हो गई और अमात्यों ने पादंजलि को राजा बनाने के लिए विचार करना प्रारम्भ किया। पर 'अर्थधर्मानुशासक अमात्य' बोधिसत्व ने उन्हें कहा—'यह पादंजलि अत्यन्त आलसी और सुस्त आदमी है। क्या यह उचित है कि हम इसे राजा बनाएं?' अमात्यों ने निश्चय किया कि उसकी परीक्षा लेकर इस बात का निर्णय किया जायगा। वे उसे विनिश्चय स्थान (न्यायालय) में ले गए, और एक अभियुक्त के मुकदमे का अशुद्ध फैसला कर पादंजलि से बोले—'कुमार! क्या हमने ठीक निर्णय किया है?' पादंजलि ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अपने ओठों को चलाता रहा। बोधिसत्व ने सोचा—यह एक बुद्धिमान लड़का है, उसने यह बात भांप ली है, कि हमने अशुद्ध निर्णय किया है। इसीलिए वह अपने ओंठ इस प्रकार चला रहा है। अगले दिन फिर पादंजलि को न्यायालय में लाया गया। फिर एक अभियुक्त का मुकदमा पेश किया गया। पर इस दिन उसका निर्णय ठीक-ठीक किया गया। मुकदमे की समाप्ति पर फिर कुमार से पूछा गया, कि 'कुमार, क्या हमने ठीक फैसला किया है?' पादंजलि फिर उसी तरह चुप बैठा रहा, और अपने ओठों को चबाता रहा। अब बोधिसत्व को ज्ञात हो गया कि पादंजलि वज्रमूर्ख है। उसमें सच व झूठ का विवेक करने की शक्ति नहीं है। अन्त में अमात्यों ने यही निश्चय किया, कि उसे राजा न बनाया जाए। उन्होंने राजपुत्र होते हुए भी पादंजलि को राजगद्दी नहीं दी और बोधिसत्व को राजा निश्चित किया।[2] इस कथा से बिलकुल स्पष्ट है, कि राजा बनने की योग्यता का निर्णय अमात्य लोग किया करते थे। सामान्य दशा में राजा का लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। पर यदि वह योग्य न हो, या उसकी योग्यता के सम्बन्ध में विवाद हो, तो अमात्य लोग उसकी परीक्षा लेते थे और परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने

१. Cowell : The Jataka vol. II, pp. 207-215.
२. Ibid vol. II, pp. 183-184,

पर किसी अन्य को राज्य प्रदान कर सकते थे।

शासन करने की योग्यता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी राजा के लिए ध्यान में रखी जाती थीं। अन्धे व विकलांग व्यक्ति को राजा नहीं बनाया जाता था। शिविजातक में अरिट्ठपुर के राजा शिवि की कथा आती है, जो बड़ा दानी था। उसके दान की कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। एक बार एक अन्धे भिक्षुक ब्राह्मण ने उससे आँखों की भिक्षा मांगी। राजा शिवि तैयार हो गया और उसने अपनी आँखें उस भिक्षुक को प्रदान कर दीं। स्वयं अन्धा हो जाने पर राजा शिवि ने सोचा कि अन्धे आदमी के राजसिंहासन पर बैठने का क्या लाभ है। वह अपने अमात्यों के हाथ में राज्य को सुपुर्द कर स्वयं वन में चला गया, और वहाँ तापस के रूप में जीवन व्यतीत करने लगा।[१] इसी प्रकार सम्बुल जातक में बनारस के राजकुमार सोट्ठिसेन की कथा आती है, जो कोढ़ से पीड़ित था और इसी रोग से ग्रस्त होने के कारण राजप्रासाद को छोड़कर जंगल में चला गया था। वह तब तक अपने राज्य में वापस नहीं लौटा, जब तक कि उसकी धर्मपत्नी सम्बुला की सेवा से उसका रोग पूर्णतया दूर नहीं हो गया। कोढ़ से पीड़ित होने के कारण वह अपने को राजसिंहासन के योग्य नहीं समझता था।[२]

सामान्यतया राजतन्त्र-राज्यों में राजा का बड़ा लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। इसीलिए राजा लोग सन्तान के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। सन्तान की इच्छा से वे बहुविवाह में भी संकोच नहीं करते थे। पर यदि राजा के कोई सन्तान न हो, तो राजगद्दी राजा के भाई को प्राप्त हो सकती थी।[३] अनेक बार जामाता को भी राजगद्दी प्राप्त हो सकती थी।[४] कुछ दशाओं में राजा की विधवा रानी अमात्यवर्ग की सहायता से राज्य का संचालन करती थी। उदय जातक में कथा आती है, कि राजा उदय के पश्चात् उसकी रानी उदयभद्दा ने शासन किया और अमात्यों की सहायता से वह सफलतापूर्वक शासन करती रही।[५] इसी प्रकार घट जातक में एक स्त्री के शासन का उल्लेख है।[६]

यह पहले प्रदर्शित किया ही जा चुका है, कि अनेक बार जब राजकुमार शासन करने के अयोग्य हो, तो अमात्य लोग उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठा सकते थे। पर कई बार राजगद्दी का प्रश्न बहुत विवादग्रस्त हो जाता था, और लोग इस बात पर एकमत नहीं हो सकते थे कि राजा किसे बनाया

१. Cowell, The Jataka, vol. IV, p. 254.
२. Ibid vol. V, pp 48-53.
३. Ibid vol. II, pp. 251-260.
४. Ibid vol. II, p 224.
५. Ibid vol. IV, p. 67.
६. Ibid vol. IV, p. 50.

जाय। इस दशा में एक बड़े अद्भुत उपाय का अवलम्बन किया जाता था। अमात्य लोग एक पुष्परथ-निकालते थे, जिसके साथ राजत्व के पाचों चिह्न रहते थे। ये पाँच राजचिह्न निम्नलिखित होते थे—हाथी, घोड़ा, छत्र, चामर और कुम्भ। यह रथ चलते-चलते जिस व्यक्ति के समीप ठहर जाता था, उसे राजा बना दिया जाता था। जातक-साहित्य में अनेक राजाओं के इसी पद्धति से राज्याभिषिक्त होने की कथा मिलती है। दरीमुख जातक के अनुसार बनारस का राजा सन्तानहीन था। जब उसकी मृत्यु हो गई, तो अमात्यों के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न हुई, कि राजा किसे बनाया जाए। अन्त में पुष्परथ की पद्धति का आश्रय लिया गया और उससे बोधिसत्व का राजा बनाया जाना निश्चित हुआ।[१] निग्रोध जातक में कुमार निग्रोध की कथा आती है, जो बहुत गरीब घर का था। वह तक्षशिला से शिक्षा समाप्त कर कुछ साथियों के साथ अपने घर को वापस जा रहा था। मार्ग में वह काशी में ठहर गया। वहाँ राजा कौन हो, इस समस्या का हल करने के लिए पुष्परथ निकाला गया था। पुष्परथ कुमार निग्रोध के पास आकर ठहर गया, और उसे ही काशी का राजा बना दिया गया।[२]

बौद्ध-काल के अनेक राज्यों में राजकुमार लोग अपने पिता के जीवित होते हुए भी स्वयं राज्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। मगध के अनेक सम्राट् पितृघाती थे। उन्होंने अपने पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया था। प्रसिद्ध सम्राट् अजातशत्रु ने राज्य प्राप्त करने के लिए अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था। जातक-कथाओं में भी अनेक कुमारों का उल्लेख है, जिन्होंने अपने पिता के जीवन-काल में ही स्वयं राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया। संकिच जातक के अनुसार बनारस के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। उसका एक लड़का था, जिसका नाम भी ब्रह्मदत्त रखा गया। जब कुमार ब्रह्मदत्त तक्षशिला से अपनी शिक्षा समाप्त कर वापस आया, तो उसने सोचा—"मेरे पिता की आयु अभी बहुत कम है, वह तो मेरे बड़े भाई के समान है। यदि मैं उसकी मृत्यु तक राज्य के लिए प्रतीक्षा करूँगा, तो राजा बनने तक मैं बूढ़ा हो जाऊँगा। बूढ़ा होकर राजा बनने से क्या लाभ होगा? मैं अपने पिता का घात कर दूँगा और इस प्रकार राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त कर लूँगा। उसने यही किया और एक षड्यन्त्र द्वारा अपने पिता को मारकर स्वयं राजा बन गया।[३]

इसी प्रकार की अनेक अन्य कथाएँ जातक-साहित्य में उपलब्ध होती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि भारत के अनेक राज्यों में उस समय यह प्रवृत्ति प्रादुर्भूत

१. Cowell. The Jataka vol. III, p. 157.
२. Ibid vol. IV, p. 25.
३. Ibid vol. V, p. 135.

हो चुकी थी। पर दूसरी तरफ ऐसे राज्य भी थे, जिनमें राजाओं के लिए 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां' का प्राचीन आदर्श प्रयोग में आ रहा था, और राजा लोग वृद्धावस्था के आते ही अपना राज्य-कार्य लड़के को प्रदान कर स्वयं मुनिवृत्ति धारण कर लेते थे। शंखपाल जातक में राजगृह के एक राजा का उल्लेख है, जिसने वृद्धावस्था में पदार्पण करते ही अपना राज्य राजकुमार दुर्योधन को प्रदान कर दिया था और स्वयं नगर से बाहर तापस का जीवन बिताना प्रारम्भ किया था।[1] इसी प्रकार निमि जातक में मिथिला के राजा मखादेव की कथा आती है। उसने अपने नाई को कहा हुआ था, कि जब वह उसके सिर पर सफेद बाल देखे, तो उसे सूचना दे। शुरू-शुरू में जब नाई ने राजा को सफेद बालों की सूचना दी, तो राजा ने आज्ञा दी कि इन्हें उखाड़कर मेरे हाथ में देते जाओ। कुछ समय तक नाई यही करता रहा। पर जब राजा ने अनुभव किया कि उसके बाल निरन्तर श्वेत होते जा रहे हैं, और पूर्णतया वृद्धावस्था आ गई है, तो उसने अपने बड़े लड़के को बुलाया और राज्य-संचालन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश देकर स्वयं तापस-जीवन स्वीकृत कर लिया। न केवल राजा मखादेव, अपितु उसके पुत्र-पौत्र आदि ने भी इसी प्रकार स्वयं वृद्धावस्था में राज्य का परित्याग किया था।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि भारत की प्राचीन परम्परा बौद्ध-काल में भी अवशिष्ट थी।

यद्यपि बौद्ध-काल में अच्छे और बुरे सब प्रकार के राजा विद्यमान थे, पर प्रयत्न इसी बात का रहता था, कि उन्हें सन्मार्ग पर लाया जाए। एकपण्ण जातक में एक राजकुमार की कथा आती है, जो बहुत पथभ्रष्ट तथा भयंकर प्रकृति का था। अमात्यों, ब्राह्मणों और जनपदवासियों ने बहुत प्रयत्न किया कि उसे दुरुस्त करें, पर वह किसी के काबू में नहीं आया। आखिर, बोधिसत्व ने उसे शिक्षा दी। वह उसे एक नीम के छोटे से पौदे के पास ले गया और उसे कहा—'कुमार, इस पौधे के एक पत्ते को चखकर तो देखो, यह कैसा लगता है?' कुमार ने ऐसा ही किया। ज्यों ही उसने उस पत्ते को मुँह में डाला, कड़वाहट से उसका सारा मुँह भर गया और उसने उसे थूककर बाहर फेंक दिया। इतनी ही नहीं, उसने उस छोटे-से पौधे को भी उखाड़ लिया और तोड़-मोड़कर हाथ से मसलकर फेंक दिया। बोधिसत्व ने पूछा—'कुमार, यह क्या करते हो?' कुमार ने उत्तर दिया—'अभी तो यह पौधा इतना छोटा है, जब यह अभी से इतनी कड़वाहट उत्पन्न करता है, तो आगे चलकर तो पता नहीं कितना जहर उगलेगा।' यह सुनकर बोधिसत्व ने कहा—'कुमार, यह सोचकर कि यह कड़वा पौधा आगे चलकर कितना जहर उगलेगा, तुमने इसे उखाड़कर मसलकर फेंक दिया है। तुमने जो व्यवहार इस पौधे के साथ किया है, वही इस राज्य के

१. Cowell : The Jataka, vol. V, p. 84.
२. Cowell : The Jataka, vol VI, p. 53.

निवासी तुम्हारे साथ करेंगे। यह सोचकर कि यह पथभ्रष्ट, भयंकर प्रकृति का कुमार आगे चलकर कितना अनर्थ करेगा, वे तुम्हें भी राजगद्दी पर बिठाने के बजाय उखाड़कर फेंक देंगे। इसलिए इस पौधे से शिक्षा ग्रहण करो और आगे से दया और स्नेह का बरताव करो।[१] इसमें सन्देह नहीं, कि जनता के विद्रोह का भय बौद्ध-काल के राजाओं को सदा बना रहता था, और इस डर से कि कहीं जनता हमें पदच्युत न कर दे, वे सन्मार्ग पर कायम रहते थे।

बौद्ध-साहित्य में राजा के दस धर्मों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। ये दस धर्म निम्नलिखित हैं—दान, शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव, तप, अक्रोध, अविहिंसा, क्षान्ति, और अविरोधन।[२] राजाओं में इन गुणों की सत्ता बहुत आवश्यक और लाभकर मानी जाती थी। राजाओं से दानशीलता की आशा उस समय बहुत अधिक की जाती थी। जातक-साहित्य में अनेक राजाओं की दानशक्ति का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। चुल्लपद्म जातक में वाराणसी के राजा पद्म की कथा आती है, जो अत्यन्त दानी था। उसने वहाँ छः दानगृह बनवाये हुए थे। चार दानगृह वाराणसी के चारों द्वारों पर बने हुए थे, एक नगर के ठीक बीच में और छठा राजप्रासाद के सामने। इन दानगृहों से प्रतिदिन छः लाख मुद्रायें दान दी जाती थीं।[३] इसी प्रकार का वर्णन अन्य अनेक राजाओं के सम्बन्ध में भी आता है।

बौद्ध-काल के राजा बड़े वैभव और शान-शौकत के साथ निवास करते थे। जातक-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उनके जुलूसों, सवारियों तथा राजप्रासादों का वर्णन आता है। राजा लोग तमाशों, खेलों और संगीत आदि का भी बहुत शौक रखते थे। शिकार उनके आमोद-प्रमोद का महत्त्वपूर्ण साधन होता था। राजाओं के अन्तःपुर भी बहुत बड़े होते थे। अन्तःपुर में प्रचुर संख्या में स्त्रियों को रखना एक शान की बात समझी जाती थी। सुरुचि जातक के अनुसार बनारस के राजा ने निश्चय किया कि वह अपनी कन्या का विवाह ऐसे कुमार के साथ ही करेगा, जो एकपत्नीव्रत रहने का प्रण करे। मिथिला के कुमार सुरुचि के साथ कुमारी, जिसका नाम सुमेधा था, के विवाह की बात चल रही थी—मिथिला के राजदूतों ने एकपत्नीव्रत होने की शर्त को सुना, तो वे कहने लगे—'हमारा राज्य बहुत बड़ा है। मिथिला नगरी का सात योजन विस्तार है। सारे राज्य का विस्तार ३०० योजन है। ऐसे राज्य के राजा के अन्तःपुर में कम-से-कम सोलह हजार रानियाँ अवश्य होनी चाहियें।'[४] जातक-कथाओं

१. Cowell : The Jataka, vol I, pp. 318-319.

२. "दानं सीलं परिच्चागं अज्जवं मद्दवं तपम्।
अक्कोधं अविहिंसा च खान्ति च अविरोधनम्॥"
Fausball : The Jataka vol. III, p. 274.

३. Cowell : The Jataka vol. II, 83.

४. Ibid. vol, IV p. 199.

में बहुत-से ऐसे राजाओं का वर्णन भी आता है, जिनके अन्तःपुर में हजारों स्त्रियाँ रहती थीं।

राजा के अमात्य—राजतन्त्र-राज्यों में राजा के अतिरिक्त अमात्यों का शासन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। जातक-साहित्य में स्थान-स्थान पर अमात्यों का ज़िक्र आता है। ये अमात्य संख्या में बहुत-से होते थे और राजा को शासन-सम्बन्धी सब विषयों में परामर्श देने का कार्य करते थे। अमात्यों के लिये सब विद्याओं व शिल्पों में निष्णात होना आवश्यक माना जाता था।[१] राजा की मृत्यु के अनन्तर राज्य का संचालन अमात्य लोग करते थे। सात दिन के पश्चात् जब स्वर्गीय राजा की और्ध्व-देहिक क्रियायें समाप्त हो जाती थीं, तब वे ही इस बात का निश्चय करते थे, कि राज-गद्दी पर कौन विराजमान हो।[२] राजा की अनुपस्थिति या शासन-कार्य में असमर्थता की दशा में भी वे शासन-सूत्र को अपने हाथों में कर लेते थे।[३] प्राचीन भारत के राजतन्त्र-राज्यों में मन्त्रिपरिषद् का बड़ा महत्त्व होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जातक-कथाओं में जिन 'अमात्यों' का उल्लेख आता है, वे इसी प्राचीन मन्त्रिपरिषद् को सूचित करते हैं। अमात्यों में सबसे प्रधान स्थान पुरोहित का होता था। पुरोहित राजा के 'धर्म और अर्थ' दोनों का अनुशासक होता था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार प्रथम राजा, जिसे 'महासम्मत' कहा गया है—को भी पुरोहित नियुक्त करने की आवश्यकता हुई थी।[४] पुरोहित का पद प्रायः वंशक्रमानुगत होता था। एक ही परिवार के व्यक्तियों को वंशक्रमानुगत रूप से पुरोहित के महत्त्वपूर्ण पद पर नियत किया जाता था।[५] पर राजा की तरह पुरोहित का पद भी पूर्ण रूप से एक वंश में नहीं रह पाता था। अनेक बार पुरोहित की नियुक्ति पर वाद-विवाद भी होते थे,[६] और नये व्यक्तियों को इस पद पर नियत कर दिया जाता था।[७]

पुरोहित के सम्बन्ध में जो विचार प्राचीन नीति-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनकी पुष्टि जातक-साहित्य द्वारा भी होती है। पुरोहित का अनुसरण राजा को उसी प्रकार करना चाहिये, जैसे पुत्र पिता का या शिष्य गुरु का करता है। जातक-कथाओं के अनुसार भी पुरोहित राजा को पथभ्रष्ट होने की दशा में सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता था, इसके लिये उसे डांटता-डपटता भी था।[८] तिलमुट्ठि जातक के अनुसार

१. Cowell : The Jataka, vol II, p. 51.
२. Ibid. vol. III, p. 157.
३. Ibid vol. IV, p. 233.
४. Ibid vol. III, p. 272.
५. Ibid vol. III, p. 237.
६. Ibid vol. II, p. 33.
७. Ibid vol. III, p. 128.
८. Ibid vol. III, p. 197.

बनारस के राजा ब्रह्मदत्त ने तक्षशिला के अपने आचार्य को पुरोहित के पद पर नियत किया था, और वह उसका उसी प्रकार अनुसरण करता था, जैसे पुत्र अपने पिता का करता है।[1]

पुरोहित के अतिरिक्त अन्य भी अनेक अमात्यों के नाम जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें सेनापति, भाण्डागारिक, विनिश्चयामात्य और रज्जुक के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सेनापति का कार्य जहाँ सैन्य का संचालन करना होता था, वहाँ साथ ही वह एक मन्त्री के रूप में भी कार्य करता था। एक कथा से यह भी सूचित होता है, कि वह मुकदमों का निर्णय करने का भी कार्य करता था।[2] एक स्थान पर सेनापति को अमात्यों का प्रमुख भी लिखा गया है।[3] विनिश्चयामात्य न्यायमन्त्री को कहते थे। यह जहाँ मुकदमों का फैसला करता था, वहाँ राजा को धर्म तथा कानून सम्बन्धी मामलों में परामर्श भी देता था।[4] भाण्डागारिक कोषाध्यक्ष को कहते थे। भाण्डागारिक प्रायः किसी अत्यन्त सम्पत्तिशाली व्यक्ति को बनाया जाता था। एक भाण्डागारिक की सम्पत्ति ८० करोड़ लिखी गई है।[5] रज्जुक सम्भवतः भूमि की पैमाइश आदि करके मालगुजारी वसूल करने वाले अमात्य को कहते थे। इनके अतिरिक्त दोणमापक, हिरण्यक, सारथी, दौवारिक आदि अन्य अनेक राजकर्मचारियों के नाम भी जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध-काल में शहर के कोतवाल को नगरगुत्तिक कहते थे। यह नगर की शान्तिरक्षा का उत्तरदायी होता था। इसे एक स्थान पर 'रात्रि का राजा' भी कहा गया है। पर पुलिस के ये कर्मचारी बौद्ध-काल में भी रिश्वतों से मुक्त नहीं थे। सुलसा जातक में कथा आती है, कि सुलसा नामक वेश्या ने सत्तक नामक डाकू के रूप पर मुग्ध होकर उसे छुड़ाने के लिये पुलिस के कर्मचारी को एक हजार मुद्रायें रिश्वत के रूप में दी थीं, और इस धनराशि से वह सत्तक को छुड़वाने में सफल हो गई थी।[6]

जातक-कथाओं से बौद्ध-काल की सेनाओं के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश मिलते हैं। सेनाएँ प्रायः अपने राज्य के निवासियों द्वारा ही बनी होती थीं। विदेशी सैनिकों व नये सैनिकों को पसन्द नहीं किया जाता था। स्वदेशी और पितृ-पैतामह सैनिकों को उत्तम माना जाता था। धूमकारि जातक में कथा आती है कि कुरुदेश के इन्द्रपत्तन नगर के राजा धनञ्जय ने अपने पुराने सैनिकों की उपेक्षा कर नवीन सैनिकों को सेना में भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया। जब उसके सीमाप्रान्त पर युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो

१. Cowell : The Jataka, vol. II, p. 186.
२. Ibid vol. II, p. 139.
३. Ibid vol. V, p. 92.
४. Ibid vol. II, p. 259.
५. Ibid vol. I p. 286.
६. Ibid vol. III, p. 261.

उसे इन नये सैनिकों के कारण परास्त होना पड़ा। परिणाम यह हुआ, कि उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप हुआ और उसने फिर पुरानी सेनाओं के बल पर विजय प्राप्त की।[१] बौद्धकालीन राज्यों में सीमा-प्रदेशों पर सदा कुछ-न-कुछ अव्यवस्था कायम रहती थी। जातक-कथाओं में स्थान-स्थान पर सीमावर्ती विद्रोहों व युद्धों का उल्लेख आता है।

पुर और जनपद—बौद्ध-काल में भी राज्य पुर और जनपद इन दो विभागों में विभक्त किये जाते थे। पुर राजधानी को कहते थे और राजधानी के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण राज्य को जनपद कहा जाता था। जनपद में विद्यमान विविध ग्रामों का शासन किस प्रकार होता था, इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। ग्राम के शासक को ग्रामभोजक कहते थे। ग्रामभोजक बहुत महत्त्वपूर्ण पद समझा जाता था, इसीलिये इसके साथ अमात्य विशेषण भी आता है।[२] ग्रामभोजक ग्राम-सम्बन्धी सब विषयों का संचालन करता था। उसे न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे।[३] शराबखोरी को नियन्त्रित करना तथा शराब की दुकान के लिये लाइसेंस देना भी उसी के अधिकार में था।[४] दुर्भिक्ष पड़ने पर गरीब जनता की सहायता करना ग्रामभोजक का ही कार्य था।[५] एक स्थान पर यह भी जिक्र आता है, कि ग्रामभोजक ने पशुहिंसा और शराब का सर्वथा निषेध कर दिया था।[६] ग्रामभोजक की स्थिति राजा के अधीन होती थी। उसके शासन के विरुद्ध राजा के पास अपील की जा सकती थी, और राजा उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर नियुक्त कर सकता था।[७] पानीय जातक में कथा आती है, कि काशी-राज्य के दो ग्रामभोजकों ने अपने-अपने ग्रामों में पशुहिंसा तथा शराब पीने का सर्वथा निषेध कर दिया था। इसपर उन ग्रामों के निवासियों ने राजा से प्रार्थना की, कि हमारे ग्रामों में यह प्रथा देर से चली आ रही है, और इन्हें इस प्रकार निषिद्ध नहीं करना चाहिये। राजा ने ग्रामवासियों की प्रार्थना को स्वीकृत कर लिया और ग्रामभोजकों की वे आज्ञायें रद्द कर दीं।[८] इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रामभोजकों के शासन पर राजा का नियन्त्रण पूर्णरूप से विद्यमान था।

न्याय-व्यवस्था—बौद्ध-काल में न्याय-व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध

१. Cowell : The Jataka, vol. III, p. 242.
२. Ibid vol. I, p. 354.
३. Ibid vol. I, p. 483.
४. Ibid vol. I, p. 198.
५. Ibid vol. II, p. 135.
६. Ibid vol. IV, p. 115.
७. Ibid vol. I, p. 354.
८. Ibid vol. IV, p. 14.

में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में मिलते हैं। उस काल में न्याय इतनी पूर्णता को पहुँचा हुआ था, कि बहुत कम मुकदमे न्यायलयों के सम्मुख पेश होते थे। राजोवाद जातक में लिखा है, कि बनारस के राज्य में न्याययुक्त शासन के कारण एक भी अभियोग न्यायालय के सम्मुख उपस्थित नहीं होता था। इसी प्रकार की बात अन्यत्र भी जातकों में लिखी गई है। उस काल में न्याय कितना पूर्ण तथा निष्पक्षपात होता था, इसका एक दृष्टान्त चुल्लवग्ग में मिलता है। श्रावस्ती में एक गृहपति निवास करता था, जिसका नाम सुदत्त था। वह अनाथों का बड़ा सहायक था, इसीलिये उसे 'अनाथपिण्डक' भी कहते थे। श्रावस्ती के राजकुमार का नाम जेत था। कुमार जेत के पास एक उद्यान था, जो शहर के न बहुत समीप था, न बहुत दूर। यहाँ आने-जाने की बहुत सुविधा थी और यह एकान्तवास के लिये भी बहुत उपयुक्त था। अनाथपिण्डक ने महात्मा बुद्ध को श्रावस्ती पधारने के लिये निमन्त्रित किया हुआ था। उसके सम्मुख यह समस्या थी कि महात्मा बुद्ध के ठहरने के लिये किस स्थान पर प्रबन्ध किया जाए। उसने सोचा, कुमार जेत का उपवन इस कार्य के लिये बहुत उपयुक्त है। वह कुमार के पास गया और उससे कहा—"कुमार, यह उद्यान मुझे दे दो, मैं इसमें आराम का निर्माण करूँगा।' कुमार जेत ने उत्तर दिया—'गृहपति! यह उद्यान तब तक नहीं बिक सकता, जब तक इसके लिये सौ करोड़ मुद्राएं न दी जाएं।'

'मैं इस कीमत पर इस उद्यान को खरीदता हूँ।'

'नहीं गृहपति, यह उद्यान नहीं बिक सकता।'

अनाथपिण्डक सुदत्त का खयाल था, कि जब वह कुमार जेत द्वारा माँगी हुई कीमत को देने के लिये तैयार हो गया, तो उद्यान उसका हो गया। पर कुमार जेत यह स्वीकृत नहीं करता था। आखिर इस बात का फैसला कराने के लिये वे व्यावहारिक महामात्रों के पास गये। उन्होंने मुकदमे को सुनकर यह निर्णय किया—'कुमार ने जो मूल्य निश्चित किया था, वह गृहपति देने को तैयार हैं, अतः उद्यान बिक गया है।'[1]

इस मुकदमे में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इसमें एक राजकुमार और एक सामान्य गृहपति वादी और प्रतिवादी थे। पर न्यायाधीशों ने राजकुमार का पक्ष न लेकर निष्पक्ष रूप से निर्णय करने का प्रयत्न किया और गृहपति सुदत्त के पक्ष में फैसला दिया। इससे स्पष्ट है, कि बौद्ध-काल के न्यायाधीश अपना कार्य करते हुए व्यक्तियों का ख्याल नहीं करते थे। निष्पक्ष न्याय ही उनकी दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण विचार होता था।

१. 'उपसंकमित्वा जेतं कुमारं एतद अवोच—देहि मे अय्यपुत्त उय्यानं आरामं कातुम् ति। अदेय्यो गहपति आरामो अपि कोटिसन्थरेना ति। गहितो अय्यपुत्त आरामो ति। न गहपति गहितो आरामो ति। गहितो न गहितो ति वोहारिके महामत्ते पुच्छिंसु। महामत्ता एवम् आहंसु यतो तया अय्यपुत्त अग्घो कतो गहितो आरामो ति।' Chulla Vagga VI, 4, 9.

इस काल में यद्यपि न्याय निष्पक्ष तथा उचित होता था, पर दण्ड बड़े भयंकर दिये जाते थे। दण्ड देते हुए शारीरिक कष्ट तथा अंग भंग को अनुचित नहीं समझा जाता था। एक डाकू को यह सज़ा दी गई, कि उसके हाथ, पैर, नाक, कान काटकर एक नौका में डाल दिया जाय और नौका को गंगा में बहा दिया जाय। एक डाकू को दी गई सज़ा के अनुसार उसे कांटेदार कोड़ों से बुरी तरह पीटा गया, कुल मिलाकर हज़ार कोड़े मारे गये। हाथी द्वारा कुचलवाकर मारने का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर आता है।

छठा अध्याय

प्राचीन भारत के जनपद् और उनका शासन

(१) जनपद का स्वरूप

इस ग्रन्थ में हमने अनेक बार 'जनपद' शब्द का प्रयोग किया है। जनपद शब्द का प्रयोग हमने प्राय: उसी अर्थ में किया है, जिसमें कि वर्तमान समय में 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर प्राचीन जनपदों का स्वरूप आधुनिक राज्यों से भिन्न था। भारतीय इतिहास के प्राचीन काल में राजनीतिक दृष्टि से संगठित मानव-समुदाय के लिये जनपद शब्द का ही प्रयोग होता था। बौद्ध-साहित्य में सोलह महाजन-पदों का उल्लेख आया है, और साथ ही अन्य भी बहुत से जनपदों का। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटलीय अर्थशास्त्र आदि अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी जनपद शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक साहित्य में जनपद के लिये 'राष्ट्र' शब्द प्रयुक्त किया गया है। यह आवश्यक है कि इन प्राचीन जनपदों के स्वरूप को स्पष्ट किया जाए।

भारत के इन प्राचीन जनपदों का स्वरूप प्राय: वैसा ही था, जैसा कि प्राचीन ग्रीस में 'पोलिस' (Polis) और प्राचीन इटली में 'सिवितास' (Civitas) का था। ऐतिहासिकों ने इन को नगर-राज्य (City-state) की संज्ञा दी है। बाद में जिस प्रकार मैसिडोनिया ने ग्रीस के और रोम ने इटली के नगर-राज्यों को जीत कर अपने विशाल सार्वभौम साम्राज्यों का निर्माण किया, वैसे ही भारत में मगध के शक्तिशाली राजाओं ने विविध जनपदों को विजय कर अपने विशाल साम्राज्य को विकसित किया। प्राचीन ग्रीक, लैटिन और भारतीय एक ही विशाल आर्य-जाति की विभिन्न शाखाएँ थीं। जहाँ उनकी भाषा, धर्म व संस्कृति में अनेक विध समताएँ थीं, वहाँ उनकी राज्यसंस्थाएँ भी एक-दूसरे से मिलती-जुलती थीं।

प्राचीन ग्रीक नगर-राज्य विविध ग्रामों के समुदाय थे। जिन ग्रामों व ग्राम-संस्थाओं (Village Communities) से मिलकर उनका निर्माण हुआ था, उनकी विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—(१) यह माना जाता था, कि ग्राम के सब निवासी 'सजात' हैं। उनकी उत्पत्ति एक ही मूल पुरुष से हुई है। रक्त की एकता उनमें सहानुभूति को उत्पन्न करती थी। ग्राम का निर्माण अनेक परिवारों, कुलों या गोत्रों से मिलकर होता था, जो सब अपने को 'सजात' समझते थे। (२) ग्राम का शासन

एक ऐसी सभा के अधीन रहता था, जिसमें ग्राम के अन्तर्गत विविध परिवारों के मुखिया या 'कुलमुख्य' सम्मिलित होते थे। संपूर्ण ग्राम का प्रधान (headman) इन्हीं कुल-मुख्यों में से एक होता था, जो सभा के अधिवेशनों का सभापतित्व भी किया करता था। (३) यह समझा जाता था, कि ग्राम की सब भूमि ग्राम की सम्पत्ति है। भूमि पर किसी व्यक्ति का स्वत्व न होकर सम्पूर्ण ग्राम का स्वामित्व होता था। इसीलिये जो किसान उस पर खेती करते थे, वे अपनी उपज का एक अंश लगाने के रूप में ग्राम संस्था को प्रदान किया करते थे। (४) प्रत्येक ग्राम की अपनी पूजा-विधि होती थी, और अपने पृथक् देवता।

एक कबीले या जन (tribe) की जो विविध ग्राम-संस्थाएँ थीं, उन्होंने आत्म-रक्षा के प्रयोजन से विवश होकर अपने को एक 'पोलिस' या नगर-राज्य के रूप में संगठित कर लिया था। अपनी ग्राम-संस्थाओं के मध्य में किसी सुरक्षित स्थान पर उन्होंने एक दुर्ग या पुर का निर्माण कर लिया था, ताकि शत्रु के आक्रमण के समय वे वहाँ आश्रय ले सकें, और वहाँ रहते हुए शत्रु का मुकाबिला कर सकें। शुरू में नगर-राज्यों का यह संगठन आत्मरक्षा के प्रयोजन से ही हुआ था, पर धीरे-धीरे दुर्ग या पुर नगर-राज्य के आर्थिक, व्यापार-सम्बन्धी और सांस्कृतिक जीवन का भी केन्द्र हो गया, और उसके अन्तर्गत ग्रामों के सम्पन्न व समृद्ध व्यक्ति स्थायी रूप से वहाँ निवास भी करने लगे। एथन्स, स्पार्टा, कोरिन्थ आदि ग्रीस के प्रमुख पुरों (Polis) का विकास इसी ढंग से हुआ। ये सब नगर एक-एक नगर-राज्य के राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक केन्द्र थे। इन नगरों व नगर-राज्यों के नाम उन कबीलों या जनों के नाम पर ही पड़े थे, जिनका उनमें निवास था। एथन्स एथीनियन जन का केन्द्र था, और स्पार्टा स्पार्टन जन का। प्राचीन ग्रीस के सब नगर-राज्य आकार में एक समान नहीं थे। उनकी राजनीतिक संस्थाएँ व शासन-प्रणालियाँ भी एक-सदृश नहीं थीं। पर उनमें ये सब विशेषताएँ समानरूप से विद्यमान थीं।

ग्रीक नगर-राज्यों की ये सब विशेषताएँ भारत के प्राचीन जनपदों में भी पाई जाती हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटलीय अर्थशास्त्र और अन्य प्राचीन नीति-साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है—

(१) पाणिनि के सूत्र 'जनपदे लुप्' की टीका करते हुए काशिका में जनपद का लक्षण यह किया गया है—'जनपद ग्रामों के समूह को कहते हैं।' उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए वहाँ यह भी कहा गया है, कि जहाँ पंचालों का निवास हो, वह पंचाल जनपद है। इसी प्रकार कुरु, मत्स्य, अंग, बंग, मगध, पुण्ड्र आदि जनपद इन नामों के जनों के निवास के कारण ही इन नामों से कहे जाते हैं।[1]

१. जनपदे लुप् (४-२-८१) ग्रामसमुदायो जनपदः। पंचालानां निवासो जनपदः पंचालाः, कुरवः, मत्स्याः, अंगाः, बंगाः, मगधाः, पुण्ड्राः।

(२) कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार जनपद का निर्माण प्रायः ८०० ग्रामों से मिलकर होता था, और एक ग्राम में विद्यमान कुलों की संख्या १०० से लेकर ५०० तक होती थी। प्रत्येक जनपद में किसी केन्द्रीय स्थान पर एक पुर या दुर्ग होता था, जिसे 'स्थानीय' कहते थे। जनपद की राजधानी इसे ही माना जाता था, और इसे ही 'नगर' या 'पुर' भी कहते थे। अर्थशास्त्र की एक प्राचीन टीका के अनुसार 'नगर' में व्यापारियों के निगमों (Corporations) और वणिकों की आबादी होती थी, और उनसे कोई कर नहीं लिया जाता था।[1]

(३) जनपदों के अन्तर्गत ग्रामों के मुखिया को 'ग्रामणी' कहते थे। जनपदों के राजनीतिक जीवन में ग्रामणी की स्थिति बहुत महत्त्व की मानी जाती थी। वह न केवल जनपद की सभा व समिति में सम्मिलित होता था, अपितु वैदिक युग के 'रत्नियों' व बाद के 'राजकर्तारः' में भी उसे गिना जाता था। वैदिक युग में जिन्हें 'रत्निन्' कहते थे, वही बाद के समय में 'राजकर्तारः' कहाने लगे थे। जनपद के राजा को वरण करने का कार्य इन रत्नियों व राजकर्ताओं के ही अधिकार में था।

(४) जनपद के अन्तर्गत ग्रामों के अपने परम्परागत नियम व कानून होते थे, जिनका पालन करना प्रत्येक ग्रामवासी के लिये आवश्यक था। इसीलिये कौटल्य ने अपने विजिगीषु राजा को यह परामर्श दिया है, कि वह ग्रामसंघों के परम्परागत चरित्र व कानूनों का अतिक्रमण न करे। ग्राम का शासन एक ऐसी सभा के अधीन था, जिसमें कि ग्राम के अन्तर्गत विविध परिवारों व कुलों के मुखिया (कुल-मुख्य) सम्मिलित होते थे। सम्भवतः, इसी ग्राम-सभा को कौटल्य ने 'ग्रामसंघ' नाम से लिखा है। ग्रामसंघ का प्रधान 'ग्रामणी' होता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इन्हीं कुलमुख्यों व कुलवृद्धों को 'गोत्रापत्य' कहा गया है। प्रत्येक परिवार में जो सबसे वृद्ध व्यक्ति हो, उसे ही गोत्रापत्य कहते थे। परिवार के अन्य सब सदस्य 'युवापत्य' कहाते थे।

(५) ग्राम की सब भूमि पर ग्राम का ही स्वत्त्व माना जाता था। भूमि खेती के लिये विविध व्यक्तियों को ग्राम संस्था द्वारा ही प्रदान की जाती थी। इसीलिये भूमि के सम्बन्ध में कौटल्य ने यह व्यवस्था की थी—"जो भूमि खेती के लिये पहले से ही तैयार हो, उसे किसानों के जीवन-काल के लिये उन्हें खेती करने के प्रयोजन से दिया जाए, और उनसे इसके बदले में कर लिया जाए। जो भूमि खेती के लिये पहले से तैयार न हो, उसे उन लोगों के हाथों में रहने दिया जाए, जो उसे खेती के लिये तैयार करते हों। जो स्वयं खेती न करते हों, उनसे भूमि छीन ली जाए, या उस पर ग्राम की ओर से मजदूर रख कर खेती की जाए, या दूसरों को खेती के लिये दे दिया जाए।"[2]

१. 'नगरं राजधानी ।……नगराणि करवर्जितानि निगमवणिजां स्थानानि" कौटल्य । २।१ ।

२. करदेभ्यः कृतक्षेत्राण्यैक पुरुषकाणि प्रयच्छेत् । अकृतानि कृतकेभ्यो नादेयात् ।
अकृषतां आच्छिद्य अन्येभ्यः प्रयच्छेत् । ग्रामभृतकवैदेहका वा कृषेयुः ।
अकृषन्तोऽपहीनं दद्युः ।" कौटलीय अर्थशास्त्र २।१ ।

(६) ग्रामों के अपने पृथक् देवता होते थे, जिन्हें 'ग्रामदेवता' कहा जाता था। इन ग्राम-देवताओं के जहाँ अपने 'स्थान' (मन्दिर) होते थे, वहाँ साथ ही इनका अपना द्रव्य (सम्पत्ति) भी होता था, जिसकी सँभाल करना ग्रामवृद्धों का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था।

(७) अनेक ऐसे कार्य थे जिन्हें ग्राम या ग्रामसंस्था द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता था। नाबालिगों की सम्पत्ति (बालद्रव्य) और देवद्रव्य की देखभाल करना इनमें महत्त्व के कार्य थे।[1] ग्राम द्वारा अनेक प्रकार से न्याय-कार्य भी किया जाता था, और वह अपने क्षेत्र के निवासियों से अनेक प्रकार के जुरमाने भी वसूल करता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि प्राचीन भारत के जनपदों का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि प्राचीन ग्रीस के 'पोलिस' और प्राचीन इटली के 'सिवितास' का था। प्राचीन भारत की राजनीतिक व शासन-सम्बन्धी संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए इस तथ्य को दृष्टि में रखना बहुत आवश्यक है। गत दो सहस्राब्दियों से भी अधिक काल में राज्य संस्था के विकास द्वारा राज्यों का जो स्वरूप वर्तमान समय में है, उससे प्राचीन जनपदों की तुलना कर सकना सम्भव नहीं है, और न ही आधुनिक युग की राजनीतिक संस्थाओं से जनपद की संस्थाओं की तुलना की जा सकती है। यदि उनकी तुलना करनी ही हो, तो प्राचीन ग्रीस और इटली की शासन-संस्थाओं से ही उनकी समता स्थापित करना अधिक युक्तिसंगत है।

(२) कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार जनपद का स्वरूप

वर्तमान समय में प्राचीन भारत का कोई ऐसा दण्डनीति विषयक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, जिससे कि जनपदों के स्वरूप व शासन के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सके। पर कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा हमें ऐसे अनेक निर्देश प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि जनपदों के सम्बन्ध में अच्छा परिचय प्राप्त किया जा सकता है। अर्थशास्त्र का निर्माण ऐसे युग में हुआ था, जब कि मगध के सम्राट् विविध जनपदों को अपनी अधीनता में लाने में तत्पर थे। कौटल्य ने अर्थशास्त्र की रचना नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के शासन की विधि के रूप में किया था, और स्वाभाविक रूप से इस ग्रन्थ में उस नीति का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है जिसका अनुकरण चन्द्रगुप्त मौर्य को करना था। चन्द्रगुप्त ने हिन्दूकुश से भी परे तक विस्तृत एक विशाल साम्राज्य का विकास किया था, और स्वाभाविक रूप से उसने बहुत से जनपदों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त किया था। इन नये जीते हुए जनपदों के प्रति विजिगीषु राजा की क्या नीति हो, इसका प्रतिपादन कौटल्य ने विस्तार के साथ किया है, और ऐसा करते हुए उसने अनेक ऐसी बातों का उल्लेख कर दिया है, जिनसे जनपदों के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है।

कौटल्य के अनुसार जनपद का निर्माण ऐसे ग्रामों से मिलकर होता था जिनमें

१. "बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुराव्यवहार प्रापणात्, देवद्रव्यं च।" कौटल्य। २।१।

१०० से ५०० तक कुल निवास करते थे। एक ग्राम का क्षेत्रफल एक कोस से दो कोस तक होता था। ग्रामों के निवासियों में बहुसंख्या शूद्रों की होती थी, जो कि आर्य कुलों की भूमि पर खेती का कार्य किया करते थे।[1] ठीक यही दशा प्राचीन ग्रीक व इटली में भी थी। वहाँ के नगर-राज्यों के बहुसंख्यक निवासी भी दास या हैलट लोग होते थे, जिन्हें शासन के सम्बन्ध में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। भारत के इन ग्रामवासियों को 'शूद्र-कर्षक' कहा जाता था। दस ग्रामों के समुदाय को 'संग्रहण' कहते थे, दस संग्रहणों या १०० ग्रामों से मिलकर एक 'खार्वटिक' बनता था, और ८०० ग्रामों से एक स्थानीय या जनपद का निर्माण होता था।[2] यदि एक ग्राम में १०० से लगाकर ४०० तक कुल व परिवार निवास करते थे, और एक परिवार की सदस्य-संख्या ५ मान ली जाय, तो एक जनपद की जनसंख्या ४ से २० लाख तक होती थी। एथन्स, स्पार्टा आदि प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की आबादी भी प्रायः इसी के लगभग थी। वहाँ कोई भी ऐसा नगर-राज्य नहीं था, जिसमें ५० लाख से अधिक व्यक्तियों का निवास हो। बहुसंख्यक नगर-राज्यों की जनसंख्या प्रायः २० लाख से कम ही थी। कौटलीय अर्थशास्त्र से प्राप्त निर्देशों द्वारा यही बात भारत के प्राचीन जनपदों के सम्बन्ध में भी समझी जा सकती है।

जनपद की रक्षा के लिए प्राचीन समय में क्या व्यवस्था की जाती थी, यह भी अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है। कौटल्य के अनुसार जनपद के अन्तर्गत प्रत्येक ग्राम को 'अन्योन्यारक्ष' होना चाहिये। वह जहाँ अपनी रक्षा करने में समर्थ हो, वहाँ साथ ही अन्य ग्रामों की रक्षा में भी सहायक हो। जनपद की सीमाओं पर 'अन्तपाल दुर्ग' स्थापित किये जाएँ। विविध दुर्गों के मध्य के सीमा प्रदेशों में वागुरिक, शबर, पुलिन्द, चाण्डाल, अरण्यचर आदि आटविक जातियों को बसाया जाए, ताकि शत्रु द्वारा आक्रमण की दशा में उनका उपयोग जनपद की रक्षा के लिए किया जा सके।[3] पर जनपद की रक्षा का मुख्य आधार वह पुर होता था, जिसे जनपद के मध्य में स्थापित किया जाता था, और जिसकी रचना एक दुर्ग के रूप में की जाती थी। यह पुर न केवल जनपद के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र होता था, अपितु जनपद की रक्षा भी इसी पर आश्रित थी। कौटल्य के अनुसार पुर के चारों ओर एक प्राचीर होनी चाहिये, जिसमें १२ द्वार हों। पुर में प्रवेश के लिए ऐसे स्थल और जल-मार्ग होने चाहिएँ, जिन्हें गुप्त रूप से बनाया गया हो। इस पुर में तीन राजमार्ग पूर्व

१. 'शूद्रकर्षक प्रायं कुल शतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोश द्विक्रोश सीमानं अन्योन्यारक्षं निवेशयेत्।' अर्थशास्त्र २।१

२. 'अष्टशत ग्राम्या मध्ये स्थानीयं, चतुश्शत ग्राम्या द्रोणमुखं, द्विशत ग्राम्या खार्वटिकं, दशग्रामी संग्रहेण संग्रहणं स्थापयेत्।' अर्थशास्त्र २।१

३. जनपद द्वारायन्तपालाधिष्ठितानि स्थापयेत्। तेषामन्तराणि वागुरिक शबर पुलिन्द चण्डालारण्यचरा रक्षेयुः।' अर्थशास्त्र २।१

से पश्चिम की ओर और तीन राजमार्ग उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले हों। पुर की कुल भूमि के $\frac{1}{9}$ भाग पर राजप्रासाद होना चाहिये, जो कि पुर के उत्तरी भाग में स्थित हो। राजप्रासाद के पूर्वोत्तर में आचार्य, पुरोहित, मन्त्री आदि के निवास हों, दक्षिण-पूर्व में हस्तिशाला, कोष्ठागार आदि रहें। उसके परे पूर्व दिशा में गन्ध, माल्य, धान्य, रस आदि की पण्यशालाएँ हों, और क्षत्रियों व प्रधान शिल्पियों के निवास-स्थान हों, पुर के मध्य भाग में अपराजित, अप्रतिहत और वैजयन्त के कोष्ठक और शिव, वैश्रवण, श्री व मदिरा के कोष्ठक स्थापित किए जाएँ। इसी प्रकार पुर के अन्य भागों में किस-किस का निवास रहे, इस सबका विशद रूप से वर्णन कौटलीय अर्थ-शास्त्र में किया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि प्रति दस परिवारों के लिए एक-एक कुएं का निर्माण किया जाए, और धान्य, नमक, औषध, ईंधन, अस्त्र-शस्त्र, लोहे आदि को इतनी मात्रा में संचित करके रख लिया जाए, कि शत्रु के द्वारा घिर जाने पर वर्षों तक भी वह समाप्त न हो सके। पुराने सामान को निरन्तर बदला जाता रहे, ताकि संचित सामान कभी बिगड़ने न पाए। कौटल्य ने पुर की रक्षा का इतने विशद रूप से विधान इसी कारण किया है, क्योंकि जनपद की रक्षा का मुख्य आधार पुर ही होता था।

जनपदों के शासन का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के 'लब्ध-प्रशमनम्' प्रकरण से अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश उपलब्ध होते हैं। इस प्रकरण में उन उपायों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है, जिनका प्रयोग नये जीते हुए जनपद में शान्ति स्थापित करने व उन के निवासियों को अपने अनुकूल करने के लिए किया जाना चाहिये। इस प्रकरण की कुछ मुख्य बातों को यहाँ उल्लिखित करना बहुत उपयोगी है।

(१) जनपद के पुराने शासकों के जो दोष हों, उनको अपने गुणों व सत्कर्मों द्वारा आच्छादित कर दिया जाए। पुराने शासकों के जो गुण हों, उनके जो अच्छे कर्म हों, उनको आच्छादित करने के लिए अपनी ओर से दुगने गुणों व सत्कर्मों का उपयोग करे। अनुग्रह, उपहार, परिहार (टैक्सों में कमी व छूट), दान और सम्मान द्वारा नागरिकों को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न किया जाए।[1]

(२) अपने अधीन किये गये जनपद के निवासियों के जो प्रिय नेता हों, उनकी सम्मति को महत्त्व दे। जिन व्यक्तियों ने जनपद को विजय करते समय अपना साथ दिया हो, उन्हें वे सब पुरस्कार व अनुग्रह प्रदान किये जाएँ, जिनकी कि उनसे प्रतिज्ञा की गई थी। जो जितनी अधिक अपने को सहायता करे, उसे उतने ही अधिक पुरस्कार व अनुग्रह दिये जाएँ। जो अपने वचन को पूरा नहीं करता, उस पर न अपने लोग विश्वास करते हैं, और न पराये। जो जनता के विरुद्ध आचरण करता है, उसका

१. नवमवाप्य लम्भं परदोषान् स्वगुणैश्छादयेत्। गुणान् गुणद्वैगुण्येन स्वधर्म कर्मानुग्रह परिहार दानमान कर्मभिश्च। अर्थशास्त्र १३।१४

भी कोई विश्वास नहीं करता ।[१]

(३) विजित जनपद के जो शील, वेष, भाषा व प्रथाएँ हों, उनको अपना-लेना चाहिए । इसी प्रकार विजित जनपद के जो उपास्य देवता हों, उनके प्रति भक्ति रखनी चाहिये, और वहाँ के जो समाज (सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के साधन), उत्सव व विहार (सामूहिक मनोरंजन) हों, उन में उत्साह प्रदर्शित करना चाहिये ।[२]

(४) विजेता के गुप्तचर ग्रामसंघों, जातिसंघों और जनपद-संघों के मुख्यों के सम्मुख यह बात भलीभाँति स्पष्ट करें कि अन्यों के प्रति कैसा कठोर व्यवहार किया जाता रहा है, पर उनके प्रति विजेता ने कैसा अच्छा व्यवहार किया है, उनकी संस्थाओं के प्रति उसकी कैसी भक्ति है, और वह उनका किस प्रकार सत्कार कर रहा है ।[३]

(५) विजित जनपद के निवासियों को उचित भोग (पुरस्कार), परिहार (टैक्स में छूट) और रक्षा (उनकी सुरक्षा की व्यवस्था) द्वारा प्रसन्न व संतुष्ट किया जाए । उनके देवताओं व धार्मिक संस्थाओं का आदर किया जाए । विजित जनपद के जो विद्वान्, वाग्मी, धार्मिक व शूर पुरुष हों, उन्हें भूमि और धन दिये जायँ, व उनके टैक्सों में छूट दी जाए । वहाँ के कैदियों को छोड़ दिया जाए, और दीन, अनाथ व व्याधि पीड़ित लोगों के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित किया जाए ।[४]

(६) विजित जनपद में यदि कोई ऐसे परम्परागत व्यवहार (Customary laws) हों, जो धर्म के अनुकूल न हों या जो राज्यकोश व सैन्यशक्ति के विकास में हानि-कारक हों, उन्हें नष्ट करके धर्मानुकूल व्यवहार (righteous laws) की स्थापना की जाय । पर विजित जनपद के जो धर्मानुकूल चरित्र व व्यवहार हों, उन्हें कायम रखा जाय, इस बात की अपेक्षा किये बिना कि उनका प्रारम्भ विजेता द्वारा न होकर किसी अन्य द्वारा किया गया था ।[५]

(७) विचित जनपद का जो अपना विशिष्ट नक्षत्र हो, उसमें एक दिन के लिए पशुहिंसा निषिद्ध रखी जाए ।[६]

---

१. प्रकृतिप्रियहितानि अनुवर्तेत । यथा सम्भाषितं च कृत्यपक्षमुपग्राहयेत् । भूयश्च कृतप्रयासम् । अवि-श्वास्यो हि विसंवादकस्स्वेषां परेषां च भवति, प्रकृतिविरुद्धाचारश्च । कौ० अर्थशास्त्र १३।१४

२. तस्समानशीलवेश भाषाचारतामुपगच्छेत् । देशदैवत समाजोत्सवविहारेषु च भक्तिमनुवर्तेत । अर्थ-शास्त्र १३।१४

३. देशग्राम जातिसंघमुख्येषु च अभीक्ष्णं च सत्रिणः परस्यापचारं दर्शयेयुः महाभाग्यं भक्तिं च तेषु स्वामिनः स्वामिसत्कारं च विद्यमानम् । अर्थशास्त्र १३।१४

४. उचितैश्चैनान् भोगपरिहाररक्षावेक्षणैः भुञ्जीत सर्वदेवताश्रमपूजनं च विद्यावाक्यधर्मशूरपुरुषाणां च भूमिद्रव्यदानपरिहारान् कारयेत् । सर्वबन्धनमोक्षणमनुग्रहं दीनानाथ व्याधितानां च । अर्थशास्त्र १३।१४

५. यच्च कोशदण्डोपघातिकं अधर्मिष्ठं वा चरित्रं मन्येत, तदपनीय धर्मव्यवहारं स्थापयेत् । चरित्रमकृतं धर्म्यं कृतं चान्यैः प्रवर्तयेत् । प्रवर्तयेन्न चाधर्म्यं कृतं चान्यैः निवर्तयेत् । अर्थशास्त्र १३।१४

६. राजदेशनक्षत्रेषु एकरात्रिकम् । अर्थशास्त्र १३।१४

कौटलीय अर्थशास्त्र के इन उद्धरणों से जनपदों के स्वरूप व शासन के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों की सूचना प्राप्त होती है—

(१) जनपदों के अपने शील, वेश, भाषा और आचार होते थे, जिन्हें वे बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिए किसी विजेता द्वारा परास्त कर अधीन कर लिए जाने पर भी वे इन्हें कायम रखने को इच्छुक रहते थे। इसी कारण कौटल्य ने अपने विजिगीषु राजा को यह परामर्श दिया है कि वह विजित जनपदों के शील, वेश, भाषा व आचार को कायम रखे।

(२) जनपदों के अपने देवता, अपने समाज, अपने उत्सव और अपने विहार होते थे, जिनके प्रति उनकी भक्ति कायम रखना विजिगीषु के लिए आवश्यक था।

(३) जनपदों का अपना विशिष्ट नक्षत्र भी होता था, जिसे वे पवित्र मानते थे।

(४) जनपदों का अपना संघ (समुदाय) होता था, जिसका शासन संघ-मुख्यों के हाथों में रहता था। इसी प्रकार जनपद के अन्तर्गत ग्रामों के भी अपने-अपने संघ होते थे।

(५) जनपदों के अपने परम्परागत कानून (व्यवहार व चरित्र) होते थे। कौटल्य का अपने विजिगीषु राजा को परामर्श था कि विजित जनपदों के इस परम्परागत कानून को कायम रखा जाए। केवल ऐसे कानून को ही कायम न रहने दिया जाए, जो धर्मविरुद्ध हो या जो राजकोश व सैन्यशक्ति के विकास के लिए हानिकारक हो।

(६) विजित जनपद की जनता को अपने अनुकूल करके, उसे दान, परिहार व अनुग्रह आदि द्वारा सन्तुष्ट रखना कौटल्य की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात थी। कौटल्य इस तथ्य को भली भाँति समझता था, कि जनता का कोप बहुत भयंकर होता है, और अन्य कोई कोप उसकी तुलना में अधिक भयंकर नहीं हो सकता।[1]

इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि कौटलीय अर्थशास्त्र के 'लब्धप्रशमनम्' प्रकरण में जनपद के लिए 'देश' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्राचीन नीतिग्रन्थों में देश, जनपद, विषय और राष्ट्र शब्द पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त होते हैं। पाणिनि के 'विषयो देशे' (अष्टाध्यायी ४।२।५२) सूत्र की टीका करते हुए काशिका में लिखा है कि विषय शब्द के अनेक अर्थ हैं। ग्रामों के समुदाय को भी विषय कहते हैं, जैसे शिवि लोगों का विषय या देश 'शैव' कहाता है। इसी प्रकार पाणिनि के एक अन्य सूत्र 'जनपदे लुप्' (अष्टाध्यायी ४।२।८१) पर टीका करते हुए काशिका में ग्रामों के समुदाय को जनपद कहा गया है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि ग्रामों के

१. 'प्रकृतिकोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्'।

२. 'विषयो देशे। विषयशब्दो बह्वर्थः। क्वचित् ग्रामसमुदाये वर्तते। शिवीनां विषयो देशः शैवः। ग्रामसमुदायो जनपदः।'

समुदाय के लिए प्राचीन समय में विषय, देश और जनपद—इन शब्दों को समान रूप से प्रयुक्त किया जाता था।

जनपदों के स्वरूप को समझने के लिए कौटलीय अर्थशास्त्र का एक अन्य निर्देश भी बहुत महत्त्व का है। वहाँ लिखा है कि जिस देश पर शत्रुओं व जंगली पशुओं के निरन्तर आक्रमण होते रहते हों या जिसमें बहुधा दुर्भिक्ष पड़ता रहता हो व जहाँ बहुधा महामारियाँ फैलती रहती हों, उसका परित्याग कर दिया जाए।"[1] यह व्यवस्था ऐसे जनपदों के लिए ही सम्भव व क्रियात्मक थी, जो छोटे-छोटे थे और जिनमें भूमि के प्रति जनता की विशेष भक्ति व निष्ठा नहीं होती थी। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों के इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जब कि परिस्थितियों से विवश होकर जनता अपनी भूमि को छोड़कर कहीं अन्यत्र जा बसी। भारत के प्राचीन इतिहास में जरासन्ध के निरन्तर आक्रमणों से परेशान होकर अन्धक-वृष्णि संघ के लोग अपने शूरसेन देश का परित्याग कर सुदूर द्वारका में जा बसे थे। इसी प्रकार टिड्डीदल के आक्रमणों के कारण कुरुजन का एक अंग अपने पुराने अभिजन का परित्याग करने को विवश हुआ था। हूणों के आक्रमणों के कारण मालवगण के लोग मध्य पंजाब के अपने अभिजन को छोड़कर राजस्थान में प्रवास करने के लिए विवश हुए थे।

(३) जनपदों के शासन का स्वरूप

ऊपर जो विवेचना की गई है, उससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि भारत के प्राचीन जनपदों का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि प्राचीन ग्रीस के 'पोलिस' व इटली के 'सिवितास' का था। उन्हें भी हम नगर-राज्य समझ सकते हैं। इसी कारण जब बौद्ध काल से कुछ समय पूर्व कतिपय शक्तिशाली जनपदों ने पड़ोस के जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, तो वे 'महाजनपद' कहाने लगे। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर सोलह महाजनपदों का उल्लेख आया है। पर उनके विकास से पूर्व भारत में जो सैकड़ों की संख्या में जनपद विद्यमान थे, उनका स्वरूप नगर-राज्यों के ही सदृश था। अतः जब हम इन प्राचीन जनपदों के शासन के स्वरूप पर विचार करें, तो हमें उनमें उन शासन-संस्थाओं की सत्ता की कल्पना नहीं करनी चाहिए, जो आजकल के राज्यों में दृष्टिगोचर होती हैं। इन जनपदों की शासन-पद्धति के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

(१) सब जनपदों की शासन-पद्धति एक सदृश नहीं थी। यदि कुछ जनपदों में राजतन्त्र शासन था, जहाँ वंशक्रमानुगत राजाओं की सत्ता थी, तो अन्य जनपदों में ऐसे शासन थे, जिन्हें 'गणतन्त्र' कहा जा सकता है। अंग, काशी, चेदि आदि जनपद राजतन्त्र थे, और शाक्य, क्षुद्रक, मालव आदि गणतन्त्र। गणतन्त्र जनपद भी

१. परचक्राटवी ग्रस्तं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम्।
देशं परिहरेद्राजा व्ययक्रीडाश्च वर्जयेत्॥ अर्थशास्त्र २।१

दो प्रकार के थे, एक जिनमें सब नागरिक सभा में एकत्र होकर अपने शासन का संचालन करते थे, और दूसरे ऐसे जिनमें कतिपय विशिष्ट कुलों का शासन था। इन्हीं को ग्रीक नगर-राज्यों के शासन को दृष्टि में रखकर अरिस्टोटल ने क्रमशः 'डेमोक्रेसी' और 'आलीगार्की' कहा था। ऐतरेय ब्राह्मण में प्राचीन जनपदों की विविध शासन-पद्धतियों को भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य, द्वैराज्य और साम्राज्य की संज्ञा दी है। इन विविध शब्दों का क्या अभिप्राय है, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

(२) एक जनपद में सदा एक-सा ही शासन नहीं रहता था। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों के इतिहास में हम इस प्रक्रिया को देखते हैं, कि जहाँ पहले राजतन्त्र शासन था, वहाँ बाद में गणतन्त्र शासन स्थापित हो गया; और जहाँ पहले गण-शासन था, वहाँ किसी महत्त्वाकांक्षी व शक्तिशाली व्यक्ति ने सब राजशक्ति अपने हाथों में लेकर राजतन्त्र की स्थापना कर दी। इसी प्रक्रिया के अनेक उदाहरण प्राचीन भारतीय जनपदों के इतिहास में भी मिलते हैं। कौटल्य ने कुरु और पंचाल जनपदों की गणना गणराज्यों में की है, यद्यपि हमें ज्ञात है कि चौथी सदी ईस्वी पूर्व से पहले इनमें राजतन्त्र शासन की सत्ता थी। विदेह में पहले वंशक्रमानुगत जनक राजाओं का शासन था, पर बौद्धकाल में वहाँ गणतन्त्र शासन की स्थापना हो गई थी। बौद्ध काल का लिच्छविगण चौथी सदी ईस्वी तक राजतन्त्र राज्य बन गया था।

(३) क्योंकि प्राचीन काल में भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, और इनकी शासन-पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं, अतः यह स्वाभाविक है कि भारत के प्राचीन राजनीति-विषयक ग्रन्थों में राज्य और उसके शासन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विचार पाये जाएँ। दण्डनीति-सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थ विभिन्न युगों की कृतियाँ हैं, और उनका निर्माण ऐसे प्रदेशों में हुआ था, जिनमें कि विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियाँ विद्यमान थीं, अतः उनमें विचारों की विभिन्नता की सत्ता सर्वथा स्वाभाविक ही है। जहाँ एक ओर मनु यह प्रतिपादित करता है कि ब्रह्मा ने इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्र और कुबेर देवताओं के अंश लेकर राजा का निर्माण किया है, अतः यदि राजा बालक भी हो तो उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह वस्तुतः मनुष्य के रूप में एक 'महती देवता' होता है; वहाँ दूसरी ओर आचार्य शुक्र का यह मत है कि यदि राजा धर्म का अतिक्रमण करे, तो ब्राह्मणों का यह परम कर्तव्य है कि वे उसके विरुद्ध विद्रोह करके उसे नष्ट कर दें। यह स्पष्ट है कि मनु और शुक्र दो विभिन्न परिस्थितियों और युगों के प्रतिनिधि हैं। गणराज्यों के राजनीतिक विचारों व आदर्शों का प्रतिपादन करने वाला कोई पृथक् ग्रन्थ यद्यपि वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होता, पर महाभारत के शान्तिपर्व में अनेक ऐसे संदर्भ अवश्य उपलब्ध होते हैं, जिनसे इनकी शासन-पद्धति और राजनीति विषयक

विचारों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी प्रसंगवश गणतन्त्र जनपदों के शासन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये गए हैं।

यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राज्य-संस्थाओं व राजनीतिक मन्तव्यों पर विचार करते हुए हम केवल एक प्रकार की संस्थाओं व विचारों का उल्लेख नहीं कर सकते। वस्तुतः, प्राचीन भारत में जहाँ अनेकविध शासन-पद्धतियों की सत्ता थी, वहाँ साथ ही अनेकविध राजनीतिक विचार भी वहाँ विद्यमान थे। प्राचीन भारतीय इतिहास के जनपद युग में, जब कि यह देश बहुत-से छोटे बड़े जनपदों में विभक्त था, गणतन्त्र जनपदों के तीन बड़े क्षेत्र थे, उत्तरी बिहार, मथुरा-शूरसेन प्रदेश और पंजाब। इनके मध्यवर्ती अन्य प्रदेशों में राजतन्त्र जनपदों की सत्ता थी। इनमें से उत्तरी बिहार के गणतन्त्र जनपदों के सम्बन्ध में हमें बौद्ध और जैन-साहित्य से विशद रूप से परिचय मिलता है। महाभारत मथुरा-शूरसंघ प्रदेश के गणराज्यों पर प्रकाश डालता है, और पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी से हमें पंजाब के गणतन्त्र जनपदों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। राजतन्त्र जनपदों के विषय में मनु, शुक्र, याज्ञवल्क्य आदि के स्मृति-ग्रन्थों, रामायण, महाभारत व पुराणों आदि साहित्य से अच्छा प्रकाश पड़ता है। अगले अध्यायों में हम इसी साहित्य के आधार पर जनपदों के शासन का विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

सातवाँ अध्याय

पाणिनि के आधार पर जनपदों का शासन

(१) गणतन्त्र जनपद

पाणिनि की अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। पाणिनि मुनि का काल ५०० ई० पू० के लगभग माना जाता है। इस प्रकार वे प्रायः बौद्ध-युग के प्रारम्भिक काल में हुए थे, और उनकी अष्टाध्यायी उसी युग की परिस्थितियों का परिचय देती है। यद्यपि अष्टाध्यायी व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ है, पर प्रसंगवश उसमें ऐसे निर्देश मिल जाते हैं, जो उस युग की दशा पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। पाणिनि उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासी थे, अतः उनके ग्रन्थ से इसी प्रदेश के सम्बन्ध में परिचय मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात बहुत उपयोगी है, क्योंकि बौद्ध-साहित्य से हमें पूर्वी भारत की राजनीतिक व शासन-सम्बन्धी दशा का ही विशेष रूप से ज्ञान होता है। इस दृष्टि से पाणिनि की अष्टाध्यायी को बौद्ध-साहित्य का पूरक समझा जा सकता है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में गणतन्त्र जनपदों के लिये 'संघ' शब्द का उपयोग किया गया है। कौटलीय अर्थशास्त्र में भी इनके लिए यही शब्द प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि संघ शब्द का प्रयोग केवल राजनीतिक संघों के लिये करते हैं, धार्मिक संघों का उन्होंने कहीं निर्देश नहीं किया। सम्भवतः, वे बौद्धों के धार्मिक भिक्षुसंघ से सर्वथा अपरिचित थे। यही बात कौटलीय अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उसमें धार्मिक व साम्प्रदायिक समुदायों का संघ-रूप से निर्देश अवश्य है, क्योंकि कौटल्य ने व्यवस्था की है, 'सजात के अतिरिक्त अन्य किसी संघ को अपने क्षेत्र में राजा स्थापित न होने दे।'[1] कौटल्य इस प्रथा के बहुत विरुद्ध थे, कि नागरिक लोग युवावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु जीवन व्यतीत करने लगें, और अपने साम्प्रदायिक संघ बना कर रहा करें। इसी कारण उन्होंने यह नियम बनाया था, कि वानप्रस्थ हुए बिना कोई सन्यास न ले सके, और परिव्राजक बनते हुए धर्मस्थ (मजिस्ट्रेट) से यह प्रमाण-पत्र लेना अनिवार्य हो कि अब उसकी सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई

---

1. सजातादन्यः संघः······नास्य जनपदमुपनिवेशयेत्. अर्थशास्त्र २।१।

है, और उसने अपनी पत्नी व सन्तान के सम्बन्ध में समुचित व्यवस्था कर दी है।[1] 'सजात' संघ उन्हें स्वीकार्य थे, क्योंकि मगध के साम्राज्यवाद के विकास के काल में पुराने सजात जनपदों को पूर्णतया नष्ट कर सकना क्रियात्मक नहीं था।

पाणिनि ने दो प्रकार के संघों का उल्लेख किया है, आयुधजीवि और अन्य। आयुधजीवि संघ विशेष रूप से वाहीक (पंजाब) देश में विद्यमान थे। अष्टाध्यायी सूत्रों में इन संघों का निर्देश मात्र है, पर उस पर की गई काशिका वृत्ति टीका और पाणिनि के गणपाठ में इनका अधिक विशद रूप से उल्लेख है। इन आधारों पर वाहीक देश के जिन जनतन्त्र संघों का हमें परिचय मिलता है, वे निम्नलिखित हैं—

(१–३) क्षुद्रक, मालव और कौण्डीवृस—अष्टाध्यायी के सूत्र "आयुधजीवि संघाञ् ञ्यड्वाहीकेषु अब्राह्मण राजन्यात्" (५।३।११४) की व्याख्या करते हुए काशिका ने वाहीक देश के आयुधजीवि संघों के तीन उदाहरण दिये हैं। कौण्डीवृस, क्षुद्रक और मालव।[2] क्षुद्रक संघ का उल्लेख सिकन्दर के आक्रमण वृत्तान्त को लिखते हुए ग्रीक लेखकों ने भी ओक्सिड्राकेई (Oxydrakai) नाम से किया है। यह संघ हाईडेस्पस नदी के तट पर स्थित था, और सिकन्दर का इसके साथ घनघोर युद्ध हुआ था। पतञ्जलि के महाभाष्य में उपलब्ध एक निर्देश के अनुसार अकेले क्षुद्रक लोग सिकन्दर को परास्त करने में भी समर्थ हुए थे।[3] ग्रीक लेखकों ने मालव संघ का भी 'मल्लोई' (Malloi) नाम से उल्लेख किया है। ग्रीस के वृत्तान्तों के अनुसार क्षुद्रकों और मालवों की सेनाओं ने परस्पर मिलकर सिकन्दर का सामना किया था। इन दोनों संघ-राज्यों में सैनिक एकता की सत्ता काशिका के एक निर्देश से भी ज्ञात होती है, जहाँ 'क्षूद्रक मालवी सेना' का उल्लेख किया गया है।[4] कौण्डीवृस संघ का ग्रीक लेखकों ने उल्लेख नहीं किया, और न इसका विवरण कहीं अन्यत्र ही मिलता है।

(४) वृक-पाणिनि की अष्टाध्यायी के 'वृकाट्टेण्यण्'(५।३ ।११४) सूत्र में वृक नाम के एक अन्य संघ का उल्लेख है, जो काशिका के अनुसार एक आयुधजीवि संघ था, और जो वाहीक देश में ही स्थित था। इस संघ का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

(५-२१) 'दामन्यादि त्रिगर्त षष्ठाच्छः' (पाणिनि ५।३।११६) इस सूत्र की

१. वानप्रस्थादन्यः प्रव्रजित भावः। पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वस्साहसदण्डः। लुप्तव्यवायः प्रव्रजेदापृच्छ्य धर्मस्थान्। अर्थशास्त्र २।१।

२. 'आयुधजीवि संघाञ् ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्। आयुधजीविनां संघः आयुधजीवि संघः। स वाहीकैर्विशिष्यते। वाहीकेषु य आयुधजीवि संघस्तद्वाचिनः प्रातिपदिकात् ब्राह्मणराजन्य वर्जितात् स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो भवति। कौण्डीवृस्यः, कौण्डीवृस्यौ, कौण्डीवृस्याः, क्षौद्रक्यः, क्षौद्रक्यौ, क्षुद्रकाः। मालव्यः, मालव्यौ, मालवाः।

३. 'एकाकिभिः क्षुद्रकै र्जितम्' (महाभाष्य)।

४. खण्डिकादिभ्यश्च (पाणिनि ४।२।४५), क्षुद्रकमालवी सेना।

व्याख्या करते हुए काशिका में १७ आयुधजीवि संघों का उल्लेख किया है, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—कौण्डोपरथ, दाण्डकी, कौष्ठिकि, जालमानि, ब्रह्मगुप्त, जानकि, दामनय, उलपय, आग्निदन्ती, काकदन्ति, शत्रुन्तपि, सार्वसेनि, विन्द्र, मौञ्जायन, उलभ और सावित्रीपुत्र। इनमें से पहले छः (कौण्डोपरथ, दाण्डकी, कौष्ठकि, ब्रह्मगुप्त, दामनय और जानकि) ने मिलकर अपना एक संघात (League) बनाया हुआ था, जिसे 'त्रिगर्तषष्ठ' कहते थे।[1] नगर-राज्यों द्वारा बनाए गए इस प्रकार के संघात प्राचीन ग्रीस में भी विद्यमान थे। उत्तरी बिहार का वज्जिसंघ भी इसी प्रकार का एक संघात था। पाणिनि के इस सूत्र में वर्णित संघ-जनपदों में कतिपय का उल्लेख महाभारत में भी आया है। महाभारत के सभापर्व में पाण्डवों द्वारा विजित जनपदों का उल्लेख करते हुए त्रिगर्त, काक और दाण्डकि के नाम दिए गए हैं।

(२२-४५) 'पर्श्वादि यौधेयादिभ्यामणञौ' (पाणिनि ५।३।११७) की व्याख्या करते हुए काशिका में गणपाठ के आधार पर २३ संघ-जनपदों की गणना की है, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—पर्श्व, यौधेय, वाह्लीक, उशीनर, सत्वत्, विशाल, असुर, राक्षस, वयस, मरुत, दशार्ह, पिशाच, अशनि, कार्षापण, वसु, कौशेय, क्रौक्षेय, शौक्रेय, शौभ्रेय, वार्त्तेय, जाबालेय, और भरत।

इन संघ-जनपदों में यौधेय, पर्श्व, बाह्लीक, उशीनर, सत्वत्, विशाल, दशार्ह और भरत राज्यों का उल्लेख अन्य प्राचीन साहित्य में भी आया है, पर अन्य नाम अन्यत्र पृथक् राज्यों के रूप में कहीं उपलब्ध नहीं होते।

(४६-४९) 'आयुधजीविभ्यच्छः पर्वते' (पाणिनि ४।३।९१) सूत्र में चार संघ-जनपदों के नाम काशिका ने दिये हैं—अन्धकवर्तीय, सांकाश्यक, हृद्गोलीय और रोहितगिरीय। ये सब भी आयुधजीवि संघ कहे गए हैं, और इनकी स्थिति पार्वत्य क्षेत्र में बताई गई है। इनमें से रोहितगिरीय संघ सम्भवतः रोहितक गण को सूचित करता है, जिसका उल्लेख महाभारत के वन पर्व में आया है। कर्ण ने दिग्विजय करते हुए भद्र, आग्रेय और मालव गणों के साथ-साथ रोहितक गण को भी विजय किया था।[2] अन्धकवर्तीय की समता अन्धक-वृष्णि गण से स्थापित की जा सकती है, जो कि वृन्दावन के क्षेत्र में विद्यमान गोवर्धन पर्वत के समीप स्थित था। अन्य दो संघ-

---

१. दामन्यादि त्रिगर्त षष्ठाच्छः। आयुधसंघादिति वर्तते। दामन्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः त्रिगर्तषष्ठेभ्यश्च आयुधजीविसंघवाचिभ्यः स्वार्थे छः प्रत्ययो भवति। येषामायुधजीविसंघानां षड् अन्तर्वर्गं स्तत्र च त्रिगर्तः षष्ठः। त्रिगर्तः षष्ठो येषां ते त्रिगर्त षष्ठाः इत्युच्यन्ते। तेषु चेयं स्मृतिः।

आहुस्त्रिगर्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी।
कौष्ठकि जालमानिश्च ब्रह्मगुप्तोथ जानकिः॥

२. भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्रेयान् मालवान् अपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव॥
महाभारत, वनपर्व २५५।२०।

जनपदों का कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवतः, अन्धकवर्तीय और अन्धक वृष्णि एक नहीं थे, क्योंकि पाणिनि ने अन्धक-वृष्णि संघ का उल्लेख ऐसे जनपदों में किया है, जो कि आयुधजीवि नहीं थे।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में ऐसे भी अनेक संघ जनपदों का उल्लेख है, जो कि आयुधजीवि नहीं थे। इनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

(१-४) 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (पाणिनि ४।१।११४) सूत्र में ऋषि अन्धक, वृष्णि और कुरु जनपदों का संघ के रूप में उल्लेख किया गया है। अन्धक और वृष्णि प्रसिद्ध गण व संघराज्य थे, महाभारत के समय में जिन्होंने मिलकर अपना एक संघात बना लिया था। कृष्ण वृष्णि संघ के संघ-मुख्य ही थे। कुरु का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में 'राजशब्दोपजीवि' संघों के अन्तर्गत किया गया है, यद्यपि महाभारत के समय में वहाँ राजतन्त्र शासन की सत्ता थी। सम्भवतः, पाणिनि का ऋषि ऋषिक (युइशि) जनपद का परिचायक है, जो प्राचीन समय में हिन्दूकुश पर्वतमाला के उत्तर के क्षेत्र में विद्यमान था। बाद में युइशि का ऋषिक जन ने भारत पर आक्रमण भी किया था। यह ऋषिक जन चीन की पश्चिमी सीमा पर लोपनेर के कांठे में अवस्थित था। महाभारत के सभापर्व (अध्याय २८) में भी ऋषिकों का उल्लेख है, जो कि श्वेत पर्वत के समीप निवास करते थे।

(५-६) मद्र और वृजि—पाणिनि के 'मद्रवृज्योः कन्' (४।१।१३१) सूत्र में मद्र और वृजि संघ-जनपदों का उल्लेख है, जो कि प्राचीन भारत के प्रसिद्ध गणतन्त्र शासन वाले राज्य थे। बौद्ध साहित्य में वज्जि या वृजिक संघ का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। इस संघ या संघात में अनेक गणराज्य सम्मिलित थे। मद्र या मद्रक संघ का परिगणन कौटलीय अर्थशास्त्र में राजशब्दोपजीवि संघों में किया गया है। शाकल नगरी इस संघ की राजधानी थी, और इसकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्तिम रूप से अन्त गुप्त वंशी सम्राटों द्वारा चौथी सदी ईस्वी में किया गया था। मद्र और वृजि जनपदों के नागरिक दो प्रकार के थे, एक वे जो इन जनों (tribe) के सदस्य थे, और इन जनपदों के प्रति भक्ति (allegiance) रखते थे, दूसरे वे जो इन जनपदों के प्रति भक्ति तो रखते थे, पर इनके जनों के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे। पहले प्रकार के नागरिकों को मद्रक और वृजिक कहते थे, और दूसरे प्रकार के नागरिकों को माद्र और वार्ज्य। पाणिनि के सूत्र 'जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समान शब्दानां बहुवचने (४।३।१००) की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इस भेद को बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट किया है।[1]

१. 'जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समान शब्दानां बहुवचने' (४।३।१००) इस सूत्र पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है—'सर्ववचनं प्रकृतिनिर्ह्रासार्थम्। तच्च मद्र वृज्यर्थम्। माद्रो भक्तिरस्य माद्रो वा भक्तिरस्य मद्रक इत्येव यथा स्यात्। वार्ज्यो भक्तिरस्य वार्ज्यो व भक्तिरस्य वृजिक इति यथा स्यात्।'

(७-१४) 'न प्राच्यभर्गादि यौधेयादिभ्यः' (पाणिनि ४।१।१६८) सूत्र की व्याख्या करते हुए काशिका में आठ संघ-जनपदों का परिगणन किया है, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—भर्ग, करुष, केकय, साल्व, काश्मीर, सुस्थल, उरुष और कौरव्य। महाभारत के सभापर्व में भर्ग राज्य का उल्लेख वत्स, काशी और कोशल के साथ में किया गया है, और भीम द्वारा उसके जीते जाने का वर्णन किया गया है।[1] जातक साहित्य द्वारा भी भर्ग के गणराज्य की सत्ता प्रमाणित होती है।[2] करुष, केकय, उरुष, काश्मीर आदि भी जनपदों के नाम है, जिनका परिगणन पाणिनि के गणपाठ में संघों के अन्तर्गत किया गया है। इन जनपदों की सत्ता रामायण, महाभारत आदि अन्य प्राचीन साहित्य से भी प्रमाणित होती है, और ये प्राचीन भारत के प्रसिद्ध राज्य थे। पर पाणिनि द्वारा इनका संघ-जनपदों के रूप में उल्लिखित किया जाना एक महत्त्व की बात है। सम्भवतः, पाणिनि के समय तक इन सब में संघ-शासनों की स्थापना हो गई थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में कुरु की गणना संघ-राज्यों में की गई है। यदि महाभारत युग का प्रसिद्ध राजतन्त्र कुरु जनपद कौटल्य के समय तक स्वतन्त्र हो गया था, तो यह अस्वाभाविक नहीं है कि केकय, काश्मीर, करुष, उरुष आदि पुराने राजतन्त्र राज्य पाणिनि के समय तक संघतन्त्र हो गये हों। भर्गादि गण का कौरव्य सम्भवतः कुरु जनपद को ही सूचित करता है, जो कौटल्य के समय से भी लगभग दो सदी पूर्व संघतन्त्र हो चुका था।

(१५-३०) पाणिनि के सूत्र 'राजन्यादिभ्यो वुञ्' (अष्टाध्यायी ४।२।५३) में जिस राजन्यादि गण का उल्लेख है, उसमें गणपाठ के अनुसार १५ संघ-जनपद सम्मिलित थे। इस गण के राज्य निम्नलिखित हैं—राजन्य, मालव, वैराट, त्रैगर्त, देवयान, शालङ्कायन, जालन्धरायण, आत्मकामेय, अम्बरीशपुत्र, वसाति, बैल्ववन, शैलूष, उदुम्बर, बैल्वल, आर्जुनायन, संप्रिय, दाक्षि और ऊर्णनाभ। इनमें से मालव व त्रैगर्त का उल्लेख पाणिनि के अन्य सूत्रों में भी हुआ है। राजन्यादि गण के इन संघ-जनपदों में से राजन्य और आर्जुनायन के सिक्के भी वर्तमान समय में उपलब्ध हो चुके हैं, जिसके कारण इनकी गणराज्य के रूप में सत्ता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। वैराट, शालङ्कायन, उदुम्बर, जालन्धर व वसाति जनपदों के निर्देश प्राचीन साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। महाभारत के सभापर्व में औदुम्बर की गणना काश्मीर, दरद, कुकुर, क्षुद्रक और मालव के साथ की गई है, जिससे सूचित होता है कि इस जनपद की स्थिति वाहीक देश में ही थी।[3]

(३१) महाराज का उल्लेख एक संघ-जनपद के रूप में पाणिनि ने 'महाराजाट्ठञ्' (४।३।९६) सूत्र में किया है, जिसके अनुसार महाराज जनपद के प्रति

१. महाभारत, सभापर्व, ३०, १०।
२. जातक III, १५७।
३. महाभारत, सभापर्व, ५२, १३-१५।

भक्ति (allegiance) रखने वाले नागरिक की 'महाराजिक' संज्ञा होगी। इस जनपद की सत्ता पंजाब में प्राप्त हुए कतिपय सिक्कों से भी प्रमाणित होती है, जिनके एक ओर नदी और अर्धचन्द्र की प्रतिमा अंकित है, और दूसरी ओर 'महाराज जनपदस' ये शब्द उत्कीर्ण हैं।

(३२) कुरु जनपद का उल्लेख पाणिनि के 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (४।१।१५१) सूत्र में किया गया है। कुर्वादिगण में जिन अन्य शब्दों का परिगणन गणपाठ में मिलता है, उनमें से एक 'मुरु' भी है, जो सम्भवतः उत्तरी बिहार में स्थित मोरिय गण को सूचित करता है। मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त इसी मोरिय या मुरु गण का था, जिसके कारण उसका नाम 'मौर्य' पड़ा था। कुरु प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था, जिसमें पहले राजतन्त्र शासन की सत्ता थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में कुरु का उल्लेख राजशब्दोपजीवि संघों में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय से पूर्व ही इस जनपद में राजतन्त्र शासन का अन्त होकर गणतन्त्र शासन की स्थापना हो गई थी, और इसने भी एक संघ-जनपद का रूप प्राप्त कर लिया था।

(३३-३४) पाणिनि के 'विषयो देशे' (४।२।५२) सूत्र पर टीका करते हुए काशिकाकार ने शिवि और औष्ट्र जनपदों का उल्लेख किया है, जिनमें गण-शासन की सत्ता थी।[१]

इनमें से शिवि पंजाब का एक प्रसिद्ध जनपद था, जिसे ग्रीक लेखकों ने सिबोई (Siboi) नाम से लिखा है। सिकन्दर का इसके साथ भी घनघोर युद्ध हुआ था। इस संघ-जनपद की स्थिति मालव या मल्लोई के समीप थी। महाभारत में ओड्र नाम के एक जनपद का उल्लेख है। सम्भवतः, काशिका का औष्ट्र इस ओड्र को ही सूचित करता है।

(२) पाणिनीय अष्टाध्यायी के अन्य जनपद

पाणिनि की अष्टाध्यायी और महाभाष्य व काशिका के अध्ययन से हमें अन्य भी अनेक ऐसे प्रातिपादिकों का परिचय मिलता है, जो कि जनपदों के नाम थे। इनमें संघ शासन की सत्ता थी या राजतन्त्र शासन की, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश हमें नहीं मिलता, यद्यपि इनकी शासन पद्धति के विषय में कतिपय सूचनाएं अष्टाध्यायी द्वारा अवश्य प्राप्त होती हैं। इन जनपदों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१-३) 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' (पाणिनि ४।४।१६८) सूत्र पर टीका करते हुए काशिका ने पञ्चाल, विदेह और मगध जनपदों का उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी के इस सूत्र द्वारा यह व्यवस्था की गई है, कि जनपद को सूचित करने वाले प्रातिपादिक

१. विषय शब्दो बह्वर्थः। क्वचिद् ग्राम समुदाये वर्तते, विषयो लब्ध इति।...तत्र देशाभिधायी ग्रामसमुदाय प्रतिपत्त्यर्थं। शिवीनां विषयो देशः शैवः। औष्ट्रः।"

के साथ उस दशा में अञ् प्रत्यय लगाया जाए, जब कि जनपद के क्षत्रिय निवासियों का बोध कराना हो। इस व्यवस्था के अनुसार पञ्चाल जनपद का क्षत्रिय नागरिक 'पाञ्चाल:' कहायगा, और वहाँ का ब्राह्मण नागरिक 'पाञ्चालि:'। इसी प्रकार विदेह जनपद के क्षत्रिय और ब्राह्मण नागरिक क्रमशः 'वैदेह:' और 'वैदेहि:' कहायेंगे।[1] बाद में कात्यायन ने पाणिनि के इस सूत्र पर एक वार्तिक द्वारा यह संशोधन किया, कि इन जनपदों के राजा का जब बोध कराना हो, तो भी जनपद सूचक प्रतिपादिक के साथ 'अञ्' प्रत्यय ही लगाया जाए। काशिकाकार ने इसे उदाहरण द्वारा इस ढंग से स्पष्ट किया, कि पञ्चाल जनपद के क्षत्रिय नागरिक के समान वहाँ के राजा को भी 'पाञ्चाल:' कहेंगे, और विदेह व मगध के राजा भी क्रमशः 'वैदेह' व 'मागध' कहाएंगे।[2] ऐसा प्रतीत होता है, कि कात्यायन के समय तक इन जनपदों में गणतन्त्र के स्थान पर राजतन्त्र शासनों की स्थापना हो गई थी, और इसीलिए उसे पाणिनि के सूत्र पर वार्तिक द्वारा संशोधन करने की आवश्यकता हुई थी। कात्यायन का समय तीसरी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग माना जाता है। चौथी सदी ईस्वी पूर्व में मागध साम्राज्य की शक्ति के चरम विकास के कारण भारत में गणतन्त्र शासनों का प्रायः अन्त हो गया था। इस दशा में यदि बाद में कतिपय जनपदों में फिर से राजतन्त्र शासनों की स्थापना हुई हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

प्राचीन भारत के कतिपय जनपदों में वहाँ के ब्राह्मण और क्षत्रिय निवासियों की संज्ञा में भी भेद किया जाता था, यह बात भी पाणिनि के इस सूत्र द्वारा स्पष्ट होती है। सम्भवतः, इन जनपदों के शासन का प्रकार इस ढंग का था, कि वहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय निवासियों के अधिकार आदि में क्रियात्मक दृष्टि से भिन्नता थी। इसी कारण उनकी पृथक् संज्ञा की आवश्यकता हुई थी।

(४-१३) पाणिनि के सूत्र 'साल्वेयगान्धारिभ्यां च' (४।१।१६९) में साल्व और गान्धार जनपदों का उल्लेख है। साल्व की गणना भर्गादि गण (न प्राच्य भर्गादि यौधेयादिभ्यः ४।१।१७८) में भी की गई है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। साल्व नामक क्षत्रियों के नाम पर उनका जनपद भी 'साल्व' कहाता था। साल्व जनपद के नागरिक क्षत्रिय 'साल्वेय' और 'साल्व' कहाते थे। पाणिनि के समय में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संघ-जनपद था, जिसने कि कतिपय अन्य संघ-जनपदों को साथ मिलाकर एक शक्तिशाली 'संघात' (League या Confederacy) का निर्माण कर

१. 'जनपद शब्दो यः क्षत्रियवाची तस्मादपत्येऽञ् प्रत्ययो भवति। पाञ्चाल:। ऐक्ष्वाकः। वैदेहः। जनपद शब्दादिति किम्। द्रुह्योरपत्यं द्रौह्यवः। क्षत्रियादिति किम्। ब्राह्मणस्य पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालिः। वैदेहिः।'

२. 'क्षत्रिय समान शब्दाज्जानपद शब्दात्तस्य राजन्यपत्यवत् (कात्यायन)। पञ्चालानां राजा पाञ्चालः वैदेहः। मागधः।'

—१०

लिया था। पाणिनि ने स्वयं इस साल्व-संघात के 'अवयवों' का उल्लेख 'साल्वावयव-प्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ्' (४।१।१७३) सूत्र में किया है। इस सूत्र की टीका करते हुए काशिकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि उदुम्बर, तिलखल, मद्रकार, युगन्धर, भुलिङ्ग, शरदण्ड, प्रत्यग्रथ, कालकूट, और अश्मक नाम के जनपद साल्व संघात के विविध अवयव थे।[1] इनमें से उदुम्बर का उल्लेख पाणिनि ने स्वयं एक पृथक् संघ-जनपद के रूप में किया है, और महाभारत में भी उसका उल्लेख एक पृथक् जनपद के रूप में आया है। अश्मक भी भारत का एक पृथक् जनपद था, जिसके साथ सिकन्दर के भी युद्ध हुए थे। सम्भवतः, बाद में (पाणिनि के समय से पहले ही) ये सब शक्तिशाली साल्व संघ-जनपद के अवयव रूप हो गये थे। सम्भवतः, कात्यायन के समय (तीसरी सदी ईसवी पूर्व) तक उदुम्बर, साल्व आदि जनपदों में भी गणतन्त्र शासन का अन्त होकर राजाओं का शासन स्थापित हो गया था। इसीलिए काशिकाकार ने कात्यायन के वार्तिक 'क्षत्रिय समान शब्दाज्जनपद शब्दात्तस्य राजन्यपत्यवत्' के अनुसार 'औदुम्बरो राजा' उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

पाणिनि के सूत्र 'साल्वेयगान्धारिभ्यां च' में जिस गान्धार जनपद का उल्लेख किया गया है, वह भारत का एक प्रसिद्ध जनपद था, जिसके राजा आम्भि ने सिकन्दर के आक्रमण के समय आक्रान्ता की सहायता की थी।

(१४-१९) 'वृद्ध्यत्कोसलाजादाञ् मगध कलिङ्ग सूरमसादण्' (पाणिनि ४।१।१७०) सूत्र में मगध, कलिङ्ग और सूरमस जनपदों का उल्लेख है। इनमें से मगध और कलिङ्ग प्राचीन भारत के प्रसिद्ध जनपद थे। सूरमस जनपद का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता, पर काशिकाकार ने इस सूत्र की टीका करते हुए पुण्ड्र, सुम्ह, वंग और अंग जनपदों का भी उल्लेख किया है,[2] जिनका परिचय प्राचीन साहित्य के अन्य ग्रन्थों से भी मिलता है।

(२०-२६) पाणिनि के सूत्र 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ् ञ्यङ्' (४।१।१७१) की टीका करते हुए काशिका में इन जनपदों का उल्लेख किया गया है—कोसल, अम्बष्ठ, अवन्ति, कुन्ति, अजद, सौवीर, कुमारी और पाण्ड्य।[3] इनमें से कोसल, अम्बष्ठ, अवन्ति, सौवीर और पाण्ड्य प्राचीन भारत के प्रसिद्ध जनपद हैं। इस सूत्र पर कात्यायन ने

१. 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादित्येव। साल्वा नाम क्षत्रिया, तन्नामिकास्तस्यापत्यं वृध्यच् इति ढक्। साल्वेयः। अणपीष्यते। साल्वः। तस्य निवासो साल्वो जनपदः। तदवयवा उदुम्बरादयस्तेभ्यः क्षत्रिय-प्रभृतिभ्य इदं प्रत्यय विधानम्। साल्वावयेभ्यः प्रत्यग्रथकलकूटाश्मक शब्देभ्यश्चापत्ये इञ् प्रत्ययो भवति। अजोपवाद्ः। औदुम्बरिः। तैलखलिः। माद्रकारिः। यौगन्धरिः। भौलिङ्गिः। शारदण्डः। प्रात्यग्रथिः। कालकूटिः। आश्मकिः। तस्य राजनीत्येव। औदुम्बरो राजा।

उदुम्बरा स्तिलखलाः मद्रकारा युगन्धराः।
भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावय संज्ञिताः॥

२. 'आङ्गः। वाङ्गः। सौरमसः। पौण्ड्रः। मागधः। कालिङ्गः। सौह्मः। तस्य राजनीत्येव। आङ्गो राजा।

३. 'पाण्डोर्जनपद शब्दात् क्षत्रियाड् ड्यण् वक्तव्यः (कात्यायन)
पाण्ड्यः। अन्यस्मात् पाण्डव एव।'

एक वार्तिक लिखकर एक महत्त्वपूर्ण संशोधन किया है, जिसके अनुसार 'पाण्ड्य' और 'पाण्डव' के भेद को स्पष्ट किया गया है। पाण्ड्य जनपद के नागरिकों (जानपदियों) की संज्ञा जहाँ 'पाण्ड्य' होगी, वहाँ कुरु देश के प्रसिद्ध राजा पाण्डु की सन्तान के लिए 'पाण्डव' शब्द का प्रयोग होगा। पाण्ड्य जनपद के साथ 'कुमारी जनपद' का उल्लेख सम्भवत: वर्तमान कुमारी अन्तरीप के समीप स्थित 'कुमारी जनपद' का परिचायक है। पाण्ड्य जनपद की स्थिति भारत के सुदूर दक्षिण में थी, कुमारी जनपद भी सुदूर दक्षिण में ही था। सम्भवतः, इन जनपदों में राजतन्त्र शासनों की सत्ता थी, तभी काशिकाकार ने 'आम्बष्ठ्यो राजा' व 'आवन्त्य' राजा का उल्लेख किया है।

(२७-२८) पाणिनि के सूत्र 'कुरुनानादिभ्यः' (४।२।१७२) में कुरु जनपद का उल्लेख है, जिसकी व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने कुरु प्रातिपादिक के साथ 'ण्य' प्रत्यय लगाकर 'कौरव्य' शब्द की रचना की है। 'कौरव्य' कुरु के राजा की संज्ञा थी। पाणिनि ने कुरु शब्द का उल्लेख एक संघ-जनपद के रूप में भी किया है। सम्भवतः, इस सूत्र (४।२।१७२) का कुरु कुरुदेश के कुरु से भिन्न है, और महाभारत आदि में वर्णित 'उत्तर कुरु' के जनपद को सूचित करता है, जहाँ के राजा व क्षत्रिय नागरिकों के लिए 'कौरव्य' शब्द का प्रयोग होता था। इस सूत्र की टीका में काशिकाकार ने 'निषध' नाम के जनपद का भी उल्लेख किया है, जो प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध जनपद था।

(२९-३२) 'कम्बोजाल्लुट्' (पाणिनि ४।१।१७५) सूत्र की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने कम्बोज के अतिरिक्त चोल, केरल और शक व यवन का भी उल्लेख किया है। कम्बोज प्राचीन भारत का एक प्रसिद्ध जनपद था, जिसका परिगणन कौटल्य ने 'वार्ताशास्त्रोपजीवि' संघों में किया है। पर पाणिनीय व्याकरण के अनुसार वहाँ राजतन्त्र शासन की सत्ता थी, और उसके राजा को 'कम्बोज' कहते थे। सम्भवतः, कम्बोज में गणतन्त्र शासन की स्थापना पाणिनि के बाद के समय में हुई थी। चोल और केरल पाण्ड्य के समान ही सुदूर दक्षिण के जनपद थे, जिनमें राजतन्त्र शासनों की सत्ता थी। शकों और यवनों के जनपदों में भी राजाओं के ही वंशक्रमानुगत शासन विद्यमान थे।

(३३-३४) पाणिनि के 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) सूत्र की टीका में काशिकाकार ने पञ्चाल, कुरु, अङ्ग, वङ्ग, मगध, सुम्ह और पुण्ड्र के अतिरिक्त मत्स्य जनपद का भी उल्लेख किया है, जो कि प्राचीन काल में भारत का एक प्रसिद्ध जनपद था। साथ ही, 'विदिशा' जनपद का भी इस सूत्र की वृत्ति में उल्लेख है, जो भारत की एक प्रसिद्ध प्राचीन नागरी थी, और जिसके कारण वह जनपद भी 'विदिशा' या 'वैदिश' कहाता था।[1]

१. देशे तन्नाम्नोति यश्चातुरर्थिकः प्रत्ययो भवति, तस्य देशविशेषे जनपदेऽभिधेये लुब् भवति। ग्रामसमुदायो जनपदः। पञ्चालाः। कुरवः। मत्स्याः। अङ्गाः। वङ्गाः। मगधाः। सुम्हाः। पुण्ड्राः।...... औदुम्बरो जनपदः, वैदिशो जनपदः।'

(३५-३८) 'न द्व्यचः प्राच्य भरतेषु' (पाणिनि ४।२।११३) सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार ने चेदि, काशी और पौष्कि जनपदों का उल्लेख किया है।[1]

(३९) 'विभाषोशीनरेषु' (पाणिनि ४।२।११८) सूत्र में उशीनर जनपद का उल्लेख है, और काशिकाकार ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए उशीनर जनपद के निम्नलिखित ग्रामों का निर्देश किया है।[2] आह्वजालिकी, आह्वजालीया, सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका और सौदर्शनीया। उशीनर जनपद की सत्ता प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्य ग्रन्थों से भी सूचित होती है।

(४०-४६) पाणिनि के सूत्र 'कच्छाग्नि वक्त्रगर्तोत्तर पदात्' (४।२।१२६) की टीका में काशिकाकार ने दारुकच्छक, पैप्पलीकच्छक, काण्डाग्नक, वैभुजाग्नक, ऐन्द्र-वक्तृक, सैन्धुवक्तृक, बाहूगर्तक और चाक्रगर्तक का जनपदों के रूप से उल्लेख किया है। इन जनपदों के नाम अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते। जिन जनपदों के नामों के पीछे 'कच्छ' शब्द आया है, वे सम्भवतः सौराष्ट्र में स्थित थे। पाणिनि के एक अन्य सूत्र 'कच्छादिभ्यश्च' (४।२।१३३) में कच्छादि गण में सिन्धु और अनूप जनपदों का भी परिगणन किया गया है, जो स्पष्टतया भारत के पश्चिम-दक्षिणी प्रदेशों में स्थित थे।

इस प्रकरण में पाणिनि की अष्टाध्यायी, गणपाठ और अन्य व्याकरण साहित्य के आधार पर जिन जनपदों के नाम दिये गये हैं, उनके अतिरिक्त भी कतिपय जनपदों के उल्लेख इस साहित्य में आये हैं। उन सब को यहाँ उल्लिखित कर सकना सम्भव नहीं है। व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों में इतने अधिक जनपदों का उल्लेख सचमुच महत्त्व की बात है। पाणिनि ने इनका उल्लेख केवल यह प्रदर्शित करने के लिए किया है, कि जनपदों को सूचित करने वाले विविध प्रातिपदिकों में कौन-सा प्रत्यय लगाने से वहाँ के निवासियों व नागरिकों का बोध होगा, और उन निवासियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के जो विविध वर्ग हैं, उन्हें सूचित करने के लिए कौन-कौन से विविध प्रत्यय लगाकर विभिन्न शब्द बनेंगे। मद्र जनपद के कौन-से निवासी 'माद्र' कहाएँगे, और कौन-से 'मद्रक', 'वार्ज्य' और 'वृजिक' में क्या भेद है, 'मालव्य' और 'मालव' व 'साल्वेय' व 'साल्व' एक ही जनपद के किन विभिन्न निवासियों की संज्ञा है, यह प्रश्न यद्यपि वर्तमान समय में कोई महत्त्व नहीं रखता, पर प्राचीन जनपदों में इस का बहुत अधिक महत्त्व था। इसीलिए पाणिनि व उनकी अष्टाध्यायी के टीकाकारों ने इन भेदों को स्पष्ट करने के प्रयोजन से इतने जनपदों का उल्लेख किया है। अनेक जनपदों में शासनपद्धति में परिवर्तन आजाने के कारण जब बाद में वहाँ नये शब्दों

१. 'चैदीयाः। पौष्कीयाः। काशीयाः। देशवाचिनः काशिशब्दस्य तत्र ग्रहणं चैदिशब्देन साहचर्यात्।'

२. 'उशीनरेषु ये वाहीक ग्रामा स्तद्वाचिभ्यो वृद्धेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः विभाषा ठञ् ञिठौ प्रत्ययो भवतः। आह्वजालिकी। आह्वजालीया।"

का प्रचलन हुआ, तो कात्यायन ने वार्तिक बनाकर उन शब्दों की रचना की व्यवस्था की।

(३) पाणिनि के आधार पर जनपदों का शासन

पाणिनि की अष्टाध्यायी द्वारा हमें उनके युग के जनपदों के नामों का ही परिचय नहीं मिलता, अपितु उनके शासन के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। ये निर्देश निम्नलिखित हैं—

(१) जनपद के निवासियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जाता था—(१) जिनकी उस जनपद के प्रति भक्ति (allegiance) हो, (२) जो वहाँ निवास करते हों, और (३) जिनके पितृपैतामह उस जनपद में निवास करते आये हों। क्योंकि इन तीनों प्रकार के निवासियों को जनपद में नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे, अतः इन तीनों का बोध कराने के लिए एक ही संज्ञा प्रयुक्त की जाती थी। इन तीन प्रकार के निवासियों के सम्बन्ध में पाणिनि की अष्टाध्यायी के निम्नलिखित सूत्र महत्त्व के हैं—(क) सोऽस्य निवासः (४।३।८९), जहाँ जिसका निवास हो, वह उसका देश या जनपद कहाता है। स्रुघ्न में निवास करने वाले को 'स्रौघ्न' कहेंगे, मथुरा में निवास करने वाले को 'माथुर'।[1] (ख) अभिजनश्च (४।३।९०), अभिजन का अर्थ है, पूर्व बान्धव। इसी कारण देश या जनपद को भी 'अभिजन' कहा जाता है। जिस व्यक्ति के पूर्व बान्धव (पितृपैतामह) स्रुघ्न देश के रहने वाले थे, उसे भी 'स्रौघ्न' कहेंगे। जिसके पूर्व बान्धव मथुरा के रहने वाले थे, उसे भी 'माथुर' कहेंगे, चाहे वर्तमान समय में वह मथुरा में निवास न भी करता हो। निवास और अभिजन में क्या भेद है ? जहाँ सम्प्रति निवास किया जाता हो, उसे 'निवास' कहा जायगा। जहाँ पूर्व पुरुष रहते रहे हों, उसे 'अभिजन' कहा जायगा। हो सकता है, कि स्रुघ्न अभिजन वाला कोई व्यक्ति वर्तमान समय में स्रुघ्न में न रहकर कोशल जनपद में निवास कर रहा हो, पर उसे अब भी 'स्रौघ्न' ही कहा जायगा, क्योंकि उसके पूर्व पुरुषों का अभिजन स्रुघ्न ही था।[2] (ग) 'भक्तिः' (४।३।९५), जिस किसी व्यक्ति को स्रुघ्न जनपद के प्रति भक्ति (allegiance) हो, उसे 'स्रौघ्न' कहा जायगा, चाहे वह स्वयं सम्प्रति वहाँ न रह रहा हो, और चाहे उसके पूर्व पुरुष भी स्रुघ्न के रहने वाले न हों।[3] इस प्रकार पाणिनि के अनुसार किसी देश या जनपद की नागरिकता

१. 'सोऽस्य निवासः। निवसन्ति अस्मिन् निवासो देश उच्यते। स्रुघ्नोनिवासोऽस्य स्रौघ्नः। राष्ट्रियः। माथुरः।'

२. 'अभिजनश्च। अभिजनः पूर्व बान्धवः। तत्सम्बन्धात् देशोऽपि अभिजन उच्यते। यस्मिन् पूर्व-बान्धवै रुषितं तस्मादिह देशवाचिनः प्रत्ययो, न बन्धुभ्यो निवास प्रत्यासत्तेः। स्रुघ्नोभिजनोस्य स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः। निवासाभिजनयोः को विशेषः। यत्र सम्प्रत्युष्यते स निवासः। यत्र पूर्वैरुषितं सोभिजनः।'

३. 'भक्तिः। स्रुघ्नो भक्तिरस्य स्रौघ्नः। राष्ट्रियः। माथुरः।'

प्राप्त करने के तीन साधन थे, निवास द्वारा, अभिजन के कारण और भक्ति के आधार पर। स्थायी रूप से किसी जनपद में बस जाने से वहाँ की नागरिकता प्राप्त की जा सकती थी। पूर्वपुरुषों व बन्धुबान्धवों का जहाँ पूर्व काल में निवास रहा हो, उसकी नागरिकता ऐसे व्यक्ति को भी प्राप्त रहती थी, जो अब सामयिक रूप से कहीं अन्यत्र रह रहा हो; और ऐसे व्यक्ति भी किसी जनपद के नागरिक माने जाते थे, जो उस जनपद के प्रति राजनीतिक भक्ति रखते हों। जिन्होंने किसी देश व जनपद को अपना लिया हो, वे चाहे सम्प्रति वहाँ न भी रह रहे हों, और चाहे उनके पूर्वजन भी वहाँ न रहते रहे हों, तो भी वे वहाँ के नागरिक मान लिए जाते थे।

(२) पाणिनि के समय में कतिपय जनपद ऐसे भी थे, जिनके सब निवासी शासन की दृष्टि से एक समान महत्त्व नहीं रखते थे। विशेषतया, पूर्वी भारत के जनपदों में आर्यभिन्न जनता बहुत बड़ी संख्या में निवास करती थी। आर्य लोग पश्चिम से पूर्व की ओर भारत में फैले थे। वहाँ उन्होंने जो जनपद स्थापित किये थे, उनमें आर्यों की अपेक्षा आर्यभिन्न निवासियों की संख्या अधिक थी। अंग, वंग, पुण्ड्र व सुम्ह इसी प्रकार के जनपद थे। उत्तरी विहार के गण-राज्यों में भी आर्यभिन्न लोगों की बहुसंख्या थी। इसीलिए पूर्वी भारत के जनपदों के निवासियों में आर्य-क्षत्रियों का एक ऐसा वर्ग था, जिसे 'जनपदी' या 'जनपदस्वामिनः' कहा जाता था। इन जनपदों के जो निवासी जनपद के प्रति भक्ति (allegiance) रखते थे, वे साथ ही 'जनपदियों' के प्रति भी भक्ति रखते थे। पाणिनि के सूत्र 'जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने' (४।३।१००) में इसीलिए यह विधान किया गया है, कि बहुवचनात्मक जनपद प्रातिपादिक में जो प्रत्यय लगाकर उस जनपद के प्रति भक्ति रखने वालों की संज्ञा सूचित की जाती है, वही प्रत्यय लगा कर 'जनपदियों' (जनपदस्वामी क्षत्रियों) के प्रति भक्ति रखने वालों की संज्ञा भी सूचित की जाए। काशिकाकार ने इसके उदाहरण निम्नलिखित दिये हैं, अंग जनपद के प्रति जिसकी भक्ति हो, उसे 'आङ्गक' कहा जायगा। इसी प्रकार अंग के जनपदियों के प्रति भक्ति रखने वाले भी 'आङ्गक' कहाएँगे। सौह्मक, पौण्ड्रक और वाङ्गक शब्द भी इसी प्रकार बनेंगे। भारत के जनपदों के आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में व्याकरण-ग्रन्थों का यह निर्देश बहुत महत्त्व का है, क्योंकि इससे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि इन जनपदों के स्वामी वहाँ के सब निवासी न होकर वहाँ के कतिपय क्षत्रिय लोग ही होते थे, जिन्हें 'जनपदी' कहा जाता था। जनपद के प्रति भक्ति रखने वाले

१. 'जनपदिनो ये बहुवचने जनपदेन समान शब्दास्तेषां जनपदवत्सर्वं भवति प्रत्ययः प्रकृतिश्च सोऽस्य भक्तिरित्येतस्मिन् विषये। जनपदतदवध्योश्चेत्यत्र प्रकरणे ये प्रत्यया विहितास्ते जनपदिभ्योऽस्मिन्नर्थेऽतिदिश्यन्ते। जनपदिनो जनपदस्वामिनो क्षत्रियाः। अंगा जनपदो भक्तिरस्य आंगकः। वांगकः। सौह्मकः। पौण्ड्रकः। तद्वदंगाः क्षत्रिया भक्तिरस्य आंगकः। वांगकः। सौह्मकः। पौण्ड्रकः।'

व्यक्ति स्वाभाविक रूप से इन 'जनपदियों' के प्रति भी भक्ति रखते थे।

(३) पाणिनि के समय में बहुत-से संघ-जनपद ऐसे थे, जिनमें कि कतिपय विशिष्ट कुलों का शासन था। इन्हें कुलतन्त्र या श्रेणितन्त्र (Oligarchy) कहा जा सकता है। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों में बहुतों का शासन 'ग्रालीगार्की' के रूप में ही था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कुल के लिये 'गोत्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। उस युग में इन गोत्रों का बहुत महत्त्व था। इसीलिये पाणिनि ने गोत्र, अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य में भेद करने के लिए बहुत प्रयत्न किया है। एक समय में केवल एक व्यक्ति ही 'गोत्रापत्य' की स्थिति प्राप्त करता था, उस कुल के अन्य सब व्यक्ति 'युवापत्य' की स्थिति रखते था। किसी विशिष्ट कुल (गोत्र) का जो व्यक्ति 'गोत्रापत्य' की स्थिति में हो, उसे कौन-सी संज्ञा दी जाए, और उस कुल के अन्य व्यक्तियों को 'युवापत्य' रूप में किस संज्ञा से जाना जाए, यह बताने के लिए पाणिनि ने बहुत-से सूत्रों की रचना की है। इसका कारण यह है, कि कुलतन्त्र जनपदों की शासन-सभा में प्रत्येक कुल का केवल एक-एक व्यक्ति (जो गोत्रापत्य हो) ही उपस्थित हो सकता था, सब नहीं।

इस बात को स्पष्ट करने के लिये हम पाणिनीय अष्टाध्यायी से व्याकरण-सम्बन्धी कतिपय महत्त्वपूर्ण नियमों को उल्लिखित करते हैं—

गोत्र की परिभाषा पाणिनि ने इस प्रकार की है—'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रं' (४।१।१६२)। पौत्र से शुरू कर जो सन्तान-परम्परा हो, उसे 'गोत्र' कहा जायगा। गोत्र की परिभाषा इस प्रकार से करके पाणिनि ने यह स्पष्ट किया है, कि एक गोत्र के 'गोत्रापत्य' और 'युवापत्य' स्थिति वाले व्यक्तियों की विभिन्न संज्ञाएं क्या होंगी। मान लीजिए कि गर्ग नाम के एक वीर पुरुष ने अपने पराक्रम, धन व विद्या के कारण एक नये कुल की स्थापना की, और इस कुल को कुलतन्त्र जनपद की शासन-सभा में पृथक् रूप से स्थान प्राप्त हो गया। पाणिनि के अनुसार इस गर्ग के पुत्र (अनन्तरापत्य or immediate progeny) की संज्ञा 'गार्गिः' होगी। गर्ग के पौत्र से शुरू कर जो सन्तान-परम्परा होगी, वह सब गर्ग गोत्र (कुल या परिवार) की अंग होगी, पर इनमें से जो आयु में सब से बड़ा होगा, उसकी संज्ञा 'गार्ग्य' होगी (वह गोत्रापत्य कहायगा), और गर्ग के गोत्र (कुल) के अन्य सब व्यक्ति 'गार्ग्यायण' (युवापत्य) कहायेंगे। अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य का यह भेद पाणिनि के समय के कुलतन्त्र जनपदों में बहुत महत्त्व रखता था, क्योंकि जनपद की शासन-सभा में कुल या गोत्र की ओर से केवल गोत्रापत्य (गार्ग्य) ही सम्मिलित हुआ करता था। इन कुल-तन्त्र जनपदों में न सर्वसाधारण जनता का शासन था, और न प्रतिनिधि निर्वाचित होने की ही पद्धति थी। कुल का प्रतिनिधित्व गोत्रापत्य (जो कुल या गोत्र का वृद्धतम सदस्य हो) द्वारा किया जाता था, जिसकी विशिष्ट संज्ञा (यथा गार्ग्य) होती थी। इस

सम्बन्ध में पाणिनि के निम्नलिखित सूत्र उल्लेखनीय हैं—

(क) 'एको गोत्रे' (४।१।६३), इस सूत्र की काशिका वृत्ति के अनुसार पौत्र प्रभृति सन्तान को 'गोत्र' कहते हैं। गोत्र के मूल पुरुष के पौत्र से गोत्र का प्रारम्भ होता है, इस पौत्र की संज्ञा (यथा गार्ग्य) के निर्माण के लिये मूल प्रातिपादिक (गर्ग या गार्गि:) के साथ जो प्रत्यय लगाया जायगा, वही बाद के गोत्रापत्यों के लिये भी प्रयुक्त होगा। सन्तान-परम्परा की जो भी पीढ़ी हो, चाहे यह पीढ़ी कितने ही बाद की क्यों न हो, उसकी संज्ञा के निर्माण के लिये प्रथम प्रकृति (गार्गि:) के साथ ही प्रत्यय लगेगा।[1]

(ख) 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्' (४।१।६४), इस सूत्र के अनुसार जो कनिष्ठ (युवा) पुत्र हों, उनके लिये वह प्रत्यय नहीं लगेगा, जोकि ज्येष्ठ पुत्र (गोत्रापत्य) के लिये लगता है।[2] इन युवा (कनिष्ठ) पुत्रों (कन्याओं नहीं) के लिये 'यञिञोश्च' (४।१।१०१) सूत्र के अनुसार 'यञ्' प्रत्यय लगेगा, जिसके कारण उनकी संज्ञा 'गार्ग्यायण' होगी। केवल 'गार्ग्य' का पुत्र (वह भी ज्येष्ठ) ही 'गार्ग्य' होगा, गार्ग्यायण के पुत्र और गार्ग्य के कनिष्ठ पुत्र 'गार्ग्यायण' ही कहाएँगे, क्योंकि युवापत्य अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय लगता है। 'भ्रातरि च ज्यायसि'[3] (४।१।१६५) सूत्र की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने इस बात को इस ढंग से स्पष्ट किया है—"बड़े भ्राता के जीवित होते हुए कनीयान् भ्राता 'युवसंज्ञक' कहाएँगे। गार्ग्य के दो पुत्र हैं, जब तक गार्ग्य जीवित है, उसके दोनों पुत्र 'युवसंज्ञक' होंगे। जब गार्ग्य की मृत्यु हो जायगी, तो बड़े भाई के जीवित होने की दशा में कनीयान् भ्राता 'युवसंज्ञक' रहेगा, इसी प्रकार अन्य भी, बशर्ते कि ज्येष्ठ भ्राता जीवित हो। ज्येष्ठ भ्राता 'गार्ग्य' कहायगा, और कनीयान् (युवा) 'गार्ग्यायण'। इसी प्रकार 'वात्स्यायन', 'दाक्षायण' आदि को समझा जाए। इससे स्पष्ट है कि एक समय में केवल एक ही 'गार्ग्य', 'वात्स्य' या 'दाक्ष्य' हो सकता है। पिता के जीवन-काल में उस के सब पुत्र युवापत्य (गार्ग्यायण, वात्स्यायन, दाक्षायण) कहाएँगे, उसके बाद ज्येष्ठ पुत्र गोत्रापत्य (गार्ग्य, वात्स्य, दाक्ष्य) हो जायगा, शेष सब युवापत्य ही रहेंगे।

(ग) 'वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति' (४।१।१६५) सूत्र के अनुसार

---

१. 'एको गोत्रे। अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्। तस्मिन् विवक्षिते भेदेन प्रत्यपत्यं प्रत्ययोत्पत्ति प्रसंगे नियमः क्रियते। गोत्रे एक एव प्रत्ययो भवति, सर्वेऽपत्येन युज्यन्ते।
गर्गस्यापत्यं गार्गिः। गार्गेरपत्यं गार्ग्यः। तत्पुत्रोऽपि गार्ग्यः।'

२. 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्। अयमपि नियमः यून्यपत्ये विवक्षिते गोत्रादेव प्रत्ययो भवति, न परम प्रकृत्य-नन्तर युवभ्यः गार्ग्यस्यापत्यं युवा, गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः।'

३. 'भ्रातरि ज्यायसि जीवति कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति पौत्रप्रभृतेरपत्यम्। गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ तयोः कनीयान् मृते पित्रादौ वंश्ये भ्रातरि ज्यायसि जीवति युवसंज्ञो भवति। अवंश्यार्थोयमारम्भः। पूर्वजाः पित्रादयो वंश्या इत्युच्यन्ते। भ्राता न तु वंश्यः। अकारणत्वात्। गार्ग्ये जीवति गार्ग्याय-णोऽस्य कनीयान् भ्राता। वात्स्यायनः। दाक्षायणः।"

मान लीजिये कि कुल या गोत्र का कोई अन्य सदस्य (पिता या पितामह का भाई) अभी जीवित है, और उसकी आयु सबसे अधिक है, तो वही गोत्रापत्य (गार्ग्य, दाक्ष्य, वात्स्य) कहायगा,[१] पहले वंश्य गोत्रापत्य (गार्ग्य आदि) का ज्येष्ठ पुत्र भी आयु में कम होने के कारण युवापत्य ही (गार्ग्यायण, दाक्षायण, वात्स्यायन) की स्थिति में रहेगा। पूर्व पुरुषों को 'वंश्य' कहते हैं। सबसे ज्येष्ठ भी 'वंश्य' कहाता है। अतः 'वंश्य' के होते हुए अन्य सब युवापत्य कहायँगे। एक समय में केवल एक ही गोत्रापत्य हो सकता है, और पूर्ववर्ती गोत्रापत्य की मृत्यु के बाद यह आवश्यक नहीं कि उसका ज्येष्ठ पुत्र ही 'गोत्रापत्य' की स्थिति को प्राप्त करे। यदि उस कुल (गोत्र) का कोई अन्य स्थविरतर (अधिक आयु का) व्यक्ति जीवित हो, तो 'गोत्रापत्य' का पद वही प्राप्त करेगा।

(घ) पाणिनि के सूत्र 'वृद्धस्य च पूजायाम्' (अष्टाध्यायी ४।१।१६६) द्वारा यह सूचित होता है, कि 'गोत्रापत्य' का सूचक 'वृद्ध' शब्द भी था।[२] कुलतन्त्र शासन वाले संघ-जनपदों में कुल (गोत्र) का जो स्थविरतर व्यक्ति (गोत्रापत्य) जनपद की शासन-सभा में कुल का प्रतिनिधित्व करता था, उसे जहाँ 'गोत्रापत्य' कहते थे, वहाँ उसे 'वृद्ध' भी कहा जाता था। इसीलिए प्राचीन भारत के अनेक ग्रन्थों में जनपदों की शासक सभाओं के सदस्यों के लिए 'कुलवृद्ध' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। रामायण, महाभारत आदि में स्थान-स्थान पर 'ग्रामवृद्ध', 'कुलवृद्ध', 'वृद्धदर्शी' आदि शब्द आये हैं। इनका अर्थ ग्राम के बूढ़े व्यक्ति या बूढ़े लोगों को देखने वाला नहीं है। ये एक सुनिश्चित भाव को प्रकट करते हैं। ग्राम सभा में ग्राम के अन्तर्गत कुलों के वृद्ध (गोत्रापत्य) सम्मिलित होते थे। राजतन्त्र जनपदों में राजा के लिए यह आवश्यक था कि वह 'वृद्धदर्शी' हो, जनपद के कुलवृद्धों (गोत्रायत्यों) से मिलकर उनकी सम्मति को जानता रहे। वृद्ध एक पारिभाषिक शब्द था, जो एक सुनिश्चित अर्थ का बोध कराता था। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि किसी कुल में बहुत से ऐसे व्यक्ति हों, जो बड़ी आयु प्राप्त कर चुके हों, पर उन सबको 'वृद्ध' नहीं कहा जाता था। बड़ी आयु के कारण यदि उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना हो, तो उनके नाम के साथ 'तत्रभवान्' विशेषण लगाया जाता था। 'तत्रभवान्' गोत्रापत्य (गार्ग्य) को भी कहा जा

१. 'वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति। भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रप्रभृतेरपत्यं युवसंज्ञं वा भवति।...पितृव्ये पितामहे भ्रातरि वयसाधिके जीवति।"

२. वृद्धस्य च पूजायाम्। अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति शास्त्रान्तरे परिभाषणात् गोत्रं वृद्धमित्युच्यते। वृद्धस्य युवसंज्ञा वा भवति पूजायां गम्यमानायाम्। संज्ञा सामर्थ्यात् गोत्रं युवप्रत्ययेन पुनरुच्यते।... तत्रभवान् गार्ग्यायणः गार्ग्यो वा।'

यदि किसी व्यक्ति के प्रति आदर के बजाय कुत्सा का भाव प्रदर्शित करना हो, तो उसके साथ 'जाल्म' विशेषण लगाने का विधान भी पाणिनि ने 'यूनश्च कुत्सायाम्' (४।१।१६७) सूत्र द्वारा किया है, जिसके कारण 'गार्ग्यो जाल्मः' प्रयोग बनता है। कुत्सा को सूचित करने के लिए 'जाल्म' विशेषण लगा दिया जायगा।

सकता था, और युवापत्य (गार्ग्यायण) को भी। पर 'वृद्ध' पद केवल गोत्रापत्य (गार्ग्य) ही प्राप्त कर सकता था, अन्य कोई नहीं।

गोत्रापत्य और युवापत्य के इस भेद का पाणिनि के समय में क्रियात्मक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था। इसीलिए पाणिनि ने बड़े विस्तार के साथ उन प्रत्ययों का प्रतिपादन किया है, जिन्हें लगाकर विविध कुलों (गोत्रों) के सूचक प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य व युवापत्य शब्द बनाये जाते थे। अष्टाध्यायी और गणपाठ में जिन गोत्रों के नाम दिये गये हैं, और जिनके गोत्रापत्य और युवापत्य शब्द बनाने के सम्बन्ध में पाणिनि के सूत्रों द्वारा विधान किया गया है, उनकी संख्या एक हजार के लगभग है। ये गोत्र नाम प्राय: उन जातियों के है; जिनकी स्थिति पंजाब व उसके समीपवर्ती प्रदेशों में थी। वर्तमान समय में भी खत्री, अग्रवाल आदि जातियों में ये गोत्र पाये जाते हैं। पाणिनि के समय में इन जातियों (जनों, कबीलों या ट्राइबों) के अपने जनपद थे, और इन जनपदों में विविध कुलों (गोत्रों) के कुलवृद्धों (गोत्रापत्यों) का शासन था। एक कुल या गोत्र के सब व्यक्ति परस्पर भाई-बहन माने जाते थे, इसी कारण उनमें विवाह निषिद्ध था। यही परम्परा अब तक भी कायम है। प्राचीन क्षत्रिय (Xathroi) जनपद के अनेक कुल या गोत्र जो अष्टाध्यायी व उसके गणपाठ में परिगणित हैं, उनमें कर्पूर[1] (कपूर), भल्ल[2] (भल्ला), खन्न[3] (खन्ना) आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब वर्तमान खत्री जाति के विविध गोत्र हैं। प्राचीन काल में यही क्षत्रिय जनपद के कुल या गोत्र थे। यही बात वर्तमान अग्रवाल जाति (प्राचीन आग्रेय जनपद) के गर्ग,[4] गोविल आदि गोत्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पर पाणिनि को यह भलीभाँति विदित था, कि 'गोत्र' शब्द केवल कुल के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता। इस शब्द का प्रयोग अन्य अनेक अर्थों में भी होता था, जिनमें एक प्रमुख अर्थ 'समूह' का था। इसीलिए अष्टाध्यायी के सूत्र 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज राजन्य राजपुत्र-वत्स मनुष्याजाद् वुञ्' (४।२।३९) में गोत्र के अन्य अभिप्राय को सूचित करने वाले प्रातिपादिकों के साथ लगने वाले प्रत्यय का विधान किया गया है। काशिकाकार ने गोत्र शब्द के इस समूहार्थ में प्रयुक्त होने वाले प्रातिपदिकों को 'लौकिक गोत्र' की संज्ञा दी है।[5] पर इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि के समय में

१. 'शुभ्रादिभ्यश्च' (४।१।१२३) शुभ्रादिगण में।
२. 'संकलादिभ्यश्च' (४।२।७५) संकलादि गण में।
३. 'शिवादिभ्योण' (४।१।११२) शिवादिगण में।
४. 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५)।
ब्राह्मणों का प्रसिद्ध गोत्र 'संस्कृति' और सरावगियों का सोगानी गोत्र (सोगी के रूप में) व अन्य बहुत से गोत्र पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट हैं।
५. 'गोत्रादिभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन्विषये। अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रं गृह्यतेऽपत्यमात्रं न तु पौत्र प्रभृत्येव। औपगवानां समूहः औपगवकम्। कापटवकम्।"

गोत्र का मुख्य अर्थ 'कुल' ही था, और इसी कारण गोत्रापत्य व युवापत्य अर्थों में प्रातिपादकों द्वारा बनने वाले विविध शब्दों के सम्बन्ध में अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा विशद रूप से निरूपण किया गया है।

(४) संघ-जनपदों में शासन का अधिकार जिन व्यक्तियों के हाथों में निहित था वे राजतन्त्र जनपदों के राजाओं के समान 'अभिषिक्त' नहीं होते थे। इसी कारण उन्हें 'राजा' या 'राजन्य' नहीं समझा जा सकता था। 'राजन्य बहुवचन द्वन्द्वेन्धक वृष्णिषु' (६।२।३४) सूत्र की काशिका वृत्ति द्वारा यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाता है, जहाँ यह कहा गया है कि अन्धक-वृष्णियों को 'राजन्य' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे 'अभिषिक्तवंश्य' नहीं हैं। राजन्य शब्द केवल 'अभिषिक्तवंश्यों' के लिए ही प्रयुक्त होता है।[1]

(५) संघ-जनपदों के अपने-अपने अंक (चिह्न), लक्षण (निशान) और घोष भी होते थे। अपनी मुद्राओं और झण्डों पर वे विशेष अंक व लक्षण प्रयुक्त करते थे, और उनका घोष (जयकार) भी पृथक् रूप से होता था। पाणिनि के सूत्र 'संघांकलक्षणेश्वञ् यञिञामण्' (४।३।१२७) में संघ-जनपदों के अंकों और लक्षणों का उल्लेख है, पर कात्यायन के इस सूत्र पर एक वार्तिक (घोषग्रहणमत्र कर्तव्यम्) बनाकर घोष को भी अंक और लक्षण शब्दों के साथ जोड़ दिया है।

यद्यपि पाणिनि की अष्टाध्यायी व गणपाठ, पतंजलि का महाभाष्य और काशिका सस्कृत के व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं, पर प्रसंगवश उनमें जनपदों के सम्बन्ध में जो सामग्री व निर्देश आ गए हैं, इस अध्याय में हमने उनका अत्यन्त संक्षेप के साथ संकलन किया है। इन ग्रन्थों से हमें जहाँ प्राचीन भारत के अनेक जनपदों (गणतन्त्र शासन वाले व अन्य) का परिचय मिलता है, वहाँ उनके शासन के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। प्राचीय भारतीय राज्य-संस्थाओं के अनुशीलन के लिए इन सूचनाओं का बहुत महत्त्व है। पाणिनि के समय में संघ-जनपद दो प्रकार के थे, एक आयुधजीवि और दूसरे ऐसे जिन पर जनपदियों का शासन था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन्हीं के लिए क्रमशः 'वार्ता-शस्त्रोपजीवि' और 'राज-शब्दोपजीवि' शब्दों का प्रयोग किया गया है। आयुधजीवि और शस्त्रोपजीवि स्पष्ट ही एक ही प्रकार के संघ-जनपदों के परिचायक हैं। 'जनपदी' वे विशिष्ट कुल थे, जिनके मुख्य या वृद्ध अपने को 'राजा' विशेषण द्वारा सूचित करने में गर्व अनुभव करते थे। इसी कारण कौटल्य ने उन्हें 'राज्यशब्दोपजीवि' कहा है। मनुस्मृति में सम्भवतः इन्हें ही 'जातिमात्रोपजीवि' कहा गया है। वहाँ लिखा है, कि यदि व्रत और मन्त्रविहीन हजारों जातिमात्रोपजीवि व्यक्ति भी एकत्र हो जाएँ, तो उनसे 'परिषद'

१. 'राजन्य बहुवचनद्वन्द्वेन्धक वृष्णिषु। अन्धकवृष्णय एते न तु राजन्याः। राजन्यग्रहणमिहाभिषिक्तवंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्। एते च नाभिषिक्तवंश्याः।'

का निर्माण नहीं हो सकता ।[१] मनु संघ-जनपदों के विरोधी और राजतन्त्र शासक के पक्षपाती थे। अपनी जाति, कुल या जन्म का अभिमान रखने वाले 'जनपदियों' की परिषद् का शासन उन्हें स्वीकार्य नहीं था। इसी कारण उन्होंने यह विचार प्रकट किया है, जो सम्भवतः अपने युग के अनेक संघ-जनपदों को दृष्टि में रखकर प्रगट किया गया था। पर इससे भी इस बात में सन्देह नहीं रह जाता, कि प्राचीन भारत में ऐसे जनपदों की सत्ता अवश्य थी।

राजतन्त्र जनपदों के लिये पाणिनि ने 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया है,[२] और उनके राजाओं के लिये ईश्वर,[३] भूपति,[४] स्वामी,[५] अधिपति,[६] सम्राट्[७] आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। इन राजतन्त्र राज्यों में परिषदों की सत्ता भी विद्यमान थी, जिनके सदस्यों के लिये पाणिनि ने 'पारिषद्य' शब्द का प्रयोग किया है।[८] वैदिक युग में जिन्हें 'रत्निन्' या 'राजकृतः' कहते थे, उनका भी उल्लेख पाणिनि ने किया है।[९] इससे सूचित होता है, कि पाणिनि को ज्ञात राजतन्त्र राज्यों की शासन-पद्धति प्रायः उसी प्रकार की थी, जैसी कि वैदिक व उत्तर-वैदिक युगों में भारत में विद्यमान थी।

१. 'अव्रतानां अमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः सम्मेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ मनु १२।१०४
२. 'अकर्मधारये राज्यम् ।' पाणिनि ६।२।१३०
३. 'अधिरीश्वरे ।' १।४।९७
४. 'न भूवाक्चिद्दिधिषु ।' ६।२।१९
५. 'स्वामिन्नैश्वर्ये ।' ५।२।१२६
६. स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ।' २।३।३९
७. 'मो राजि समः क्वौ ।' ८।३।२५
८. 'रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच् ।' ५।२।११२
९. 'राजनि युधि कृञः ।' ३।२।९५

आठवाँ अध्याय

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार जनपदों का शासन

(१) विविध प्रकार के जनपद

कौटलीय अर्थशास्त्र एक ऐसे युग की कृति है, जब कि सम्पूर्ण भारत में एक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की कल्पना उत्पन्न हो चुकी थी, और उसके लिए प्रयत्न भी प्रारम्भ हो गया था। कौटल्य ने लिखा है कि सारी पृथ्वी ही एक देश है, उसमें हिमालय से लेकर समुद्र-पर्यन्त जो सहस्र योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती साम्राज्य का क्षेत्र है।[1] साम्राज्य व चक्रवर्ती क्षेत्र की इस कल्पना के रहते हुए यह सम्भव नहीं था कि भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता रह सके। मौर्य वंश से पूर्व ही शिशुनाग, नन्द आदि वंशों के मागध राजा इस प्रयत्न में तत्पर थे, कि वे विविध जनपदों को जीतकर 'आसमुद्रक्षितीश' बन सकें। उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध का साम्राज्य यमुना से बंगाल की खाड़ी तक विस्तीर्ण था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसका और अधिक विस्तार किया, और मगध का साम्राज्य पश्चिम में हिन्दुकुश पर्वतमाला से शुरू कर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत हो गया। कौटल्य या चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मन्त्री व पुरोहित थे, और मौर्य-साम्राज्य के विकास में उनका कर्तृत्व अनुपम था। अर्थशास्त्र का निर्माण उन्होंने 'नरेन्द्र' चन्द्रगुप्त के लिए शासन की विधि के रूप में ही किया था।[2] अतः यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उनके अर्थशास्त्र में ऐसी शासन विधि व राजनीति का प्रतिपादन हो, जो एक विशाल साम्राज्य के लिए उपयुक्त हो। पर चाणक्य ऐसे युग में हुए थे, जब कि भारत के प्राचीन जनपदों की सत्ता पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी, अपितु जब उनके विरुद्ध संघर्ष जारी था। अतः प्रसंगवश उनके अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे प्रकरणों का समावेश हो गया है, जिनसे कि जनपदों के शासन-प्रकार के सम्बन्ध में बहुत-से महत्त्वपूर्ण निर्देश मिल जाते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से जनपदों के स्वरूप के विषय में जो सूचनाएँ मिलती हैं, उनका उल्लेख पिछले एक अध्याय में

१. 'देशः। पृथिवी तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतियेक् चक्रवर्तिक्षेत्रम्।'

२. 'सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः॥' अर्थशास्त्र

किया जा चुका है। इस अध्याय में हम अर्थशास्त्र के आधार पर जनपदों के शासन के सम्बन्ध में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

कौटल्य द्वारा जिन जनपदों का उल्लेख किया गया है, वे दो प्रकार के थे—संघ शासन वाले जनपद और राजतन्त्र जनपद। संघ जनपदों का भी दो प्रकार से विभाजन कौटल्य ने किया है—वार्ताशस्त्रोपजीवि संघ और राजशब्दोपजीवि संघ। काम्भोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणि आदि को वार्ताशस्त्रोपजीवि संघ कहा गया है;[1] और लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पञ्चाल आदि को राजशब्दोपजीवि संघ।[2] आदि शब्द का प्रयोग इस बात को सूचित करता है, कि इन परिगणित संघों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक संघ कौटल्य के काल में विद्यमान थे।

कृषि, पशुपालन और वणिज्या को प्राचीन समय में 'वार्ता' कहा जाता था। जिन संघ जनपदों के निवासी कृषि, पशुपालन और वाणिज्या द्वारा अपना निर्वाह करते हों, और शस्त्रधारण कर आत्मरक्षा व अपने उत्कर्ष के लिए तत्पर हों, उन्हें 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' कहा जाता था। संसार के प्राचीन इतिहास में फिनीशियन राज्य के निवासी जहाँ उत्कृष्ट व्यापारी थे, जो समुद्र मार्ग द्वारा सुदूर प्रदेशों के साथ व्यापार में तत्पर रहते थे, वहाँ वे उत्कट योद्धा भी थे। वैदिक साहित्य में फिनीशियन लोगों को 'पणि' नाम से कहा गया है, और उनकी सैनिक शक्ति को भी निर्दिष्ट किया गया है। फिनीशिया को हम कौटल्य के शब्दों में वार्ताशस्त्रोपजीवि संघ कह सकते हैं। भारत में भी कम्भोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय, श्रेणि आदि इसी ढंग के संघ-जनपद थे। इन्हीं को पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'आयुधजीवि' नाम से कहा गया है। बाद में साम्राज्यों के विकास के कारण इन जनपदों व इनमें निवास करने वाले जनों की शस्त्रोपजीविता नष्ट हो गई, और ये केवल 'वार्तोपजीवि' रह गये। वर्तमान समय की कम्बोह जाति प्राचीन कम्भोज संघ की, खत्री जाति क्षत्रिय संघ की और सैनी जाति श्रेणि संघ की प्रतिनिधि हैं, जिनके प्रधान कार्य व्यापार और कृषि हैं। लिच्छवि, वृजि (वज्जि), मल्ल आदि प्राचीन भारत के प्रसिद्ध गणराज्य थे, जिनका परिचय अन्य प्राचीन साहित्य से भी मिलता है। इनमें कतिपय क्षत्रियकुलों का शासन होता था, जिनके वृद्ध या मुख्य 'राजा' कहाते थे। इन्हीं को पाणिनि ने जनपदी नाम से कहा है, और मनु ने इन्हीं जनपदों को 'जातिमात्रोपजीवि' संज्ञा दी है।

कौटलीय अर्थशास्त्र में संघ-जनपदों का एक अन्य ढंग से भी विभाजन किया गया है, अभिसंहत और विगुण।[3] जिन संघों ने परस्पर मिलकर अपना एक संघात (Confederacy) का निर्माण कर लिया हो, उन्हें 'अभिसंहत' कहते थे। अन्य संघ

१. काम्भोज सुराष्ट्र क्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः।' अर्थशास्त्र ११।१

२. लिच्छविक वृजिक मल्लक मद्रक कुकुर कुरु पञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः। अर्थशास्त्र ११।१

३. संघाभिसंहतत्वात् अधृष्यान् परेषांताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। विगुणान् भेददण्डाभ्याम्।' अर्थशास्त्र ११।१

'विगुण' (अकेले) कहे जाते थे। प्राचीन ग्रीस में इस प्रकार के 'अभिसंहतों' को लीग (League) कहते थे। प्राचीन भारत में भी नगर-राज्यों या जनपदों द्वारा निर्मित लीगों की सत्ता थी।

विविध प्रकार के इन संघ-जनपदों को विजय करना कौटल्य को अभीष्ट था। इसीलिए अर्थशास्त्र में इन्हें जीतने के उपायों का प्रतिपादन किया गया है। अभिसंहत (confederated) संघ सुगमता से परास्त नहीं हो सकते थे, वे 'अधृष्य' थे। अतः उनके प्रति साम और दान की नीति का विधान किया गया है। विगुण संघ सुगमता से जीते जा सकते थे, अतः उनके प्रति भेद और दण्ड की नीति प्रतिपादित की गई है।

(२) संघ-जनपदों का शासन

कौटल्य के अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे कि संघ-जनपदों के शासन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कौटल्य ने प्रतिपादित किया है, कि दोनों प्रकार के संघों (अभिसंहत और विगुण) के पारस्परिक न्यंग (ईर्ष्या), वैर, द्वेष और कलह के स्थलों को जानकर उनका उपयोग विजिगीषु राजा द्वारा उनको परास्त करने के लिए किया जाए।[1] क्योंकि संघ-जनपदों में किसी एक राजा का शासन नहीं होता, अपितु उनमें बहुत-से कुलमुख्यों का शासन होता है, अतः यह सर्वथा स्वाभाविक है कि इन कुलमुख्यों में परस्पर ईर्ष्या, वैर, द्वेष और कलह विद्यमान हों। इन सबको जानकर इनका उपयोग संघों की विजय के लिए सुगमता के साथ किया जा सकता है। यह कार्य गुप्तचरों (सत्रियों) द्वारा किया जायगा। सत्रियों द्वारा संघ के नेताओं में फूट डलवाई जा सकती है। ईर्ष्या, वैर, द्वेष और कलह के स्थानों का पता करके सत्री लोग संघ के नेताओं में फूट उत्पन्न कर सकते हैं। कौटल्य के अनुसार विजिगीषु राजा के सत्री को चाहिए, कि वह एक संघ-मुख्य को जाकर कहे—'वह आपकी निन्दा करता है।' कुछ सत्री आचार्य का वेश बनाकर जाएँ, और संघ-जनपद में जब विद्या, शिल्प द्यूत या खेलों में साम्मुख्य हो रहा हो, तो संघ के नेताओं में कुछ का पक्ष लेकर उनमें छोटे-मोटे कलह उत्पन्न करें। तीक्ष्ण गुप्तचर मद्यशाला व नाटकघरों में जाकर ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा करें जो कि संघ में उच्च स्थान न रखते हों, और इस प्रकार संघ-मुख्यों में पारस्परिक कलह व विद्वेष को उत्पन्न करें। जन्म से हीन कुमारों के उच्च कुल की प्रशंसा करके और उनका पक्ष ग्रहण कर उनमें महत्त्वाकांक्षा का प्रादुर्भाव किया जाए। जन्म व कुल की दृष्टि से विशिष्ट लोगों में यह भावना उत्पन्न की जाए कि वे अपने से हीनों के साथ भोजन व विवाह का सम्बन्ध न करें, जन्म व कुल की दृष्टि से हीन लोगों को दूसरों से विवाह

१. 'सर्वेषामासन्नाः सत्रिणः संघानां परस्पर न्यंग द्वेष वैर कलह स्थानान्युपलभ्य क्रमाभिनीतं भेदमपचारयेयुः।" अर्थशास्त्र ११।१।

व भोजन के सम्बन्ध के लिए प्रेरित किया जाए। परम्परागत व्यवहार के विपरीत कुल, पौरुष और सामाजिक स्थिति की उपेक्षा कर हीन लोगों के प्रति जो समानता बरती गई हो, उसे प्रगट कर गुप्तचर लोग असन्तोष उत्पन्न करें। मुकदमों का लाभ उठाकर तीक्ष्ण सत्री लोग रात के समय सम्पत्ति, पशु व मनुष्य का (मुकदमे से सम्बद्ध) विनाश कर झगड़े को और अधिक बढ़ाएँ। संघ-जनपद में पारस्परिक कलह के जो कोई भी मौके हों, उनमें विजिगीषु राजा के गुप्तचर कमजोर पक्ष का पक्ष लेकर व उसे धन व शक्ति द्वारा सहायता देकर दूसरे प्रबल पक्ष के विनाश का यत्न करें। उनमें भेद डालकर उनका विनाश किया जाए।[1]

अनेक ऐसे संघ-जनपद भी थे, जिनमें कभी पहले राजतन्त्र शासन था, और जो बाद में गणशासन में आ गए थे। इनमें ऐसे राजकुमारों की सत्ता सम्भव थी, जिनके पूर्वपुरुष कभी उस जनपद में राजा रह चुके थे। ऐसे संघों के विजय के लिए कौटल्य ने अपने विजिगीषु राजा को यह आदेश दिया है—राजशब्दोपजीवि लोगों द्वारा राज्यच्युत किए गये व कैद किए गये किसी कुलीन अभिजात व्यक्ति को राजपुत्र रूप में स्थापित कर दिया जाए। ज्योतिषी आदि का भेष बनाकर गुप्तचर लोग संघ के लोगों को यह जताएँ कि यह राजकुमार राजा के सब लक्षण रखता है। धर्मिष्ठ संघ-मुख्यों को यह समझाया जाए कि यह कुमार अमुक राजा का पुत्र है, और इसकी सत्ता को स्वीकार करना उनका धार्मिक कर्तव्य है। जिन संघमुख्यों को यह बात समझ में आ जाए, उनकी धन व शक्ति द्वारा सहायता की जाए, और इस प्रकार उन्हें अपने पक्ष में कर लिया जाए। जब कोई झगड़े-फिसाद का अवसर हो, तो गुप्तचर लोग पुत्र-जन्म, विवाह या मृत्यु का निमित्त बता कर संघमुख्यों को निमन्त्रित करें, और उन्हें शराब के सैकड़ों कुम्भ पिलाएँ। इन मद्य-कुम्भों में मदन रस को मिला दिया जाए।[2] संघ-जनपद के वाहनों और सोने की वस्तुओं को 'संघमुख्य' को प्रदान कर दें, और संघ द्वारा पूछे जाने पर गुप्तचर लोग

[1]" 'असौ त्वा विजल्पति' इति। एवमुभयतो बद्धदोषाणां विद्याशिल्पद्यूतवैहारिकेष्वाचार्यं व्यंजना बालकलहानुत्पादयेयुः। वेशशौण्डिकेषु वा प्रतिलोम प्रशंसाभिः संघमुख्यमनुष्याणां तीक्ष्णाः कलहानुत्पादयेयुः कृत्यपक्षोपग्रहेण वा कुमारकान् विशिष्टच्छिन्दिकया हीनेभ्यो वारयेयुः। हीनान् वा विशिष्टैरेकपात्रे विवाहे वा योजयेयुः। अवहीनान् वा तुल्य भावोपगमने कुलतः पौरुषतः स्थान-विपर्यासतो वा व्यवहारमवस्थितं वा प्रतिलोमस्थापनेन निशामयेयुः। विवादपदेषु वा द्रव्यपशुमनुष्या-भिघातेन रात्रौ तीक्ष्णाः कलहानुत्पादयेयुः। सर्वेषु च कलहस्थानेषु हीनपक्षं राजा कोशदण्डाभ्यामुपगृह्य प्रतिपक्षवधे योजयेत्, भिन्नानपवाहयेत् वा।" अर्थशास्त्र ११।१।

[2]'राजशब्दिभिरवरुद्धमवक्षिप्तं वा कुल्यमभिजातं राजपुत्रत्वे स्थापयेत्। कार्तान्तिकादिश्चास्य वर्गो राजलक्षण्यतां संघेषु प्रकाशयेत्। संघमुख्यांश्च धर्मिष्ठानुपजपेत्-'स्वधर्ममुष्य राज्ञः पुत्रे भ्रातरि वा प्रतिपद्यध्वं।' प्रतिपन्नेषु कृत्यपक्षोपग्रहार्थमर्थं दण्डं च प्रेषयेत्। विक्रमकाले शौण्डिकव्यञ्जनाः पुत्रदारप्रेतापदेशेन "नैषेचनिकम्", इति मदनरसयुक्तान् मद्यकुम्भान् शतशः प्रयच्छेत्।' ११।१

यह कह दें कि ये वस्तुएँ व पशु अमुक संघमुख्य को दिये गये हैं।[1] इस प्रकार संघमुख्यों में फूट पैदा की जाए। कौटल्य ने इन सब उपायों का निरूपण इस प्रयोजन से किया था, ताकि संघ-जनपदों के संघमुख्यों में परस्पर कलह व फूट उत्पन्न की जा सके।

यदि किसी संघमुख्य का कोई पुत्र महत्त्वाकांक्षी व अपने को बड़ा समझने वाला हो, तो विजिगीषु राजा के गुप्तचर उसे कहें—'तुम तो अमुक राजा के पुत्र हो। शत्रु के भय से ही तुम्हें यहाँ रखा गया है।' जब उस मुख्य-पुत्र को इस बात पर विश्वास हो जाए, तो उसकी कोश और सैन्य-शक्ति द्वारा सहायता की जाए, और उसे संघ-जनपद के विरुद्ध खड़ा कर दिया जाए। जब उसके विद्रोह के कारण अपने कार्य की सिद्धि हो जाए, तो उसे भी देशनिकाला दे दिया जाए।[2]

विजिगीषु राजा के गुप्तचर परम रूप-यौवनसम्पन्न स्त्रियों का संघमुख्यों के साथ परिचय कराएँ। जब संघमुख्य उन पर मोहित हो जाएँ, तो उन स्त्रियों को अन्य संघमुख्यों के पास भेजकर मुग्ध हुए संघमुख्यों से यह कहा जाए कि दूसरा संघमुख्य जबर्दस्ती तुम्हारी प्रिय स्त्री को अपने साथ भगा ले गया है। इस प्रकार संघमुख्यों में झगड़े पैदा किये जाएँ, और झगड़े होने पर गुप्तचर लोग स्वयं संघमुख्यों का घात करके यह घोषित कर दें कि अमुक संघमुख्य ने अमुक की हत्या की है।[3] जिस स्त्री ने अपने प्रेमी संघमुख्य को दूसरे के पास जाकर निराश किया हो, वह उसे जाकर कहे—'मेरा प्रेम तो आप पर है, पर अमुक संघमुख्य हमारे प्रेम में बाधक है। उसके जीवित रहते हुए मेरा आपके साथ रह सकना सम्भव नहीं है।' इस प्रकार कह कर वह गुप्तचर-स्त्री एक संघमुख्य को दूसरे संघमुख्य की हत्या करने के लिए प्रेरित करे।[4] गुप्तचर-स्त्री किसी संघमुख्य के साथ भागकर किसी पार्क व क्रीड़ागृह में स्वयं विष द्वारा संघमुख्य की हत्या कर दे, या उसे अकेले में पाकर तीक्ष्ण गुप्तचर उसका घात कर दें। पूछे जाने पर वह स्त्री कहे, कि यह मेरा प्रिय संघमुख्य अमुक व्यक्ति द्वारा मार दिया गया है। सिद्ध का भेस बना कर कोई गुप्तचर संघमुख्य को ऐसी औषधि दे, जिसमें विष मिला हुआ हो, पर जिसे यह कहकर दिया जाए कि इस औषधि के सेवन से मनोवाञ्छित स्त्री तुम्हारे वश में आ जायगी। जब उस औषधि द्वारा उस संघमुख्य

१. 'संघानां वा वाहन हिरण्य कालिके गृहीत्वा संघमुख्याय प्रख्यातं द्रव्यं प्रयच्छेत्। तदेषां याचिते 'दत्तममुष्मै मुख्याय' इति ब्रूयात्।' ११।१

२. 'संघमुख्यपुत्रमात्मसंभावितं वा सत्री ग्राहयेत्—"अमुष्य राज्ञः पुत्रस्त्वं शत्रु-भयादिह न्यस्तोऽसि" इति। प्रतिपन्नं राजा कोशदण्डाभ्यां उपगृह्य संघेषु विक्रमयेत्। अवाप्तार्थं स्तमपिप्रवासयेत्।' ११।१

३. 'बन्धकिपोषकाः···स्त्रीभिः परमरूप यौवनाभिस्संघमुख्यानुन्मादयेयुः। जातकामानामन्यतमस्य प्रत्ययं कृत्वाऽन्यत्र गमनेन प्रसभहरणेन वा कलहान् उत्पादयेयुः कलहे तीक्ष्णाः कर्म कुर्युः— 'हतोऽयमित्थं कामुकः' इति।' ११।१

४. 'प्रऽसह्यापहृता वा उपवनान्ते क्रीडागृहे वाऽपहर्तारं रात्रौ तीक्ष्णेन घातयेत्। स्वयं वा रसेन। ततः प्रकाशयेत्—'अमुना मे प्रियो हतः।' इति। ११।१

—११

की मृत्यु हो जाए, तो दूसरे गुप्तचर यह प्रकट करें कि इस संघमुख्य को अमुक संघमुख्य ने मरवाया है।

कौटल्य ने इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से उपायों का प्रतिपादन किया है, जिनका प्रयोजन संघमुख्यों में फूट डलवाना था। इन सबका यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। कौटल्य के अपने शब्दों में इन सब उपायों का यही उद्देश्य था, कि संघ-जनपदों को जीतकर उनमें 'एक राज' शासन की स्थापना की जाए।[1] कौटल्य की दृष्टि में ऐसा होना संघ-जनपदों के अपने लिये भी लाभ की बात थी, क्योंकि 'एक राज' शासन में ही वे पारस्परिक कलह व अन्य सब प्रकार की आपत्तियों से अपनी रक्षा कर सकते थे।[2] यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि कौटल्य की नीति संघ-जनपदों के प्रति यह थी कि विजिगीषु राजा उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता को कायम रखें।

सङ्घ-जनपदों के विजय के लिये कौटल्य ने भेदनीति का प्रतिपादन किया है। सङ्घों की सबसे बड़ी निर्बलता यही होती थी, कि उनमें भेद को उत्पन्न कर सकना बहुत सुगम था। इस प्रसंग में महाभारत के शान्तिपर्व का वह श्लोक स्मरणीय है, जिसमें कि नारद मुनि ने सङ्घमुख्य कृष्ण को यह जताया है कि सङ्घों का विनाश भेद द्वारा ही होता है। इस श्लोक का उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत के संघ-जनपदों की सबसे बड़ी निर्बलता उनके संघ-मुख्यों में कलह, वैर, द्वेष आदि की सत्ता ही थी, और इन्हीं का उपयोग कर विजिगीषु राजा उन्हें विजय करने में समर्थ हुए थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के 'संघ वृत्तम्' अध्याय का प्रतिपाद्य विषय यह है, कि संघ-जनपदों की स्वतन्त्र सत्ता का किस प्रकार से अन्त किया जाए, और उन्हें किस प्रकार 'एक राज' शासन की अधीनता में लाया जाए। पर इस अध्याय के अनुशीलन से संघों के शासन के सम्बन्ध में निम्नलिखित निर्देश प्राप्त होते हैं—

(१) संघ-जनपदों में अनेक 'संघ-मुख्यों' की सत्ता रहती थी। इन संघमुख्यों में ईर्ष्या, वैर, द्वेष, कलह आदि के कारण उत्पन्न होते रहते थे। ये प्रायः एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो कर रहते थे, और इसी कारण इनमें भेद या फूट को उत्पन्न कर सकना सुगम होता था।

(२) संघ-जनपद के शासन में संघ-सभा की भी सत्ता होती थी। संघ सामूहिक रूप से न्याय-कार्य करता था, और अपराधियों को दण्ड देता था। 'संघवृत्तम्' अध्याय में कौटल्य ने लिखा है—गुप्तचर किसी स्त्रीलोलुप संघमुख्य से जाकर कहे 'इस ग्राम में एक दरिद्र कुल पर विपत्ति आ गई है। उसकी पत्नी राजा के योग्य है। आप उसे ग्रहण कर लें।' जब संघमुख्य उस स्त्री को ग्रहण कर ले, तो सिद्ध का भेस

१. 'संघेष्वेवं एकराजो वर्तेत।' ११।१

२. 'संघाश्चाप्येवमेकराजात् तेभ्योऽति संधानेभ्यो रक्षयेयुः।' ११।१

बनाये हुए एक गुप्तचर उसके विरुद्ध यह आरोप करे—इसने मेरी पत्नी, साली, बहन या कन्या को गैरकानूनी तौर पर रख लिया है।' जब संघ उस संघमुख्य के विरुद्ध कार्रवाई करे, तो विजिगीषु राजा उसका पक्ष लेकर विगुण (असंघात) संघ पर आक्रमण कर दे।"[१] इस उदाहरण से स्पष्ट है, कि संघ अपने संघमुख्यों के किसी अनुचित व गैरकानूनी कार्य पर उनके विरुद्ध निर्णय कर सकता था, और उन्हें दण्ड भी दे सकता था।

(३) जहाँ संघ-जनपद में अनेक संघमुख्य होते थे, जो सम्भवतः उस संघ के अन्तर्गत विविध कुलों या गोत्रों के मुखिया होते थे, वहाँ साथ ही संपूर्ण संघ का भी एक प्रधान होता था, जिसके लिए भी 'संघमुख्य' शब्द का ही प्रयोग होता था। संघ-जनपद के इस 'संघमुख्य' को कैसा होना चाहिये, इस सम्बन्ध में कौटल्य ने एक श्लोक उद्धृत किया है—संघमुख्य को चाहिये कि वह संघ में सबके प्रति न्याय की वृत्ति रखे, सबका हित सम्पादित करे, सबका प्रिय बने, अपनी इन्द्रियों का संयम करे, सबके प्रति यथायोग्य व्यवहार करे, और सबके चित्त का अनुवर्ती बनकर रहे।"[२] निःसंदेह, इस प्रकार के गुणों से युक्त संघ-मुख्य के नेतृत्व में ही संघ अपना शासन सफलतापूर्वक चला सकता था।

(४) संघ-जनपदों के शासन के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में दिए गये उस श्लोक से मिलता है, जिसमें कि यह कहा गया है—"या फिर कुल का राज्य होना चाहिए, क्योंकि कुल-संघ दुर्जय होते हैं, उन्हें सुगमता से जीता नहीं जा सकता। उनमें अराजकता या राजा की विहीनता का खतरा नहीं होता, और वे शाश्वत रूप से पृथिवी पर कायम रह सकते हैं।[३]" यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। यद्यपि कौटल्य एकराज शासन का पक्षपाती था, और स्वयं इस बात के लिए प्रयत्नशील था कि सम्पूर्ण भारत में एक चक्रवर्ती शासन की स्थापना की जाए, पर अपने युग में विद्यमान संघ-जनपदों की उपयोगिता को वह स्वीकार करता था। इस श्लोक में ऐसे संघ-जनपदों का निर्देश है, जो कि कुलतन्त्र या श्रेणितन्त्र (Oligarchical) थे। इनमें किसी एक राजा या राजवंश का शासन न होकर कतिपय कुलों (गोत्रों) का शासन होता था, और कौटल्य की सम्मति में उनका सबसे

---

१. 'सत्री या स्त्रीलोलुपं संघमुख्यं प्ररूपयेत्—"अमुष्मिन् ग्रामे दरिद्रकुलमपसृतं, तस्य स्त्री राजार्हा गृह्यतामेनाम्" इति। गृहीतायामर्धमासान्तरं सिद्धव्यञ्जनो दूष्य संघमुख्यं मध्ये प्रकाशयेत्—"असौ मे मुख्यो भार्यां स्नुषां भगिनीं दुहितरं वाऽभिचरति" इति। तं चेत्संघो निगृह्णीयात्, राजैनमुपगृह्य विगुणेषु विक्रमयेत्।" अर्थशास्त्र ११।१

२. 'संघ मुख्यश्च संघेषु न्यायवृत्तिर्हितः प्रियः।
दान्तो युक्त जनस्तिष्ठेत्सर्व चित्तानुवर्तकः॥ अर्थशास्त्र ११।१

३. कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।
अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्॥ अर्थशास्त्र १।१४

बड़ा गुण यह था कि वहाँ अराजकता व राजविहीनता की विपत्ति कभी उत्पन्न नहीं हो सकती थी। कौटल्य ने यह श्लोक अर्थशास्त्र के 'राजपुत्र रक्षणम्' प्रकरण के अन्त में दिया है। इस प्रकरण में यह प्रतिपादित किया गया है, कि राजपुत्र (युवराजा) की रक्षा व शिक्षा के लिए क्या उपाय किये जाएँ। राजतन्त्र शासनों में राजपुत्र का स्थान अत्यन्त महत्त्व का होता था। राजपुत्र के घात हो जाने की दशा में अराजकता या राज-विहीनता की विपत्ति उपस्थित हो सकती थी। राजपुत्र के दुराचारी व कुपथगामी होने की दशा भी राज्य के लिए एक विपत्ति थी। कौटल्य इस तथ्य को स्वीकार करता है, कि कुलतन्त्र जनपदों में इस प्रकार की विपत्तियों की सम्भावना नहीं होती। इसी कारण वे दुर्जय होते हैं, और चिरकाल तक पृथ्वी पर फलते-फूलते रहते हैं।

(५) मौर्य साम्राज्य के विस्तार के कारण यद्यपि कौटल्य के समय में संघ-जनपदों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हो गया था, पर उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता अभी कायम थी। एकराज शासन और चक्रवर्ती साम्राज्य के परम समर्थक कौटल्य का यह मत था, कि संघों को अपने अनुकूल कर उनसे मित्रता स्थापित कर लेना दण्ड और मित्र के लाभ की अपेक्षा भी अधिक उत्तम है। जितना लाभ सैन्य-शक्ति की वृद्धि व पड़ोसी देश की मित्रता से प्राप्त किया जा सकता है, उनसे कहीं अधिक लाभ संघ-जनपदों की मित्रता और उन्हें अपने अनुकूल बनाकर हो सकता है। अतः कौटल्य ने संघ-जनपदों के प्रति इस नीति का प्रतिपादन किया है, कि जो संघ-जनपद परस्पर मिलकर संगठित हो गए हों, जो मिलकर 'अभिसंहृत' (confederated) हो जाने के कारण अधृष्य हो गए हों, उनके प्रति साम और दान नीति का प्रयोग किया जाए, और इस प्रकार उन्हें अपने अनुकूल कर लिया जाए। जो संघ-जनपद अकेले (विगुण) रहने के कारण निर्बल हों, उन्हें भेद और दण्ड की नीति का प्रयोग कर विजय कर लिया जाए। दोनों नीतियों का समान रूप से प्रयोजन यह था, कि संघ-जनपदों की स्वतन्त्रता का अन्त कर 'एकराजता' की स्थापना हो। पर इस नीति के कारण संघ-जनपदों की पृथक् सत्ता नष्ट नहीं हो जाती थी। कौटल्य भली भाँति समझता था, कि संघों में अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता की आकांक्षा को पूर्णतया नष्ट कर सकना सम्भव नहीं है। इसीलिए उसने यह प्रतिपादित किया था कि (क) संघों के अपने धर्म, चरित्र व व्यवहार को कायम रखा जाए। (ख) उनके देवताओं, समाजों, उत्सवों व विहारों के प्रति आदर व निष्ठा प्रदर्शित की जाए। (ग) उनके शील, वेश, भाषा और आचार का आदर किया जाए। (घ) उनके ग्राम-मुख्यों, जाति मुख्यों और संघमुख्यों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाए। (ङ) कैदियों को मुक्त करके व विविध प्रकार से दीन, अनाथ व व्याधिपीड़ित व्यक्तियों की सहायता कर जनता की सहानुभूति प्राप्त की जाए। और (च) इन संघ-जनपदों में अपने कानूनों को प्रचलित करते हुए इस बात का ध्यान रखा जाए कि

वे वहाँ के परम्परागत कानूनों के प्रतिकूल न हों।[1]

(३) राजतन्त्र जनपदों का शासन

कौटल्य के अर्थशास्त्र के अनुशीलन से हमें विशाल मौर्य-साम्राज्य की शासन-पद्धति का भली भाँति परिचय मिलता है। पर इस साम्राज्य का विकास बहुत-से जनपदों की विजय के परिणामस्वरूप ही हुआ था। इस जनपदों में से कुछ में गण-तन्त्र या संघतन्त्र शासनों की सत्ता थी, और अन्यों में राजतन्त्र शासनों की। सब राजतन्त्र जनपदों की शासन-पद्धति भी एक ही प्रकार की नहीं थी। जिस प्रकार अर्थशास्त्र के अध्ययन से पूर्ववर्ती संघ-जनपदों के शासन के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण निर्देश उपलब्ध होते हैं, वैसे ही उससे राजतन्त्र जनपदों के विषयों में भी बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के राजतन्त्र जनपदों का उल्लेख मिलता है। इनके मुख्य भेद ये थे, राज्य, द्वैराज्य और वैराज्य। जिस जनपद में किसी वंशक्रमानुगत राजा का शासन हो, उसे 'राज्य कहते थे। जिस जनपद में दो राजाओं का शासन हो, उसकी संज्ञा 'द्वैराज्य' थी। प्राचीन ग्रीस में भी अनेक ऐसे नगर-राज्य थे, जिनमें द्वैराज्य शासन की सत्ता थी।[2] प्राचीन रोम में भी दो 'कान्सल' हुआ करते थे, जिनके कारण वह भी एक प्रकार का द्वैराज्य ही था। प्राचीन काल में भारत में भी ऐसे द्वैराज्यों की सत्ता थी, यह बात महाभारत द्वारा भी सूचित होती है। सभापर्व के अनुसार अवन्ति जनपद के राजा विन्द और अनुविन्द थे, जिन्हें पाण्डव सहदेव ने परास्त किया था।[3] वैराज्य उस शासन को कहते थे, जिसमें कि जनपद के न्याय्य राजा के जीवित होते हुए ही कोई अन्य व्यक्ति राजसिंहासन पर अधिकार कर ले, और यह अनधिकृत (Imposter) व्यक्ति राज्य को 'यह मेरा तो है नहीं' समझकर उसका मनमाने तरीके से अपकर्षण करे, उसकी सम्पत्ति को पण्य के रूप में विक्रय करे, उसके सुशासन की कोई भी परवाह न करे, और जब जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हो, तो उसे छोड़कर चले जाने में भी संकोच न करे।[4] ऐतरेय ब्राह्मण में भी अनेक प्रकार के शासनों का परिगणन करते हुए 'वैराज्य' का भी उल्लेख किया गया है,[5] जिससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि प्राचीन

१. अर्थशास्त्र, लब्धप्रशमनम्।१३।१४

२. प्राचीन ग्रीस का स्पार्टा नगर-राज्य द्वैराज्य का उत्तम उदाहरण है, जहाँ दो राजवंशों का शासन था, जिनके नाम अगिडे (Agidae) और यूरीपोन्टीडे (Eurypontidae) थे।

३. "विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान्।" महाभारत, सभापर्व ३१।१०

४. "वैराज्यं तु जीवतः परस्याच्छिद्य 'नैतन्मम' इति मन्यमानः कर्षयत्यपवाहयति; पण्यं वा करोति, विरक्तं वा परित्यज्य अपगच्छतीति।" अर्थशास्त्र ८।२

५. ऐतरेय ब्राह्मण ८।१५

भारत में इस प्रकार के शासन वाले जनपदों की सत्ता थी।

कौटल्य ने इन विविध प्रकार के राजतन्त्र शासनों के गुण-दोषों का विवेचन भी किया है। द्वैराज्य का दोष यह है, कि दो राजाओं की सत्ता के कारण उन दो राजाओं में पारस्परिक द्वेष, पक्षपात, किसी का किसी के प्रति अनुराग व परस्पर संघर्ष होते रहने से ऐसा राज्य नष्ट हो जाता है।[1] वैराज्य का दोष यह है कि उसके शासक को अपने जनपद के प्रति ममता नहीं होती, वह उसे अपने वैयक्तिक लाभ के लिए शोषित करता है, उसकी सम्पत्ति को सामान्य पण्य के सदृश समझता है, और जनता के प्रतिकूल होकर उठ खड़े होने पर उसे छोड़कर चल देता है। ऐसे शासक की अपने जनपद के प्रति न कोई भक्ति होती है, और न कर्तव्य-पालन की भावना।

जिन जनपदों को कौटल्य ने 'राज्य' कहा है, जिनमें वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन होता है, शासन की दृष्टि से वे भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) अन्ध, (२) चलितशास्त्र, और (३) शास्त्रानुकूल शासन करने वाला राजा।

अन्ध राजा वह है, जो शासन करते हुए किसी शास्त्र-मर्यादा का पालन न करे, जो यत्किंचनकारी (जो चाहे करने वाला) हो, जो जिद्दी हो, और दूसरे जिसे सुगमता से अपने पीछे चलाकर मनमानी कर सकें।[2] वर्तमान शब्दों में ऐसे राजा को हम निरंकुश, स्वेच्छाचारी व एकतन्त्र कह सकते हैं। चलितशास्त्र राजा वह है, जो अपने विवेक व समझबूझ का अनुसरण कर शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन करने को तत्पर हो जाए। तीसरे प्रकार का राजा वह है, जो कि शास्त्रमर्यादा के अनुसार शासन करे और स्वेच्छाचारी व निरंकुश न हो। अन्ध और चलितशास्त्र राजाओं में से कौन अधिक अच्छा है, इस सम्बन्ध में कौटल्य ने पुराने आचार्यों का यह मत उद्धृत किया है, कि अन्ध राजा अन्याय व कुशासन द्वारा अपने राज्य का विनाश कर देता है; पर चलितशास्त्र राजा की मति जब शास्त्र के विपरीत आचरण करने के लिये हो, तो उसे ऐसा करने से रोक कर शास्त्रमर्यादा में ला सकना सुगम है। अतः अन्ध और चलितशास्त्र राजाओं में 'चलितशास्त्र' राजा अधिक अच्छा होता है। पर कौटल्य की अपनी सम्मति इसके विपरीत है। उसकी युक्ति यह है, कि यदि अन्ध राजा के सहायक अच्छे हों, तो उसे वे ऐसे कार्य करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं, जो राज्य के लिए हितकर हों। पर जिस राजा की बुद्धि शास्त्र-मर्यादा से हट गई हो, उसे सही मार्ग पर ला सकना सम्भव नहीं होता। वह अन्याय द्वारा अपना और अपने राज्य का विनाश कर लेता है।[3] अतः अन्ध और चलितशास्त्र राजाओं में अन्ध

१. 'द्वैराज्यवैराज्ययोः द्वैराज्यमन्योन्यपक्षद्वेषानुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विनश्यति।' ८।२
२. 'अशास्त्रचक्षुरन्धो यत्किंचनकारी दृढाभिनिवेशी पर प्रणेयो वा।' ८।२
३. 'नेति कौटल्यः। अन्धो राजा शक्यते सहायसम्पदा यत्र तत्र वा पर्यवस्थापयितुमिति। चलितशास्त्रस्तु शास्त्रादन्यथाभिनिविष्टबुद्धिरन्यायेन राज्यमात्मानं चोपहन्तीति।' अर्थशास्त्र ८।२

राजा को ही अधिक अच्छा समझना चाहिए।

कौटल्य इस तथ्य को भली भाँति अनुभव करता था, कि अन्ध और चलित-शास्त्र राजाओं को जीत सकना बहुत सुगम होता है। ऐसे राजाओं की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, कि यदि शत्रु राजा इस प्रकार के हों, तो उन्हें सुगमता से जीता जा सकता है। वह शत्रुराजा (विजय करने की दृष्टि से) वाञ्छनीय है, जिसमें निम्नलिखित गुण हों—(१) अराजबीजी—जो किसी अभिजात राजवंश में उत्पन्न न हुआ हो। (२) लुब्धः—जो लोभी हो। (३) क्षुद्रपरिषत्कः—जिसकी परिषद् क्षुद्र हो। (४) विरक्त प्रकृतिकः—जिसकी प्रजा का उसके प्रति अनुराग न हो। (५) अन्यायवृत्ति—जो अन्याय की वृत्ति रखता हो। (६) अयुक्त—जिसका चरित्र उत्कृष्ट न हो। (७) व्यसनी—जो व्यसनों में फंसा हुआ हो। (८) निरुत्साह—जिसमें उत्साह का अभाव हो। (९) यत्किंचनकारी—जो स्वेच्छाचारी व मनमानी करने वाला हो। (१०) दैवप्रमाणः—जो भाग्यवाद में विश्वास रखता हो। (११) अगतिः—जिसमें कार्यशीलता का अभाव हो। (१२) अननुबन्धः—जिसकी प्रजा के साथ राजा का कोई अनुबन्ध या इकरार न हो। (१३) क्लीव—जो नपुंसक हो। (१४) नित्यापकारी—जो सदा दूसरों का अपकार करने वाला हो।[1]

इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में कतिपय ऐसे जनपदों की भी सत्ता थी, जिनके राजा इन अवगुणों व विशेषताओं से युक्त होते थे। इस वर्णन को पढ़कर हमारा ध्यान स्वाभाविक रूप से प्राचीन ग्रीस के उन राजाओं के प्रति आकृष्ट होता है, जिन्हें 'टायरन्ट' कहा जाता था। ये राजा किसी अभिजात राजवंश के न होने के कारण जनता का स्नेह प्राप्त नहीं कर सकते थे, और प्रजा से इनका कोई अनुबन्ध नहीं होता था। पुरानी परम्परागत परिषद् की सर्वथा उपेक्षा कर उसके अभाव में ये अपना शासन चलाते थे, और स्वेच्छाचारी होते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन भारत के कतिपय जनपदों में भी इसी ढंग के राजतन्त्र शासन स्थापित हो गये थे। कौटल्य की दृष्टि में ऐसे जनपदों को जीत कर अपने अधीन कर सकना विजिगीषु राजा के लिए बहुत सुगम था।[2] अन्यत्र भी कौटल्य ने ऐसे राजाओं का उल्लेख किया है, जिन्हें वह अशास्त्रचक्षु, अन्ध, यत्किञ्चनकारी, दृढाभिनिवेशी और परप्रणेय कहता है। वस्तुतः, उत्तम राजा की आँखें वह शास्त्र ही होता है, जिसके अनुसार व जिसकी मर्यादा में रहते हुए उसे राज्य का शासन करना है। शास्त्र-रूपी आँखों को खोकर अन्ध-रूप से जो राजा स्वेच्छापूर्वक व जिद् के साथ और दूसरों के बहकावे में आकर शासन करता है, वह स्वयं अपने कुशासन से ही राज्य का नाश कर लेता है। अनेक ऐसे जनपद प्राचीन भारत में विद्यमान थे, जिनके शासकों ने

१. 'अराजबीजलुब्धः क्षुद्रपरिषत्को विरक्तप्रकृतिरन्यायवृत्तिरयुक्तो व्यसनी निरुत्साहो दैवप्रमाणो यत्किंचनकार्यगतिरननुबन्धः क्लीबो नित्यापकारी चेत्यमित्र सम्पत्।' अर्थशास्त्र ६।१

२. 'एवं भूतो हि शत्रुस्सुखः समुच्छेत्तुं भवति।' अर्थशास्त्र ६।१

ग्रीक टायरेन्टों के समान स्वेच्छापूर्वक या शास्त्रमर्यादा का उल्लंघन कर शासन करने का प्रयत्न किया, और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के वशीभूत हो जाने के कारण जो जनता में प्रिय नहीं रह सके, और जिनका इन्हीं कारणों से विनाश हो गया। कौटल्य ने ऐसे अनेक राजाओं के उदाहरण भी दिये हैं,[1] जिनका हम अन्यत्र उल्लेख करेंगे।

कौटल्य ने जहाँ अशास्त्रचक्षु, अन्ध व स्वेच्छाचारी राजाओं का उल्लेख किया है, वहाँ साथ ही ऐसे राजतन्त्रों का भी विवरण किया है, जिनके राजा शास्त्रमर्यादा में रहते हुए परम्परागत व्यवहार के अनुसार राज्य का शासन किया करते थे। ऐसे राजाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ कौटल्य ने निर्दिष्ट की हैं—(१) महाकुलीन—उच्च राजवंश का, (२) दैवबुद्धि सम्पन्न—जिसमें उच्च प्रकार की दैवी बुद्धि हो, (३) वृद्धदर्शी—जो राज्य के वृद्ध जनों (या ग्राममुख्य, कुलमुख्य आदि) से परामर्श लेता रहता हो, (४) धार्मिक, (५) सत्यवादी, (६) अविसंवादक—जिसके आचरण व भाषण में परस्पर-विरोध न हो, (७) कृतज्ञ, (८) स्थूललक्ष—जिसके उद्देश्य महान् हों, (९) महोत्साह—जिसमें महान् उत्साह हो, (१०) अदीर्घसूत्र—जो दीर्घसूत्री न हो, (११) शक्यसामन्त—जिसने अपने सामन्तों को वशवर्ती किया हुआ हो, (१२) दृढ़बुद्धि—जिनकी मति स्थिर रहे, (१३) अक्षुद्रपरिषत्कः—जिसकी परिषद् क्षुद्र न होकर बड़ी हो, और (१४) विनयकामः—जो विनय या नियन्त्रण में रहने वाला हो।[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है, कि प्राचीन भारत में ऐसे राजतन्त्र जनपदों की भी सत्ता थी, जिनके राजा उच्च राजवंश के होते थे, जो शास्त्रमर्यादा में रहते थे, परम्परागत धर्म, व्यवहार व चरित्र का पालन करते थे, वैयक्तिक दृष्टि से उच्च चरित्र के होते थे, और जिनकी परिषद् अक्षुद्र होती थी, जिसका निर्माण सम्भवतः ग्राम-वृद्धों, कुलवृद्धों और पौरवृद्धों से मिलकर होता था। 'अक्षुद्र-परिषत्कः' का अभिप्राय कौटल्य के इस कथन से स्पष्ट होता है, कि "इन्द्र की परिषद् में एक हजार ऋषि होते थे, वही उसकी आँखें थीं, इसी कारण इन्द्र को दो आँखों वाला होते हुए भी हजार आँखों वाला कहा जाता है।"[3] ऐसे राजाओं की सत्ता भारत के प्राचीन साहित्य के अन्य ग्रन्थों से भी सूचित होती है, जो जनता के विविध वर्गों के वृद्धों व नेताओं के परामर्श के अनुसार शासन करते थे, और जिनके राज्य में परिषदों की सत्ता थी। रामायण आदि अन्य प्राचीन साहित्य के आधार पर इस जनपदों के शासन का निरू-

१. अर्थशास्त्र १।३

१. 'तत्र स्वामिसम्पत्। महाकुलीनो दैवबुद्धिस्सत्त्व सम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकस्सत्यवागविसंवादकः कृतज्ञः स्थूललक्षो महोत्साहोऽदीर्घसूत्रश्शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्रपरिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिका गुणाः।' अर्थशास्त्र ६।१

२. 'इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रम्। तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः।' अर्थशास्त्र १।११

पण अन्य अध्याय में किया गया है। सम्भवत:, इन प्राचीन जनपद-राज्यों की परिषद् में 'पौर जनपद' भी सम्मिलित होते थे, जो कि जनपद और उसकी राजधानी (पुर) के प्रमुख व्यक्ति होते थे। पौर-जनपद का क्या अभिप्राय था, इस विषय पर हमने एक अन्य अध्याय में विवेचन किया है।

कौटलीय अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्य-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था पर हम पृथक् रूप से विस्तार के साथ विचार करेंगे। पर इस ग्रन्थ के अनुशीलन से प्राचीन गणतन्त्र और राजतन्त्र जनपदों के शासन के सम्बन्ध में जो निर्देश प्राप्त होते हैं, वे भी कम महत्त्व के नहीं हैं।

नवाँ अध्याय

ग्रीक विवरणों द्वारा सूचित गणतन्त्र जनपद

(१) उत्तर-पश्चिमी भारत के गणराज्य

चौथी सदी ईस्वी पूर्व में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था। सिकन्दर मैसिडोनिया का राजा था। ग्रीस के विविध नगर-राज्य (City-states) उसके पिता फिलिप के शासन-काल में ही मैसिडोनियन साम्राज्य की अधीनता में आ चुके थे। पाश्चात्य संसार के प्राचीन इतिहास में मैसिडोनिया की प्रायः वही स्थिति थी, जो प्राचीन भारतीय इतिहास में मगध की थी। जिस प्रकार मगध के प्रतापी राजाओं ने अपने पड़ोस में स्थित वज्जि, मल्ल आदि गणराज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया था, वैसे ही मैसिडोनिया के राजाओं ने ग्रीक नगर-राज्यों (जिनमें से कतिपय में गण-शासन की सत्ता थी, और कतिपय में राजतन्त्र शासन की) को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। मगध के राजा महापद्म नन्द के समान मैसिडोनिया का राजा सिकन्दर भी 'सर्वक्षत्रान्तकृत' व 'अतिबल' था। उसने एशिया माइनर, मिस्र, ईराक और ईरान को विजय कर भारत की ओर प्रस्थान किया। शकस्थान को जीतकर (३३० ई० पू०) वह काबुल नदी की घाटी में प्रविष्ट हुआ। इस प्रदेश में उसने जो युद्ध किए, उनका उल्लेख उपयोगी नहीं है, यद्यपि यह प्रदेश भी उस समय भारत का ही अंग था। अफगानिस्तान की विजय के बाद सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब में उस समय किसी एक राजा का शासन नहीं था। यह प्रदेश उस समय अनेक छोटे-बड़े जनपदों में विभक्त था, जिनमें विविध प्रकार की शासन-पद्धतियों की सत्ता थी। कतिपय जनपदों में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, जिनमें केकय, गान्धार और अभिसार प्रधान थे। पर कतिपय जनपद ऐसे भी थे, जिन्हें ग्रीक लेखकों ने 'स्वाधीन', 'स्वराज्य भोगी' या 'स्वतन्त्र' लिखा है। ये जनपद भी बहुत शक्तिशाली थे, और सिकन्दर को इन्हें जीतने के लिए घनघोर युद्धों की आवश्यकता हुई थी। सिकन्दर की दिग्विजय के सम्बन्ध में जो विवरण प्राचीन ग्रीक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, उन सबको संगृहीत करके श्री मिक्रेण्डल ने छः ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, जो ग्रन्थ अंग्रेजी में हैं। इनमें से एक ग्रन्थ का सम्बन्ध सिकन्दर के आक्रमण के विवरण से है। इसमें डायोडोरस, सिल्युकस, एरियन, प्लुटार्क,

कर्टियस और जस्टिन आदि प्राचीन लेखकों के विवरणों के आधार पर सिकन्दर की दिग्विजय का वृत्तान्त दिया गया है। मिक्रेण्डल के इस ग्रन्थ में संकलित ग्रीक-लेखकों के विवरणों द्वारा भारत के गणराज्यों के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, वे बड़े महत्त्व की हैं।

काबुल की घाटी की विजय करने के अनन्तर सिकन्दर जब भारत में प्रविष्ट हुआ, तो पहले-पहल उसे ऐसे जनपदों का सामना करना पड़ा, जिनका शासन राजतन्त्र था। गान्धार जनपद का राजा आम्भि था, और केकय का पोरु (पोरस)। आम्भि ने बिना युद्ध के ही मैसिडोनियन आक्रान्ता की अधीनता स्वीकार कर ली, और पोरु ने युद्ध के बाद। गान्धार और केकय को जीतकर जब सिकन्दर भारत में और आगे बढ़ा, तो उसे अनेक ऐसे जनपदों का मुकाबला करना पड़ा, जिनका शासन गणतन्त्र था।

ग्लौकनिकोई या ग्लुचुकायन—केकय जनपद के समीप ही एक गणराज्य था, जिसे ग्रीक-लेखक एरियन ने ग्लौकनिकोई लिखा है,[1] और जिसे सुगमता से पाणिनि के गणपाठ के ग्लुचुकायन से मिलाया जा सकता है।[2] पाणिनि के अनुसार ग्लुचुकायन के निवासी या नागरिकों की संज्ञा 'ग्लौचुकायनक' होती थी। इस गणराज्य में ३७ पुर थे, जिन्हें सिकन्दर ने विजय किया और शासन के लिए राजा पोरु के सुपुर्द कर दिया।

कठइओई या कठ—रावी नदी के पूर्व में एक जनपद की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखकों ने कठईओई (Kathaioi) लिखा है। इसकी राजधानी सांगल नगरी थी। सांगल नाम सम्भवतः साँकल को सूचित करता है, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार वाहीक देश का एक नगर था। ग्रीक विवरणों के अनुसार कठइओई लोगों ने सिकन्दर का सामना करने के लिए एक ऐसे व्यूह की रचना की थी, जिसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में 'शकट व्यूह' यहा गया है और जिसके कारण सिकन्दर की स्थिति बहुत विकट हो गई थी। मैसिडोनियन सेना तभी साँकल नगरी को जीत सकी, जब कि केकयराज पोरु ५००० भारतीय सैनिकों को साथ लेकर उसकी सहायता के लिए आया। सांकल के युद्ध में १७००० के लगभग कठइओई सैनिकों का संहार हुआ। सिकन्दर इस युद्ध से इतना उद्विग्न व क्रुद्ध हो गया था कि सांकल पर कब्जा कर लेने पर उसने उसे भूमिसात् करने का आदेश दिया। डॉ० जोली और श्री जायसवाल आदि ऐतिहासिकों ने कठइओई को कठ के साथ मिलाया है, जो युक्तिसंगत है। भारत के इतिहास में कठ जाति बहुत प्राचीन है। कठोपनिषद् का निर्माण सम्भवतः इसी जाति के तत्त्वचिन्तकों द्वारा हुआ था। ग्रीक लेखकों के अनुसार इस जाति में यह रिवाज था कि जब कोई बच्चा एक साल का हो जाता था, तो राजकर्मचारी उसका निरीक्षण करते थे। जिस बच्चे को वे कुरूप या निर्बल पाते थे, उसे वे जीवित नहीं

१. Mc Crindle : Invasion of India p. 111

२. पाणिनि ४।३।९९ पर गणपाठ।

रहने देते थे। इसी ढंग की प्रथा प्राचीन ग्रीस के अनेक नगर-राज्यों में भी थी। कठोपनिषद् में बालक नचिकेता को आचार्य यम के सुपुर्द करने की जो कथा आती है,[1] वह शायद इसी रिवाज की परिचायक है। कठ लोगों में सौंदर्य को बहुत महत्त्व दिया जाता था। राजपुरुषों का चुनाव करते हुए भी वे सौंदर्य को सबसे बड़ा गुण मानते थे। स्त्री-पुरुष अपना विवाह स्वेच्छापूर्वक करते थे, और स्त्रियों में सती की प्रथा भी विद्यमान थी। कठ लोग न केवल सौंदर्य के उपासक थे, अपितु उद्भट वीर भी होते थे। मृत्यु का उन्हें जरा भी भय नहीं था।

अद्रं स्तेई या अरिष्ट—रावी नदी के समीप ही एक अन्य जनपद था, जिसके निवासियों को ग्रीक लेखकों ने अद्रं स्तेई (Adraistai या Adrestae) लिखा है। श्री जायसवाल ने इसे 'अरिष्ट' के साथ मिलाया है, जिसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में आया है।[2] अद्रं स्तेई और अरिष्ट में साम्य अधिक नहीं है, पर पाणिनि के अनुसार अरिष्ट की स्थिति भी वाहीक देश में ही थी। अतः यह असम्भव नहीं कि ये दोनों शब्द एक ही जनपद के परिचायक हों।

व्यास के तट का एक अन्य जनपद—जब सिकन्दर कठों और अरिष्टों को जीत कर व्यास नदी के तट पर पहुँच गया, तो उसे ज्ञात हुआ कि व्यास नदी के पार पूर्व की सारी भूमि बहुत अधिक उपजाऊ है, वहाँ एक ऐसी शासन-पद्धति प्रचलित है, जिसमें शासन का कार्य कतिपय प्रमुख (मुख्य) लोगों के हाथों में है। इनकी राजसभा में ५००० सदस्य होते हैं, जिनमें से प्रत्येक राज्य को एक-एक हाथी प्रदान करता है। इस राज्य के निवासी बहुत उत्तम कृषक हैं, और साथ ही अनुपम वीर भी हैं। ग्रीक लेखकों के इस विवरण से लिच्छिवियों के गणराज्य का स्मरण हो आता है, जिसकी राजसभा में ७,७०७ सदस्य होते थे, और जो सब अपने को राजा कहा करते थे। साथ ही, यह विवरण कौटलीय अर्थशास्त्र के 'वार्ताशास्त्रोपजीवि' और पाणिनि के 'आयुधजीवि' संघों का भी स्मरण दिलाता है, जिनके निवासी जहाँ कृषि, पशु पालन आदि से अपना निर्वाह करते थे, वहाँ वीरता के लिए भी विख्यात होते थे। व्यास नदी के पूर्व के प्रदेश में स्थित यह जनपद, जिसका ग्रीक लेखकों ने नाम नहीं दिया है, सम्भवतः यौधेय गण था, जो प्राचीन भारतीय इतिहास में अपनी वीरता व शक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध था, और जिसके प्राचीन सिक्के भी सतलज नदी के प्रदेश से प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुए हैं। सिकन्दर के सैनिकों को इस जनपद से युद्ध करने का साहस नहीं हुआ, और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि इस जनपद की शक्ति कठों से भी अधिक है, और इसके परे नन्द का विशाल साम्राज्य है, तो उसने सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह तक कर दिया, जिससे विवश होकर मैसिडानियन सम्राट् ने वापस लौट जाने का निश्चय किया।

१. कठोपनिषद् १।१।४

२. "अरिष्ट गौडपूर्वे च" पाणिनि ६।२।१०० और ४।२।८० पर गणपाठ।

सोफिति या सौभूति—व्यास नदी से सिकन्दर वापस लौट गया। पश्चिम दिशा में वापस जाते हुए उसे एक अन्य जनपद के साथ युद्ध करना पड़ा, जिसका नाम ग्रीक लेखकों ने सोफिति (Sophytes) लिखा है। यह कठ जनपद के समीप ही स्थित था, और इसके निवासी भी कठों के समान सौन्दर्य को बहुत महत्त्व देते थे। कुरूप व निर्बल बच्चों को जीने न देने की प्रथा इस जनपद में भी विद्यमान थी। स्त्री पुरुषों का अपनी इच्छा के अनुसार विवाह करना, सौन्दर्य को अत्यधिक महत्त्व देना आदि बातें सोफिति और कठ जनपदों में एक समान थीं। डायोडोरस ने सोफिति के सम्बन्ध में लिखा है कि "यहाँ शिशुओं का पालन-पोषण माता-पिता की इच्छा के अनुसार नहीं होता, अपितु उन अधिकारियों की इच्छा के अनुसार होता है, जो कि बच्चों की शारीरिक परीक्षा के लिए नियत किए जाते हैं। यदि ये अधिकारी लोग यह कह देते हैं, कि किसी बच्चे का कोई अंग विद्रूप या त्रुटिपूर्ण है, तो उन्हें मार दिये जाने की आज्ञा दे दी जाती है।"[1] विवाह सम्बन्ध के लिए भी इस जनपद के निवासी उच्च कुल की अपेक्षा सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देते थे, क्योंकि उनमें बालकों के सुन्दर रूप का बहुत आदर था। ग्रीक लेखकों ने सोफिति के शासन व कानून आदि की भी बहुत प्रशंसा की है।

प्रसिद्ध विद्वान् सिल्वां लेवी ने ग्रीक विवरणों के सोफिति को 'सौभूति' से मिलाया है, जिस जनपद के कतिपय सिक्के भी इस समय उपलब्ध होते हैं। 'सुभूत' का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी के गणपाठ में भी मिलता है।[2]

सिबोई या शिवि— वितस्ता (जेहलम) नदी के साथ-साथ भारत से वापस लौटते हुए सिकन्दर ने अन्य अनेक जनपदों के साथ युद्ध किये, जिनमें से एक का नाम ग्रीक लेखकों के अनुसार सिबोई (Siboi) था। वितस्ता और असिक्नी (चनाब) नदियों के संगम से पूर्व की ओर इस जनपद की स्थिति थी। इसमें भी गण शासन की सत्ता थी। सिबोई को 'शिवि' के साथ मिलाया गया है, जिसका उल्लेख पाणिनि के व्याकरण में मिलता है।[3] वहाँ इसका उल्लेख एक 'गण' के रूप में ही किया गया है।

मल्लोई (मालव) और औक्सिड्राकेई—असिक्नी (चनाब) नदी के साथ-साथ कुछ और अधिक दक्षिण की ओर जाने पर इरावती (रावी) नदी के साथ के प्रदेश में दो अन्य जनपद थे जिन्हें ग्रीक लेखकों ने मल्लोई (Malloi) और औक्सिड्राकेई (Oxydrakai) लिखा है। एरियन के अनुसार इनके निवासी न केवल संख्या में बहुत अधिक थे, अपितु अनुपम योद्धा भी थे। कर्टियस के अनुसार इन दोनों की सेना

१. McCrindle : Invasion of India by Alexander the Great, pp. 219 और 280।

२. पाणिनि, ४।२।७५ पर गणपाठ।

३. "विषयो देशे" पाणिनि ४।२।५२ पर काशिका वृत्ति।

में एक लाख सैनिक थे। "जब मैसिडोनियन सेना को ज्ञात हुआ कि अभी हमें एक अन्य युद्ध करना होगा, जिसमें हमारे विपक्षी भारत के सबसे बड़े योद्धा होंगे, तब वे आकस्मिक भय से आक्रान्त हो गए, और वे फिर विद्रोहपूर्ण भाषा में अपने राजा की निन्दा करने लगे।"[१] सिकन्दर को मल्लोई और ओक्सिड्राकेई की सेना से घनघोर युद्ध करना पड़ा, जिसमें उसे भयंकर चोट आई और वह मरते-मरते बचा। मल्लोई को 'मालव' से मिलाया गया है, और ओक्सिड्राकेई को 'क्षुद्रक' से। इन दोनों का गणराज्यों के रूप में पाणिनि की अष्टाध्यायी आदि भारतीय ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है।[२]

यद्यपि मालवों और क्षुद्रकों में देर से विरोध चला आता था, पर विदेशी शत्रु का मुकाबिला करने के लिए उन्होंने सुलह कर ली थी। ग्रीक विवरणों के अनुसार अपनी सन्धि को स्थिर करने के लिए मालवों ने अपनी सब अविवाहित कुमारियों का विवाह क्षुद्रक कुमारों के साथ कर दिया था, और क्षुद्रकों ने अपनी कुमारियों का मालव कुमारों से। कर्टियस ने लिखा है कि मालवों और क्षुद्रकों की संयुक्त सेना का संचालन करने के लिए एक क्षुद्रक वीर को चुना गया था जो एक अनुभवी सेनापति था। ग्रीक विवरणों के अनुसार युद्ध में सिकन्दर की विजय हुई थी, और मालव-क्षुद्रक परास्त हुए थे। पर ग्रीक लेखकों ने ही युद्ध के बाद सन्धि का जो विवरण दिया है, उससे यह सूचित नहीं होता कि मालव और क्षुद्रक जनपद सिकन्दर द्वारा परास्त किये गए थे। ग्रीक विवरणों में लिखा है कि इन दोनों जनपदों ने सौ राज-दूत भेजे थे, जो सब रथों पर आरुढ़ होकर आये थे और असाधारण रूप से हृष्ट-पुष्ट व देखने में अत्यन्त भव्य थे। उन्होंने बढ़िया रेशमी वस्त्र पहने हुए थे, जिन पर ज़री का काम किया हुआ था। सिकन्दर ने उनके स्वागत में एक बहुत शानदार दावत की तैयारी की आज्ञा दी, जिसमें इन राजदूतों को निमन्त्रित किया गया। वहाँ थोड़े-थोड़े अन्तर पर सोने की एक सौ चौकियाँ रखी गईं, और उनके चारों ओर ज़री के काम के बहुत बढ़िया परदे टाँगे गये। सिकन्दर ने इन दूतों की दावत में शराब की नदियाँ बहा दीं, और उन्हें सम्मान के साथ विदा किया।[3] यह वर्णन ऐसा नहीं है, जो परास्त जातियों के प्रति किये गए व्यवहार को सूचित करता हो। सिकन्दर परास्त लोगों के प्रति इस ढंग से सम्मान का बरताव नहीं करता था।

भारतीय अनुश्रुति से यह ज्ञात होता है कि क्षुद्रकों ने अकेले ही एक ऐसी महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त की थी, जिसकी स्मृति पतञ्जलि के समय तक विद्यमान थी। पाणिनि के एक सूत्र पर भाष्य लिखते हुए पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में लिखा है,

१. McCrindle : Invasion of India by Alexander the Great, pp. 241-242.
२. "आयुधजीवि संघाञ् ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मण राजन्यात्" पाणिनि ५।३।११४।
१. McCrindle : Invasion of India by Alexander the Great pp. 248-251.

कि 'क्षुद्रकों ने अकेले ही जीत लिया',[1] जो सम्भवतः क्षुद्रकों द्वारा सिकन्दर को परास्त करने की बात को सूचित करता है। पाणिनि के सूत्र 'खण्डिकादिभ्यश्च' (४।२।४५) पर भाष्य लिखते हुए पतञ्जलि ने कात्यायन के एक वार्तिक और एक पुराने श्लोक को उद्धृत किया है, जिनके अनुसार क्षुद्रक और मालव जनपदों की संयुक्त सेना के लिए 'क्षौद्रक मालवी सेना' प्रयोग का प्रतिपादन किया गया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय में क्षुद्रकों और मालवों की संयुक्त सेना की सत्ता नहीं थी, इसी कारण उन्होंने 'क्षौद्रक-मालव' द्वन्द्व के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं समझी। पर सिकन्दर के आक्रमण के समय में जब इन दोनों जनपदों को अपनी संयुक्त सेना के संगठन की आवश्यकता हुई, तब से यह नया द्वन्द्वात्मक प्रयोग प्रचलित हुआ, जिसके लिए कात्यायन को वार्तिक बनाकर इसका प्रतिपादन करना पड़ा। इस संयुक्त सेना की स्मृति और उसके कारण एक नये द्वन्द्वात्मक शब्द का प्रयोग इतने प्रचलित थे, कि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में उनका विस्तार के साथ उल्लेख किया है।

क्षुद्रक और मालव जनपदों में भी गणतन्त्र शासन की सत्ता थी, यह बात जहाँ पाणिनि के व्याकरण व भारतीय साहित्य के अन्य ग्रन्थों से सूचित होती है, वहाँ ग्रीक लेखकों के विवरण भी इसी तथ्य को प्रकट करते हैं।

अगलस्सि या आग्रेय—शिवि, क्षुद्रक और मालव जनपदों के दक्षिण-पूर्व में एक अन्य जनपद की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखकों ने अगलस्सि (Agalassi), अगिरि (Agiri) और अगिसिनेई (Agesinae) रूप से लिखा है। पर इनमें अधिक प्रचलित रूप अगलस्सि ही है। ग्रीक विवरण के अनुसार इसकी सेना में ४०,००० पदाति और ३,००० अश्वारोही सैनिक थे। अगलस्सि के सैनिक बड़ी वीरता से लड़े, पर वे सिकन्दर को परास्त नहीं कर सके। जब उन्होंने देखा कि अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकना सम्भव नहीं है, तो स्वयं अपनी नगरी को भस्मसात् कर दिया। इस नगरी की स्त्रियों ने जौहर करके अपना अन्त कर लिया, और इसके पुरुष युद्ध द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए।[3]

श्री जायसवाल ने अगलस्सि या अगिसिनेई को 'अग्रश्रेणी' से मिलाया है।

---

१. 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्' पाणिनि ५।३।५२ पर पतञ्जलि का महाभाष्य।

२. "खण्डिकादिभ्यश्च ४।२।४५

'अञ् सिद्धि रनुदात्तादेः कोऽर्थ क्षुद्रकमालवात्।'
'गोत्राद् वुञ् न च तद्गोत्रं तदन्तान्न च सर्वतः ॥
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे तथा चापिशलेर्विधिः
सेनायां नियमार्थं वा यथा बाध्येत वाञ् वुञा ॥
अञ् प्रकरणे क्षुद्रकमालवात्सेना संज्ञायाम्। क्षौद्रकमालवी सेना चेत्। क्व माभूत्। क्षौद्रकमालवमन्यत्।

३. McCrindle : Alexander the Great p. 232.

उनका कथन है कि इस जनपद का उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र के वार्ताशस्त्रोपजीवि संघों में किया गया है। यद्यपि अर्थशास्त्र में केवल 'श्रेणि' शब्द का उल्लेख है, पर ग्रीक विवरणों में उसके साथ 'अग्र' शब्द के होने से यह सूचित होता है कि श्रेणि संघ में एक से अधिक वर्ग या विभाग थे। उनमें जो मुख्य श्रेणि गण था, उसी को 'अग्र-श्रेणी' कहते थे, और उसी को ग्रीक लेखकों ने 'अगलस्सि' लिखा है। पर श्री जायसवाल का यह मत युक्तिसंगत नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में 'श्रेणि' नाम के एक गणराज्य की सत्ता थी, जिसकी वर्तमान प्रतिनिधि 'सैनी' जाति है। पर अगलस्सि जिस जनपद को सूचित करता है, वह सम्भवत: 'आग्रेय' गण है, जिसका उल्लेख महाभारत के कर्ण विजय पर्व में आया है, और जिसकी मुद्राएँ भी अगरोहा (जिला हिसार) की खुदाई से उपलब्ध हुई हैं। इस आग्रेय गण का मूल प्रवर्तक राजा अग्रसेन था, और इसकी प्रधान नगरी 'अग्रोदक' थी। यद्यपि अग्रोदक की स्थिति सतलुज नदी के दक्षिण-पूर्व में थी, पर यह असम्भव नहीं कि इस जनपद का विस्तार पश्चिम में पर्याप्त दूर तक हो, और इसकी सीमा पश्चिम में शिवि, मालव व क्षुद्रक जनपदों के समीप तक हो। महाभारत के अनुसार भी आग्रेय गण मालव गण के पड़ोस में था। कर्ण ने पूर्व से पश्चिम की ओर विजय-यात्रा करते हुए पहले आग्रेय गण को जीता था, और उसके अनन्तर मालव गण को। सिकन्दर उत्तर-पश्चिम की ओर से पूर्व-दक्षिण की ओर बढ़ रहा था। अत: स्वाभाविक रूप से उसने पहले क्षुद्रक-मालवों से युद्ध किया, और फिर आग्रेयों से। वस्तुत:, अगलस्सि 'आग्रेय' का परिचायक है, अग्रश्रेणि का नहीं। अग्रसेन के मूल पुरुष होने के कारण यह गण सम्भवत: 'आग्रसेनी' भी कहता था, जिसे ग्रीक लेखकों ने 'अगिसनेई' नाम से लिखा है। 'अगिरि' अग्रोदक का परिचायक हो सकता है। आग्रेयों के वर्तमान प्रतिनिधि अग्रवाल लोग हैं, जो अग्रसेन को अपना मूल पुरुष मानते हैं। आग्रेय भी एक वार्ताशास्त्रोपजीवि गण ही था, जिसकी वार्तोपजीविता अग्रवाल जाति में अब तक विद्यमान है।

अम्बस्टेई या अम्बष्ठ—अगलस्सि को जीतकर सिकन्दर का सामना एक अन्य जनपद से हुआ, जिसे ग्रीक लेखकों ने अम्बस्टेई लिखा है। ये भी वीरता और जनसंख्या में किसी से कम नहीं थे, और इनकी सेना में ६०,००० पदाति व ६,००० अश्वारोही और ५०० रथ थे।[1] सिकन्दर का सामना करने के लिये इन्होंने तीन सेनापति चुने थे, जो वीरता और युद्धनीति के लिये प्रसिद्ध थे। सिकन्दर ने इनसे सन्धि कर लेना ही उचित समझा। ग्रीक विवरणों के अनुसार अम्बस्टेई के वृद्धों या ज्येष्ठों की यह सम्मति थी, कि सिकन्दर से युद्ध करना उचित नहीं होगा। उन्हीं के परामर्श से पचास राजदूत सिकन्दर की सेवा में उपस्थित हुए, और उन्होंने मैसिडोनियन विजेता के साथ सन्धि कर ली। अम्बस्टेई को 'अम्बष्ठ' से मिलाया गया है, जो उचित है। महाभारत

१. McCrindle : Alexander the Great p. 252.

के सभापर्व में 'अम्बष्ठ' का मालव के साथ उल्लेख किया गया है,[१] जोकि पंजाब में ही एक जनपद था। पाणिनि के सूत्र 'द्व्यञ् मगधकलिङ्ग सूरमसादण्' (४।१।१७०) पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने भी 'अम्बष्ठ' का एक देश या जनपद के रूप में उल्लेख किया है।

क्सेईओई या क्षत्रिय—ग्रीक विवरणों में एक अन्य जाति या जनपद का उल्लेख है, जिसे वहाँ क्सेथ्रोई (Xathroi) कहा गया है। यह 'क्षत्रिय' सङ्घ का परिचायक है जिसका परिगणन कौटलीय अर्थशास्त्र में वार्ताशस्त्रोपजीवि सङ्घों में किया गया है।[२]

ओस्साडिओई या वसाति—ग्रीक लेखक एरियन ने ओस्सादिओई (Ossadioi) नाम की एक अन्य जाति का उल्लेख किया है, जिसे विद्वानों ने 'वसाति' से मिलाया है। महाभारत के सभापर्व में 'वसाति' जनपद का भी उल्लेख है, जो कि क्षुद्रकों और मालवों के समीप ही स्थित था।[३] पाणिनि के सूत्र 'विषयो देशे' (४।२।५२) का भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने भी 'वसाति' को उन जनपदों में परिगणित किया है, जिनका शासन गणतन्त्र था।

मुसिकनोई या मुचुकर्ण—क्षुद्रक, मालव, आग्रेय, अम्बष्ठ, क्षत्रिय और वसाति आदि जनपदों को जीतकर या उनसे सन्धि करके सिकन्दर निरन्तर दक्षिण की ओर चलता गया। उत्तरी सिन्ध के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के अनन्तर सिकन्दर का सम्पर्क एक जनपद से हुआ, जिसे ग्रीक लेखकों ने मुसिकनोई (Mousikanoi) लिखा है। ग्रीक विवरणों में इस जनपद की शासन-प्रणाली और कानूनों की बहुत प्रशंसा की गई है। उनके अनुसार यह जनपद भारत-भर में सबसे अधिक सम्पत्तिशाली व समृद्ध था।[४] इसके सब नागरिक एक साथ मिलकर भोजन करते थे। दासप्रथा का इसमें अभाव था। सात्त्विक भोजन करने और नियमित जीवन बिताने के कारण इस जनपद के निवासियों की आयु प्रायः १३० वर्ष की होती थी। अनेक विद्वानों ने मुसिकनोई को 'मूषिक' से मिलाया है। पर जायसवालजी ने इनकी 'मुचिकर्ण' से समता स्थापित की है, जिसका उल्लेख पाणिनि के एक सूत्र (४।२।८०) की काशिका वृत्ति में मिलता है। सम्भवतः, मुसिकनोई का ही भारतीय रूप मुचुकर्ण था।

ब्रचमनोई या ब्राह्मणक—मुचुकर्ण जनपद से अधीनता स्वीकार कर जब सिकन्दर सिन्ध के क्षेत्र में और आगे बढ़ा, तो उसे एक अन्य जनपद के साथ युद्ध करना

१. "अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या: वस्त्रापा: सह पल्लवैः।"

महाभारत, सभापर्व ५२:१५।

२. कौटलीय अर्थशास्त्र ११।१।

३. "वशातयश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः।"

४. McCrindle : Ancient India as described in Classical literature p. 41.

पड़ा, जिसे ग्रीक विवरणों में ब्रचमनोई लिखा गया है। सिकन्दर ने क्रूरता के साथ इस जनपद के निवासियों का संहार किया। ब्रचमनोई को 'ब्राह्मणक' के साथ मिलाया गया है, जिसका एक जनपद के रूप में उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में भी किया गया है (पाणिनि सूत्र 'ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्' ५।२।७१)।

पातलेन या पातानप्रस्थ—सिन्ध प्रान्त में सिन्धु नदी जहाँ दो धाराओं में विभक्त होकर समुद्र की ओर आगे बढ़ती है, वहाँ प्राचीन समय में एक जनपद की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखकों ने पातलेन (Patelene) लिखा है। ग्रीक विवरणों में इस जनपद के शासन की तुलना स्पार्टा के शासन से की गई है। इसके सम्बन्ध में डायोडोरस ने लिखा है कि यहाँ की शासनपद्धति उसी ढंग की है, जैसी कि स्पार्टा की है। यहाँ युद्ध का सेनापतित्व दो भिन्न-भिन्न कुलों में वंशानुगत रूप से प्राप्त रहता है, और वृद्धों या ज्येष्ठों का एक कौंसिल होती है, जिसे सारे राज्य पर शासन करने का अधिकार है।[1] यह जनपद सम्भवतः पातानप्रस्थ को सूचित करता है, जिसका उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है (गणपाठ, पाणिनि ४।१।१४)।

(२) ग्रीक विवरणों में गणराज्यों के शासन-विषयक निर्देश

सिकन्दर के आक्रमण के कारण जिन ग्रीक लोगों का भारत के विविध जनपदों के साथ परिचय हुआ, उनके अपने देश में बहुत-से नगर-राज्यों की सत्ता थी, यद्यपि अब वे मैसिडोनिया की अधीनता में आ चुके थे। इन नगर-राज्यों की शासन-पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न थीं, और जिन ग्रीक लेखकों के विवरण हमें उपलब्ध हैं, वे इनसे भली भाँति परिचित थे। भारत के जनपदों से सम्पर्क में आकर इन ग्रीक-लेखकों ने इनके शासन के सम्बन्ध में जो निर्देश दिये हैं, वे महत्त्व के हैं।

कठ और सौभूति जनपदों की सामाजिक व शासन-सम्बन्धी व्यवस्था प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि प्राचीन स्पार्टा की थी। इनमें सन्तान का पालन-पोषण राज्य की दृष्टि से किया जाता था, माता पिता की दृष्टि से नहीं। इसी कारण यदि राज-पुरुष किसी बच्चे को विकलाङ्ग या कुरूप पाते, तो उसे वे जीवित न रहने देते। इन जनपदों में व्यक्ति की सत्ता राज्य के लिए थी, इसीलिए समूह के उत्कर्ष व हित के लिये व्यक्ति को कुर्बान कर दिया जाता था। इन जनपदों में सम्भवतः स्पार्टा के समान राजाओं की भी सत्ता थी, यद्यपि इनके राजा वंशक्रमानुगत न होकर निर्वाचित हुआ करते थे। ग्रीक लोग अपने देश के इस प्रकार के निर्वाचित राजाओं से भली-भाँति परिचित थे। इसी कारण उन्होंने कठ और सौभूति जनपदों की शासन-व्यवस्था व कानूनों की बहुत प्रशंसा की है।

क्षुद्रक, मालवा, अम्बष्ठ और पातानप्रस्थ जैसे जनपदों में उस ढंग के शासन

१. McCrindle : Alexander the Great p. 356.

विद्यमान थे, जिन्हें ग्रीक लेखक लोकतन्त्र (Democratic) कहते हैं। डायोडोरस ने लिखा है, कि बहुत-सी सन्ततियां बीत गई थीं, जब कि इन नगरों (नगर-राज्यों) में राजाओं की सत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन स्थापित हो गये थे। बहुसंख्यक नगरों ने लोकतन्त्र शासन को अपना लिया था, यद्यपि कतिपय स्थानों पर अभी राजाओं का शासन कायम था। ग्रीस के समान भारत के इतिहास में भी हमें यह प्रवृत्ति दिखाई देती है, कि अनेक नगर-राज्यों या जनपदों में जहां पहले राजाओं के वंशक्रमानुगत शासन थे, बाद में गणतन्त्र-शासन स्थापित हो गये।[1] डायोडोरस के लेख से यह बात भली भांति पुष्ट हो जाती है। लोकतन्त्र (Democracy) का क्या अभिप्राय है, इससे ग्रीक लोग भली भांति परिचित थे। अतः जब वे यह लिखते हैं कि बहुसंख्यक नगरों या नगर-राज्यों में राजाओं के शासन का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन स्थापित हो गये थे, तो यह स्वीकार करना होगा कि पंजाब व उत्तर-पश्चिमी भारत के बहुत-से जनपदों में सिकन्दर के आक्रमण के समय प्रायः उसी ढंग की शासन-पद्धतियों की सत्ता थी, जैसी कि मैसिडोनियन विजय से पूर्व ग्रीस के अनेक नगर-राज्यों में थी।

क्षुद्रक और मालव जनपदों की ओर से जो राजदूत सिकन्दर से सन्धि करने के लिए आये थे, उनकी संख्या १०० थी। यह स्पष्ट है, कि इन जनपदों में किसी एक राजा का शासन न होकर गण-शासन विद्यमान थे, जिनकी ओर से इतनी अधिक संख्या में राजदूतों की नियुक्ति की गई थी।

पिछले प्रकरण में ग्रीक लेखकों द्वारा वर्णित जिन अनेक जनपदों का उल्लेख किया गया है, उनमें से कतिपय में ग्रीक विवरणों के अनुसार ज्येष्ठों या वृद्धों का शासन था। पातानप्रस्थ का शासन इन ज्येष्ठों द्वारा ही होता था। व्यास नदी के पूर्व में स्थित जिस शक्तिशाली जनपद का उल्लेख ग्रीक लेखकों ने किया है, उसके शासन को उन्होंने श्रेणितन्त्र (Aristocratic) कहा है। प्राचीन ग्रीस के अनेक नगर-राज्यों में श्रेणितन्त्र शासनों की सत्ता थी, जिनमें सम्पूर्ण जनता का शासन न होकर कतिपय विशिष्ट कुलों का शासन होता था। भारत में भी ऐसे शासनों की सत्ता थी।

ग्रीक लेखकों के विवरणों में भारतीय जनपदों के शासन के सम्बन्ध में जो निर्देश मिलते हैं, वे बहुत संक्षिप्त व निर्देशात्मक हैं। पर यदि भारतीय ग्रन्थों में विद्यमान सूचनाओं से मिला कर उनका अनुशीलन किया जाए, तो इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भारत में दिग्विजय करते हुए सिकन्दर को जिन जनपदों के साथ युद्ध करना पड़ा था, उनमें से बहुसंख्या ऐसी थी, जिन में लोकतन्त्र या श्रेणितन्त्र शासन विद्यमान थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी और कौटलीय अर्थशास्त्र के

१. McCrindle : Magasthenes p. 38.

आधार पर इस ढंग के जनपदों के शासनों के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ मिलती हैं, उनका उल्लेख हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। ग्रीक विवरणों से उन्हीं की पुष्टि होती है, क्योंकि पाणिनि और कौटल्य के ग्रन्थ भी प्रायः उसी काल की दशा के परिचायक हैं, जिसका वृत्तान्त हमें ग्रीक विवरणों द्वारा प्राप्त होता है।

विपाशा (व्यास)—नदी के पूर्व में स्थित जिस शक्तिशाली जनपद (सम्भवतः, यौधेयगण) का ग्रीक लेखकों ने उल्लेख किया है, उसकी सभा में ५००० सदस्य होते थे। केवल ऐसे व्यक्ति ही इस सभा के सदस्य हो सकते थे, जो राज्य को एक-एक हाथी प्रदान करें। इससे सूचित होता है, कि यौधेयगण के जो व्यक्ति हस्तियुद्ध में प्रवीण हों, वे ही उसकी सभा में सदस्यता का अधिकार प्राप्त कर सकते थे। पाणिनि के 'आयुधजीवि' और कौटल्य के 'वार्ताशस्त्रोपजीवि' संघ इसी प्रकार के थे, जिनमें शासन का अधिकार कुशल योद्धाओं में निहित था।

दसवाँ अध्याय

मौर्य-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

(१) साम्राज्यवाद की सफलता

प्राचीन भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, और इन जनपदों में विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियाँ विद्यमान थीं। इन राजतन्त्र और गणतन्त्र जनपदों के शासनों पर हम पिछले अध्यायों में प्रकाश डाल चुके हैं। बौद्ध युग में भारत में सोलह महा-जनपद प्रधान थे, जिनमें से मगध, अवन्ति, कोशल और वत्स के शक्तिशाली राजा अपने सैन्य-बल से पड़ौस के अन्य जनपदों की विजय कर अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए तत्पर थे, साथ ही, इन चारों शक्तिशाली राज्यों में परस्पर संघर्ष भी जारी था, जिसमें अन्ततोगत्वा मगध को सफलता प्राप्त हुई। महात्मा बुद्ध के समय में मगध का राजा बिम्बिसार था, महावग्ग के अनुसार जिसकी अधीनता में ८०,००० ग्राम थे, और जिनके ग्रामिक (ग्रामणी) मगध की राजसभा में एकत्र हुआ करते थे।[१] यद्यपि बिम्बिसार के समय में मगध के राज्य का विस्तार ३०० योजनों में था,[२] पर जनपदों के पुराने शासन की परम्परा के अनुसार अभी वहाँ जनपद-सभाओं की सत्ता नष्ट नहीं हुई थी। बिम्बिसार के बाद उसके पुत्र अजातशत्रु ने मगध की शक्ति का और अधिक विस्तार किया, और उसने वज्जि-संघ को जीत कर अपने अधीन कर लिया। अजातशत्रु के उत्तराधिकारी दर्शक और उदायिभद्र के शासन-काल में मगध के साम्राज्य का और अधिक विस्तार हुआ। इन राजाओं ने जिस प्रकार विजय-यात्राओं द्वारा मागध के साम्राज्य का विकास किया, इसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। मागध सम्राट् महापद्म नन्द (चतुर्थ सदी ईस्वी पूर्व) तक यह दशा आ गई थी, कि पूर्व में बंगाल की खाड़ी से शुरू कर पश्चिम में यमुना नदी तक का सम्पूर्ण उत्तरी भारत मागध साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। पुराणों में इस राजा को 'सर्वक्षत्रान्तक' (सब क्षत्रियों का अन्त करने वाला) लिखा गया है, और साथ ही उन वंशों का नाम भी दिया गया है, जिनका उच्छेद कर उसने अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया था। ये राजवंश निम्नलिखित हैं—पौरव, ऐक्ष्वाकव, पञ्चाल,

१. Rayachowdhary : Political History of Ancient India, p. 125.

२. बुद्धचर्या, पृ० ८४

कौरव, हैहय, कलिंग, शूरसेन, मैथिल, अश्मक और वीतिहोत्र ।[1] पुराणों में इस राजा को 'अतिबल' आदि अन्य विशेषणों से भी विभूषित किया गया है। इसी के उत्तराधिकारी धननन्द के शासन-काल में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, और इसकी विशाल व शक्तिशाली सेना का वृत्तान्त सुनकर ग्रीक सैनिक अपने वीर सेनापति के आदेश का उल्लंघन कर भारत में और अधिक आगे बढ़ने के लिये तैयार नहीं हुए थे ।

सिकन्दर की मृत्यु (३२३ ई० पू०) के बाद उस द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों में विद्रोह हो गया, जिसके नेता चन्द्रगुप्त मौर्य और आचार्य चाणक्य थे। ग्रीक लेखक जस्टिन के अनुसार जिन्हें चन्द्रगुप्त ने विदेशियों के जुए से स्वतन्त्र किया था, उन्हें उसने अपने अधीन कर लिया। महावंश के अनुसार चाणक्य और चन्द्रगुप्त सीमाप्रान्त से पूर्व की ओर बढ़ते गये। एक बड़ी सेना उनके साथ थी। पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर और नन्द को मार कर चन्द्रगुप्त ने मागध का राज्यसिंहासन प्राप्त कर लिया। इस प्रकार विशाल मौर्य-साम्राज्य की स्थापना हुई। यमुना से बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत उत्तरी भारत के प्रदेश पहले ही मागध साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सिकन्दर द्वारा विजित उत्तर-पश्चिमी भारत के प्रदेशों को ग्रीक अधीनता से मुक्त कराने के कारण यमुना से पश्चिम का क्षेत्र भी चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में शामिल हो गया था। सैल्युकस को परास्त कर चन्द्रगुप्त ने परोपनिसदी, आर्कोसिया आरिया और गद्रोसिया के प्रदेश भी प्राप्त कर लिये थे, जिनके कारण उसके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश पर्वतमाला के पश्चिम में भी कुछ दूर तक पहुँच गई थी।

चन्द्रगुप्त (३२२-२९८ ई० पू०) के बाद उसके उत्तराधिकारी बिन्दुसार और अशोक ने मागध साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया। दक्षिणी भारत की विजय का मुख्य श्रेय बिन्दुसार को है, जिसकी विजयों के कारण मौर्य-साम्राज्य की दक्षिणी सीमा सुदूर दक्षिण में पहुँच गई थी, और केवल चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र—ये चार राज्य ही दक्षिणी भारत में ऐसे रहे थे, जो मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे। अशोक ने कलिङ्ग को जीतकर अपने अधीन किया, जिसके कारण मौर्य-वंश का शासन-क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया।

जरासन्ध या उससे पूर्व से ही मगध के राजाओं में साम्राज्यवाद की जो प्रवृत्ति थी, मौर्य-राजाओं के शासन में वह पूर्णतया सफल हो गई थी। अब तक

१. "अतिलुब्धोऽप्यतिबलो सर्वक्षत्रान्तको नृपः ।
ऐक्ष्वाकांश्च पांचालान् कौरव्यांश्चैव हैहयान् ॥
कालकानेक लिंगाश्च शूरसेनांश्च मैथिलान् ।
जित्वा चान्यांश्च भूपालान् द्वितीय इव भार्गवः ॥"
कलियुगराजवृत्तान्त ३।२

हमने प्राचीन भारत के उन जनपदों की शासन-पद्धति पर विचार किया है, जिनका स्वरूप नगर-राज्यों का था। मगध के साम्राज्य की स्थापना के कारण भारत में एक ऐसी शासन-पद्धति का विकास हुआ, जो एक विशाल साम्राज्य के लिए उपयुक्त थी। इस शासन-पद्धति का परिचय प्राप्त करने के साधन निम्नलिखित हैं—(१) कौटलीय अर्थशास्त्र, जिसका निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के पुरोहित व प्रधान मन्त्री चाणक्य ने किया था। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में जहाँ प्राचीन जनपदों के शासन का परिचय मिलता है, वहाँ साथ ही विशाल साम्राज्य के शासन-प्रकार के सम्बन्ध में भी बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र का निर्माण नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के लिए 'शासन की विधि' के रूप में ही किया था। (२) ग्रीक यात्रियों के यात्रा-विवरण भी मौर्ययुग की शासन-पद्धति को जानने के लिए बहुत उपयोगी हैं। मैगस्थनीज अनेक वर्षों तक सैल्यूकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था। पाटलिपुत्र में रहते हुए उसने इस देश के भूगोल, इतिहास, रीतिरिवाज, शासन-प्रबन्ध और सैन्य-संचालन आदि का भली भाँति अनुशीलन किया। इन सबको वह लेखबद्ध करता गया। डायमेचस नाम का राजदूत बिन्दुसार के राजदरबार में भी रहा था, जिसे सीरिया के राजा एण्टियोकस सार्टर ने पाटलिपुत्र भेजा था। सिकन्दर की विजय-यात्रा के बाद भारत और पश्चिमी संसार का सम्बन्ध बहुत सुदृढ़ हो गया था। इस कारण अन्य भी अनेक पाश्चात्य यात्री मौर्य-युग में भारत आये थे। यद्यपि इन यात्रियों द्वारा लिखित यात्रा-विवरण इस समय अविकल रूप से उपलब्ध नहीं है, पर बाद के ग्रीक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में इनके यात्रा-विवरणों का अनेक स्थलों पर उपयोग किया है, जिनसे कि हमें मैगस्थनीज, डायमेचस आदि के भारतीय विवरणों की एक झाँकी मिल जाती है। ये उल्लेख मौर्य-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था पर भी प्रकाश डालते हैं। (३) अशोक की धर्म्मलिपियों में यद्यपि प्रधानतया अशोक के धम्म व धम्मविजय के उपायों का उल्लेख है, पर प्रसंगवश उनमें उस युग की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी अनेक उपयोगी निर्देश विद्यमान हैं। (४) बौद्ध-धर्म के इतिहास में सम्राट् अशोक का बड़ा महत्व है। इसीलिए दिव्यावदान, ललित विस्तार आदि बौद्ध-ग्रन्थों में अशोक के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ दी गई हैं, जिनमें उसके समय की शासन-व्यवस्था के विषय में भी अनेक महत्वपूर्ण निर्देश विद्यमान हैं। ह्य ुनत्सांग जैसे चीनी यात्रियों ने भी अपने यात्रा-विवरणों में अशोक के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। यह सब सामग्री मौर्य-साम्राज्य की शासन-पद्धति को समझने के लिए भी बहुत उपयोगी है।

वस्तुतः, जितनी ऐतिहासिक सामग्री मौर्य-वंश के राजाओं के सम्बन्ध में उपलब्ध है, उतनी भारतीय इतिहास के किसी अन्य काल के सम्बन्ध में प्राप्त नहीं है। इसीलिए हम मौर्य-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था पर अधिक विस्तार के साथ

प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। मौर्य-वंश के शासन-काल में भारत के विशाल साम्राज्य के शासन के लिए जिस पद्धति का निर्माण हुआ, कतिपय परिवर्तनों के साथ वही बाद के अन्य वंशों के साम्राज्यों में भी प्रयुक्त होती रही।

इस अध्याय में हम मौर्य-साम्राज्य की शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में विचार करेंगे। हमारे इस विवेचन का मुख्य आधार कौटलीय अर्थशास्त्र ही होगा, क्योंकि वह एक ऐसा विश्वसनीय साधन है, जो बड़े विस्तार के साथ मौर्य-युग की शासन-पद्धति पर प्रकाश डालता है। पर अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्य-युग की शासन-संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए हमें निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—(१) कौटलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित शासन-संस्थाओं का सम्बन्ध मुख्यतया जनपदों के शासन से है। मागध-साम्राज्य के विकास से पूर्व भारत में बहुत-से स्वतन्त्र जनपदों की सत्ता थी, जो कि अधीनस्थ रूप में मौर्य-साम्राज्य में भी कायम रहे। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र का निर्माण पुराने आचार्यों के शास्त्रों का संग्रह व समन्वय करके किया था। अतः स्वाभाविक रूप से उसमें बहुत-से ऐसे मन्तव्यों का समावेश है, जिनका सम्बन्ध जनपदों के शासन से है। अर्थशास्त्र में जिन बहुत-से अध्यक्षों व अमात्यों का विवरण दिया गया है, वे सम्भवतः जनपदों के शासन से ही सम्बन्ध रखते हैं। (२) एक विशाल साम्राज्य का निर्माण हो जाने पर इस साम्राज्य का शासन मुख्यतया सम्राट् व उसकी मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही संचालित होता था। साम्राज्य का निर्माण क्योंकि 'विजिगीषु' राजा द्वारा हुआ था, अतः उसका शासन भी उसी के अधीन था। वही ऐसे राज्य में 'कूटस्थानीय' होता था।[1] राजा यदि उत्थानशील हो, तो राज्य उन्नति करता है। यदि वह प्रमादी हो, तो राज्य अवनति के मार्ग पर अग्रसर होता है। मन्त्रि-पुरोहित आदि मन्त्री, अध्यक्ष आदि कर्मचारी-वर्ग राजा के सक्रिय होने पर ही राज्य की उन्नति के लिए तत्पर होते हैं। सब पदाधिकारी राजा द्वारा ही नियुक्त किये जाते हैं। यदि राजा अपने विवेक से सुयोग्य मन्त्रियों व पदाधिकारियों को नियुक्त करेगा, तभी उनके यत्न से राज्य का उत्कर्ष सम्भव होगा।[2] इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि साम्राज्य के केन्द्रीय शासन में किन्हीं ऐसी शासन-संस्थाओं का विकास हो, जिनमें जनता को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। यही कारण है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा साम्राज्य के केन्द्रीय शासन में किन्हीं सभा-समिति जैसी संस्थाओं की सत्ता सूचित नहीं होती, यद्यपि परम्परागत ग्रामसंघ और जनपद-संघ (या पौर जानपद सभाएँ) इस काल में भी विद्यमान रहे। मन्त्रि-परिषद् की सत्ता इस काल में अवश्य थी, पर उसमें कितने मन्त्री हों, उन्हें कैसे

१. 'तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति।' कौ० अर्थ० ८।१

२. "स्वाम्यायत्ता प्रधानसिद्धिः। मन्त्र्यायत्ता यत्नसिद्धिः। उभयायत्ता प्रधानायत्ता सिद्धिः।" कौ० अर्थ० ६।१

नियुक्त किया जाए और उनसे किस ढंग से परामर्श लिया जाए, यह सब राजा की अपनी इच्छा पर निर्भर था।

(२) साम्राज्य के शासन की रूपरेखा

पाँच चक्र—यद्यपि सम्पूर्ण मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहाँ से कम्बोज, बंग और आन्ध्र तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन सम्पूर्ण 'विजित' को पाँच भागों में बाँटा गया था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जैनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। इन राजधानियों को दृष्टि में रखकर हम यह सहज में अनुमान कर सकते हैं, कि विशाल मौर्य साम्राज्य पाँच चक्रों में विभक्त था। ये चक्र (प्रांत या सूबे) निम्नलिखित थे—(१) उत्तरापथ—जिसमें कम्बोज, गांधार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश अन्तर्गत थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिम चक्र—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। (३) दक्षिणापथ—विंध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस चक्र में था, और इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। (४) कलिंग—अशोक ने अपने नये जीते हुए प्रदेश का एक पृथक् चक्र बनाया था, जिसकी राजधानी तोसाली थी। (५) मध्य देश—इसमें वर्तमान बिहार, उत्तर प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इन पाँचों चक्रों का शासन करने के लिए प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को नियत किया जाता था, जिन्हें कुमार कहते थे। कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। अशोक और कुनाल राजा बनने से पूर्व उज्जैनी, तक्षशिला आदि के 'कुमार' रह चुके थे।

चक्रों के उपविभाग—इन पाँच चक्रों के अन्तर्गत फिर अनेक छोटे शासन-केन्द्र या मंडल भी थे, जिनमें 'कुमार' के अधीन महामात्य शासन करते थे। उदाहरण के लिए तोसाली के अधीन समापा में, पाटलिपुत्र के अधीन कौशाम्बी में और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में महामात्य रहते थे। उज्जैनी के अधीन सुराष्ट्र का एक पृथक् 'देश' था, जिसका शासक चन्द्रगुप्त के समय में वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय में वहाँ का शासन यवन तुषास्प के अधीन था। मागध सम्राट् की ओर से जो आज्ञाएँ प्रचारित की जाती थीं, वे चक्रों के 'कुमारों' के महामात्यों के नाम ही होती थीं। यही कारण है कि दक्षिणापथ में इसिला के महामात्यों के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के कुमार या आर्यपुत्र के द्वारा भेजे। इसी प्रकार कलिंग में समापा के महामात्यों को तोसाली के कुमार की मार्फत ही आज्ञा भेजी गई। पर मध्य देश (राजधानी पाटलिपुत्र) के चक्र पर किसी कुमार की नियुक्ति नहीं होती थी,

उसका शासन सीधा सम्राट् के अधीन था। अतः उसके अन्तर्गत कौशाम्बी के महामात्यों को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे।

चक्रों के शासन के लिए कुमार की सहायतार्थ जो महामात्य नियुक्त होते थे, उन्हें शासन-सम्बन्धी बहुत अधिकार प्राप्त थे। अतएव अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो आज्ञाएँ प्रकाशित कीं, उन्हें केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से नहीं भेजा गया, अपितु कुमार और महामात्य—दोनों के नाम प्रेषित किया। इसी प्रकार जब कुमार भी अपने अधीनस्थ महामात्यों को कोई आज्ञा भेजते थे, तो उन्हें वे अपने नाम से नहीं अपितु महामात्य-सहित कुमार के नाम से भेजते थे।

जनपद व ग्राम—मौर्य-साम्राज्य के मुख्य पाँच चक्र या विभाग थे, और फिर ये चक्र अनेक मंडलों में विभक्त थे। प्रत्येक मंडल में बहुत से जनपद होते थे। सम्भवतः, ये जनपद प्राचीन युग के जनपदों के प्रतिनिधि थे। शासन की दृष्टि से जनपदों के भी विविध विभाग होते थे, जिन्हें कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा गया है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण कहते थे। बीस संग्रहणों (या २०० ग्रामों) से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिकों (या ४०० ग्रामों) से एक द्रोणमुख और दो द्रोणमुखों (८०० ग्रामों) से एक स्थानीय बनता था। सम्भवतः, स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। स्थानीय में लगभग ८०० ग्राम हुआ करते थे। पर कुछ स्थानीय आकार में छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशों में आबादी घनी न होने के कारण 'स्थानीय' में गाँवों की संख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानीयों को द्रोणमुख या खार्वटिक कहा जाता था।

ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता था। संपूर्ण जनपद के शासक को 'समाहर्त्ता' कहते थे। समाहर्त्ता के ऊपर महामात्य होते थे, जो चक्रों के अंतर्गत विविध मंडलों का शासन करने के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे। इन मण्डल-महामात्यों के ऊपर कुमार और उसके सहायक महामात्य रहते थे। सबसे ऊपर पाटलिपुत्र का मौर्य-सम्राट् था।

शासक-वर्ग—शासनकार्य में सम्राट् की सहायता करने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस मन्त्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। अशोक के शिलालेखों में भी उसकी परिषद् का बार-बार उल्लेख है। चक्रों के शासक कुमार भी जिन महामात्यों की सहायता से शासनकार्य करते थे, उनकी भी एक परिषद् होती थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से जो राज-कर्मचारी साम्राज्य में शासन के विविध पदों पर नियुक्त थे, उन्हें 'पुरुष' कहते थे। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और हीन—इन तीन दर्जों के होते थे। जनपदों के समूहों (मण्डलों) के ऊपर शासन करनेवाले महामात्यों की संज्ञा संभवतः प्रादेशिक या प्रदेष्टा थी। उनके अधीन जन-

पदों के शासक समाहर्त्ता कहलाते थे। निःसंदेह, ये उत्तम 'पुरुष' होते थे। इनके अधीन 'युक्त' आदि विविध कर्मचारी मध्यम व हीन दर्जे में रखे जाते थे।

स्थानीय स्वशासन—जनपदों के शासन का संचालन करने के लिए जहाँ केन्द्रीय सरकार की तरफ से समाहर्त्ता नियत थे, वहाँ जनपदों की अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रूप से कायम थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि जनपदों, नगरों व ग्रामों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि इनमें अपना स्थानीय स्वशासन पुरानी परम्परा के अनुसार जारी था। सब जनपदों में एक ही प्रकार की स्थानीय स्वतन्त्रता नहीं थी। हम जानते हैं, कि मागध-साम्राज्य के विकास से पूर्व कुछ जनपदों में गणशासन और कुछ में राजाओं का शासन था। उनके व्यवहार और धर्म अलग-अलग थे। जब वे मगध के साम्राज्यवाद के अधीन हो गये, तो भी उनमें अपनी पुरानी परम्परा के अनुसार स्थानीय शासन जारी रहा, और ग्रामों में पुरानी ग्राम-सभाओं और नगरों में नगरसभाओं (पौरसभा) के अधिकार कायम रहे। ग्रामों के समूहों व जनपदों में भी जानपदसभा की सत्ता विद्यमान रही। पर केन्द्रीय सरकार की तरफ से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का संचालन करने के लिए 'पुरुष' नियुक्त होते रहे।

मौर्य-साम्राज्य के शासन का यही स्थूल ढाँचा है। अब हम इसका अधिक विस्तार से वर्णन करेंगे।

(३) विजिगीषु राजर्षि सम्राट्

विविध जनपदों और गणराज्यों को जीतकर जिस विशाल मागध-साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसका केन्द्र राजा या सम्राट् था। चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो की मुख्यता है, राजा और देश की।[1] प्राचीन परम्परा के अनुसार राज्य के सात अंग माने जाते थे—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र। पुराने युग में जब छोटे-छोटे जनपद होते थे और उनमें एक ही 'जन' का निवास होता था, तो राजा की उनमें विशेष महत्ता नहीं होती थी। इसीलिए आचार्य भारद्वाज की दृष्टि में राजा की अपेक्षा अमात्य की अधिक महत्ता थी। अन्य आचार्यों की दृष्टि में अमात्य की अपेक्षा भी जनपद, दुर्ग या कोष आदि का महत्त्व अधिक था।[2] एक जन के निवास-स्थान, प्राचीन काल के जनपदों में राजा की अपेक्षा अन्य अंगों व तत्त्वों की प्रमुखता सर्वथा स्वाभाविक थी। जनपदों को जीतकर जिन साम्राज्यों का निर्माण हो रहा था, उनका केन्द्र राजा ही था, वे एक महाप्रतापी

१. "राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः।" कौ० अ० ८।२
२. कौ० अर्थ० ८।१

महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति की ही कृति थे। उसी ने कोष, सेना, दुर्ग आदि का संगठन कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कौटल्य के शब्दों में "मन्त्रि, पुरोहित आदि भृत्य वर्ग की और राज्य के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है। राजपुरुषों में, कोष व जनता में यदि कोई विपत्ति आ जाय, तो उसका प्रतीकार राजा द्वारा ही होता है। इनकी उन्नति भी राजा के ही हाथ में है। यदि अमात्य ठीक न हों, तो राजा उन्हें हटाकर नये अमात्यों की नियुक्ति करता है। पूज्य लोगों की पूजा कर व दुष्ट लोगों का दमन कर राजा ही सबका कल्याण करता है। यदि राजा सम्पन्न हो, तो उसकी समृद्धि से प्रजा भी सम्पन्न होती है। राजा का जो शील हो, वही शील प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी व उत्थानशील हो, तो प्रजा भी उत्थानशील होती है। यदि राजा प्रमादी हो, तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है। अतः राज्य में कूटस्थानीय (केन्द्रीभूत) राजा ही है।"[1]

जब साम्राज्यों में राजा का इतना महत्त्व है, तो राजा को भी एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिए। कोई साधारण पुरुष राज्य का कूटस्थानीय नहीं हो सकता। चाणक्य के अनुसार राजा में निम्नलिखित गुण आवश्यक हैं। "वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वह वृद्ध (Elders) जनों की बात को सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करने वाला हो, परस्पर-विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, उसमें उत्साह अत्यधिक हो, दीर्घसूत्री न हो, सामन्त राजाओं को अपने वश में रखने में वह समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो और वह विनय (नियन्त्रण) का पालन करने वाला हो।"[2] इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से गुणों का चाणक्य ने विस्तार से वर्णन किया है, जो राजा में अवश्य होने चाहिएँ। राजा की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होनी चाहिए। स्मरण-शक्ति, बुद्धि और बल की उसमें अतिशयता होनी चाहिए। वह अत्यन्त उग्र, अपने ऊपर काबू रखने वाला, सब शिल्पों में निपुण, सब दोषों से रहित और दूरदर्शी होना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता आदि पर उसे पूरा काबू होना चाहिए।

चाणक्य इस बात को भली-भाँति समझता था, कि इस प्रकार का आदर्श पुरुष सुगमता से नहीं मिल सकता। पर शिक्षा और विनय से ये गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। यदि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा दी जाय, तो उसे एक आदर्श राजा बनने के लिए तैयार किया जा सकता है। चाणक्य ने उस शिक्षा और विनय का विस्तार से वर्णन किया है, जो बचपन और युवावस्था

१. मन्त्रि पुरोहितादि भृत्यवर्गमध्यक्ष प्रचारं पुरुष द्रव्य प्रकृति व्यसनप्रतीकार मेधनं च राजैव करोति ···स्वामी च सम्पन्नः स्वसम्पद्भिः प्रकृतीस्संपादयति। स्वयं यच्छीलस्तच्छीलाः प्रकृतयो भवन्ति, उत्थाने प्रमादे च तदायत्तत्वात्। तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति।" कौ० अर्थ० ८।१

२. कौ० अर्थ० ६।१।

में राजा को दी जानी चाहिए। राजा के लिए आवश्यक है, कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष—इन छः शत्रुओं को परास्त कर अपनी इन्द्रियों पर पूर्णतया विजय करे। उसके समय का एक-एक क्षण काम में लगा हो। दिन में तो उसे बिलकुल भी विश्राम नहीं करना चाहिए। रात को भी उसे तीन घण्टे से अधिक सोने की आवश्यकता नहीं। रात और दिन में उसके सारे समय का पूरा कार्यक्रम चाणक्य ने दिया है। भोग-विलास, नाच-रंग आदि के लिए कोई भी समय इसमें नहीं दिया गया। चाणक्य का राजा एक राजर्षि है, जो सर्वगुणसम्पन्न आदर्श पुरुष है, जिसका एकमात्र लक्ष्य विजिगीषा है। वह सम्पूर्ण जनपदों को विजय कर अपने अधीन करने के लिए प्रयत्नशील है। चातुरंत साम्राज्य की कल्पना को उसे कार्य-रूप में परिणत करना है। उसका मंतव्य है, कि 'सारी पृथिवी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त सीधी रेखा खींचने से जो एक हज़ार योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राजा का क्षेत्र है।'[1] हिमालय से समुद्र तक फैली हुई एक हज़ार योजन विस्तीर्ण जो यह भारत भूमि (देश) है, वह सब एक चक्रवर्ती राजा के अधीन होनी चाहिए। इस स्वप्न को जिस व्यक्ति को 'कूटस्थानीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्वगुणसम्पन्न न हो, राजर्षि का जीवन न व्यतीत करे, और काम-क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है। अतः कौटलीय अर्थशास्त्र के विजिगीषु राजा को पूर्ण पुरुष होकर राजर्षि का जीवन व्यतीत करते हुए अपना कार्य करना चाहिए।

मगध ने जिस प्रकार के साम्राज्य का विकास किया था, उसकी सफलता के लिए अवश्य ही राजा को अनुपम शक्तिशाली और गुणसम्पन्न होना चाहिये था। निःसन्देह, मागध-साम्राज्य के शासन में राजा ही 'कूटस्थानीय' होता था। यही कारण है, कि यदि कोई राजा निर्बल या अयोग्य हुआ, तो उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े होते थे, और साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगती थी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य चाणक्य ने राजा के वैयक्तिक गुणों पर अत्यधिक बल दिया है।

कूटस्थानीय एकराट् राजा की वैयक्तिक रक्षा इस युग में एक बहुत बड़ी समस्या होती थी। गुप्त शत्रुओं से राजा की रक्षा करने के उपायों का कौटलीय अर्थ-शास्त्र में बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। अपने शयनागार में राजमहिषी के पास जाते हुए भी राजा निश्चिन्त नहीं हो सकता था। शय्या के नीचे कोई शत्रु तो नहीं छिपा है, कहीं रानी ने ही अपने केशों में या वस्त्रों में कोई अस्त्र या विष तो नहीं छिपा लिया है, इन सब बातों को भलीभाँति ध्यान में रखा जाता था।[2]

१. "देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरम् उदीचीनं योजन सहस्र परिमाण मतिर्यक् चक्रवर्ति-क्षेत्रम्।" कौ० अर्थ० ९।१।

२. कौ० अर्थ० १।८।

(४) मन्त्रिपरिषद्

आचार्य चाणक्य के अनुसार राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सामने हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बताएँ, वह परोक्ष है। किये हुए कर्म से बिना किये का अन्दाज करना अनुमेय कहलाता है। सब काम एक साथ नहीं होते। राजकर्म बहुत-से होते हैं, और बहुत-से स्थानों पर होते हैं। अतः एक राजा सारे राजकर्म अपने-आप नहीं कर सकता। इसलिए उसे अमात्यों की नियुक्ति करने की आवश्यकता होती है। इसीलिए यह भी आवश्यक है, कि मन्त्री नियत किये जायँ, जो परोक्ष और अनुमेय राजकर्मों के सम्बन्ध में राजा को परामर्श देते रहें।[1] राज्यकार्य सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। एक पहिये से राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती, इसलिए राजा सचिवों की नियुक्ति करे, और उनकी सम्मति को सुने।[2] अच्छी बड़ी मन्त्रीपरिषद् को रखना राजा के अपने लाभ के लिये है, इससे उसकी अपनी 'मन्त्रशक्ति' बढ़ती है। परिषद् में कितने मन्त्री हों, इस विषय में विविध आचार्यों के विविध मत थे। मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि सम्प्रदायों के मत में मन्त्रिपरिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मन्त्री होने चाहिएँ। पर चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था कि जितनी सामर्थ्य हो, जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मन्त्री परिषद् में रख लिये जायँ।[3]

मन्त्रिपरिषद् का कार्य सर्वथा गुप्त हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था। चाणक्य के अनुसार इसके लिये ऐसा स्थान चुनना चाहिये, जहाँ पक्षियों तक की भी दृष्टि न पड़े, जहाँ से कोई भी बात बाहर का आदमी न सुन सके। सुनते हैं, कि शुक, सारिका, कुत्ते आदि जीव-जन्तुओं तक से मन्त्र का भेद खुल गया। इसलिए मन्त्ररक्षा का पूरा प्रबन्ध किये बिना इस कार्य में कभी प्रवृत्त न हो। यदि कोई मन्त्र का भेद खोले, तो उसे जान से मार दिया जाय।[4]

अत्यधिक गुप्त बातों पर राजा मन्त्रिपरिषद् में सलाह नहीं करते थे। वे एक-एक मन्त्री से अलग-अलग परामर्श करते थे, और इस सम्बन्ध में चाणक्य का यह

१. 'प्रत्यक्ष परोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः। स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम्, परोपदिष्टं परोक्षम्। कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम्। अयौगपद्यात्तु कर्मणा मनेकत्वादनेक स्थानत्वाच्च देशकालात्ययो मा भूत् इति परोक्षममात्यैः कारयेत्।' कौ० अर्थ० १।५

२. "सहाय साध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तमात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥" कौ० अर्थ० १।४

३. 'सर्वमुपपन्नमिति कौटल्यः कार्यसामर्थ्याद्धि
पुरुष सामर्थ्यं कल्प्यते।' कौ० अर्थ० १।५
'यथा सामर्थ्य मिति' कौटल्यः' कौ० अर्थ० १।११

४. 'मन्त्रपूर्वास्सर्वारम्भाः। तदुद्देशः संवृतः कथानामनिस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यस्यात्...उच्छिद्येत मन्त्रभेदी।' कौ० अर्थ० १।११

आदेश था, कि जिस बात पर सलाह लेनी हो, उससे उलटी बात इशारे से पूछी जाय, ताकि किसी मन्त्री को यह न मालूम पड़े कि राजा के मन में क्या योजना है, और वह वस्तुतः किस बात पर सलाह लेना चाहता है।

बड़ी मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उपसमिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार खास मन्त्री रहते थे। इसे 'मन्त्रिणः' कहा जाता था। जरूरी मामलों पर इसकी सलाह ली जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मन्त्रिणः' और 'मन्त्रिपरिषद्' के परामर्श से ही राज्यकार्य का संचालन करता था। वह भलीभाँति समझता था, कि मन्त्रसिद्धि अकेले कभी नहीं हो सकती। जो बात मालूम नहीं है, उसे मालूम करना जो मालूम है, उसका निश्चय करना; जिस बात में दुविधा है, उसके संशय को नष्ट करना; और जो बात केवल आंशिक रूप से मालूम है, उसे पूर्णांश में जानना, यह सब कुछ मन्त्रिपरिषद् के मन्त्र द्वारा ही हो सकता है। अतः जो लोग बुद्धिवृद्ध हों, उन्हें सचिव या मन्त्री बनाकर उनसे सलाह लेनी चाहिए। मन्त्रिपरिषद् में जो बात भूयिष्ठ (अधिक संख्या के) कहें, उसी के अनुसार कार्य करना उचित है। पर यदि राजा को भूयिष्ठ की बात 'कार्यसिद्धिकर' प्रतीत न हो, तो उसे उचित है, कि वह उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि में कार्यसिद्धिकर हो।[1] जो मन्त्री उपस्थित न हों, उनकी सम्मति पत्र द्वारा भी ली जाय। मन्त्रिपरिषद् में केवल ऐसे ही व्यक्तियों को नियत किया जाय, जो 'सर्वोपधाशुद्ध' हों, अर्थात् सब प्रकार से परीक्षा करके जिनके विषय में यह निश्चय हो जाय, कि वे सब प्रकार के दोषों व निर्बलताओं से विरहित हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में राज्यकार्य में परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद् की सत्ता थी। अशोक के शिलालेखों में जिसे 'परिषा' कहा गया है, वही कौटलीय अर्थशास्त्र की मन्त्रिपरिषद् है। पर इस परिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी, और न इसके कोई कुलक्रमानुगत सदस्य ही होते थे। परिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था। जिन अमात्यों व अन्य व्यक्तियों को वह 'सर्वोपधाशुद्ध' पाता था, उनमें से कुछ को आवश्यकतानुसार मन्त्रिपरिषद् में नियुक्त कर लेता था।[2] राजा प्रायः मन्त्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करता था, पर यदि वह उनके मत को कार्यसिद्धिकर न समझे, तो अपनी इच्छानुसार भी कार्य कर सकता था। मागध-साम्राज्य में केन्द्रीभूत कूटस्थानीय स्थिति राजा की ही थी। देश और प्रजा की उन्नति या अवनति उसी के हाथ में थी, अतः उसके मार्ग में मन्त्रिपरिषद् बाधा नहीं डाल सकती थी। पर यदि राजा

१. 'आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्। तत्र यत्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्।' कौ० अर्थ० १।११

२. कौ० अ० १।६

कुपथगामी हो जाय, राज्यकार्य की सर्वथा उपेक्षा कर ऐसे कार्यों में लग जाय, जिनसे प्रजा का अहित हो, तो प्रकृतियों (मन्त्रियों और अमात्यों) को यह अधिकार अवश्य था, कि वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हों और उसे बलात् ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। भारत की यह प्राचीन परम्परा थी। पुराने जनपदों में सभा, समिति या पौर-जानपद राजा को सन्मार्ग पर स्थिर रखने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। मागध-साम्राज्य की मन्त्रिपरिषद् यद्यपि राजा की अपनी कृति थी, तथापि वह प्राचीन परिपाटी के अनुसार राजा को सुपथ पर लाने के कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करती थी।

राज्य के शासन में मन्त्री व अमात्य राजा की स्वेच्छाचारिता को किस प्रकार नियन्त्रित कर सकते थे, इस सम्बन्ध में दिव्यावदान की एक कथा उल्लेखनीय है।

"जब राजा अशोक को बौद्ध धर्म में श्रद्धा उत्पन्न हुई, तो उसने भिक्षुओं से पूछा—'भगवान् के लिए सबसे अधिक धन किसने दिया है?' भिक्षुओं ने कहा—'गृहपति अनाथ पिण्डक ने।' 'भगवान् के लिए उसने कितना धन दान किया था?' 'सौ करोड़'। यह सुनकर राजा सोचने लगे—अनाथ पिण्डक ने गृहपति होकर सौ करोड़ दान किया है, अतः मैं भी अवश्य ही इतना दान करूँगा।"

अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए अशोक ने बहुत यत्न किया। हजारों स्तूप, विहार आदि बनवाये। इस प्रकार धीरे-धीरे अशोक ने नब्बे करोड़ तो भगवान् के नाम पर भिक्षुओं, विहारों और संघ को दान कर दिया। परन्तु दस करोड़ शेष बच गया। राजा इस राशि को सरलता से नहीं दे सका। अतः उसे बहुत कष्ट हुआ। राजा को शोकातुर देखकर प्रधानामात्य राधागुप्त ने पूछा—'प्रबल शत्रु-संघ चारों ओर से घेरकर भी चण्ड सूर्य के समान देदीप्यमान जिस मुख को नहीं देख सके और जिसकी शोभा के सम्मुख सैकड़ों कमल भी लजाते हैं, हे देव! वह तुम्हारा मुख सवाष्प क्यों है? राजा ने कहा—राधागुप्त! न मुझे धन के विनाश की चिन्ता है, न राज्य के नाश का विचार है, और न किसी आश्रय से ही मेरा वियोग हुआ है। मुझे सोच केवल इस बात का है कि पूज्य भिक्षुओं से मुझे बिछुड़ना पड़ रहा है। मैंने प्रतिज्ञा की थी कि भगवान् बुद्ध के लिए सौ करोड़ का दान करूँगा, पर मेरा यह मनोरथ पूरा नहीं हुआ।'

अब अशोक ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए राज्यकोष से शेष धन को दान करने का निश्चय किया। पर इसमें वह सफल नहीं हो सका, क्योंकि उस समय में कुणाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) सम्पदि युवराज के पद पर था। उसे अमात्यों ने कहा—कुमार! राजा अशोक अब थोड़े ही समय तक और रहेगा। यह धन कुर्कुटाराम नामक विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित होती है। उसे रोक दो।[1] कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष से धन देने

१. तस्मिन्श्च समये कुनालस्य सम्पदिनाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्तते। तस्यामात्यैरभिहितम्। कुमार, अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी, इदं च द्रव्यं कुकुंटारामं प्रेष्यते, कोषबलिनश्च राजानो, निवारयितव्यः। यावत् कुमारेण भाण्डागारिकः प्रतिषिद्धः।" दिव्यावदान, पृ० ४२९-४३०

का निषेध कर दिया।

पहले राजा अशोक सुवर्ण पात्र में रखकर भिक्षुओं को भोजन भेजा करता था। पर इसके लिए उसे मना कर दिया गया। फिर उसने चाँदी के पात्रों में भोजन भेजना चाहा, पर इसे भी रोक दिया गया। फिर उसने लोहे के पात्र में भोजन भेजना चाहा, पर इसकी अनुमति भी उसे नहीं दी गई। अन्त में मिट्टी के पात्र में उसने भोजन भेजना चाहा, पर ऐसा करने से भी उसे रोक दिया गया। अन्त में उसके पास केवल आधा आँवला बच गया, जो कि उस समय उसके हाथ में था। संविग्न होकर अशोक ने अमात्यों और पौरों को बुलाकर पूछा—'इस समय पृथ्वी (देश का राज्य) का स्वामी कौन है?' अमात्य ने उठकर और यथोचित रीति से राजा का अभिवादन करके कहा—'देव ही राज्य के स्वामी हैं।' इस पर आँसुओं से अपने मुख को गीला करते हुए अशोक ने कहा—'तुम केवल दाक्षिण्य से झूठ क्यों बोलते हो? मैं तो राज्य से भ्रष्ट हो गया हूँ। मेरे पास तो केवल यह आधा आँवला बचा है, जिस पर मेरा स्वामित्व है। ऐसे ऐश्वर्य को धिक्कार है।' इसके बाद अशोक ने उस आधे आँवले को कुर्कुटाराम भेजते हुए कहलवाया—'त्यागशूर मौर्यकुञ्जर जो राजा अशोक था, वह सारे जम्बूद्वीप का स्वामी होकर अब केवल इस आधे आँवले का ही स्वामी रह गया है। भृत्यों ने उसके अधिकार को छीन लिया है। अब वह केवल इस आधे आँवले को ही दान में दे सकता है।'[1]

मन्त्रिपरिषद् के अमात्य राजा की स्वेच्छाचारिता पर पर्याप्त नियन्त्रण रख सकते थे, यह बात दिव्यावदान की इस कथा से भलीभाँति सूचित होती है। जिन आमात्यों ने राधागुप्त के नेतृत्व में अशोक की स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित किया था, सम्भवतः वे मन्त्रिपरिषद् के ही सदस्य थे, जो 'कूटस्थानीय' राजा पर भी अंकुश रखने की शक्ति रखते थे। पर यह कार्य उन्होंने युवराज का साहाय्य लेकर ही किया था, क्योंकि राजा के समान युवराज की स्थिति भी राज्य में प्रधान थी।

(५) जनता का शासन

पर यदि मागध-साम्राज्य के शासन में 'कूटस्थानीय' राजा का इतना महत्त्व-

[1] "अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च संनिपात्य कथयति। कः साम्प्रतं पृथिव्यां ईश्वरः। ततोऽमात्य उत्थायासनाद् येन राजाशोकस्तेनाञ्जलिं प्रणम्योवाच—देवः पृथिव्यां ईश्वरः। अथ राजाशोकः साश्रु दुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच—
दाक्षिण्यादनृतं हि किं कथयथ भ्रष्टाधिराज्या वयम्।
शेषं त्वामलकार्धमित्यवसितं यत्र प्रभुत्वं मम॥
त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ अशोको मौर्यकुञ्जरः।
जम्बूद्वीपेश्वरो भूत्वा जातोऽर्धमलकेश्वरः॥
भृत्यैः सभूमिपतिरद्य हृताधिकारो दानं प्रयच्छति किलामलकार्धमेतद्।" दिव्यावदान ४३१-४३२।

पूर्ण स्थान था, और उसकी मंत्रिपरिषद् उसकी अपनी नियत की हुई सभा होती थी, तो क्या मागध-राजाओं का शासन सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था ? क्या उस समय की जनता शासन में जरा भी हाथ नहीं रखती थीं ? यह ठीक है, कि अपने बाहुबल और सैन्य-शक्ति से विशाल साम्राज्य का निर्माण करनेवाले मागध-सम्राटों पर अंकुश रखनेवाली कोई अन्य सर्वोच्च सत्ता नहीं थी, और ये राजा ठीक प्रकार से प्रजा का पालन करें, इस बात की प्रेरणा करनेवाली शक्ति उनकी अपनी योग्यता, अपनी महानुभावता और अपनी सर्वगुणसंपन्नता के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं थी, पर मागध-साम्राज्य के शासन में जनता का बहुत बड़ा हाथ था। मागध-साम्राज्य ने जिन विविध जनपदों को अपने अधीन किया था, उनके व्यवहार, धर्म और चरित्र अभी अक्षुण्ण थे। वे अपना शासन बहुत कुछ स्वयं ही करते थे। उस युग के शिल्पी और व्यवसायी जिन श्रेणियों में संगठित थे, वे अपना शासन स्वयं करती थीं। नगरों की पौरसभाएँ, व्यापारियों के पूग और निगम, तथा ग्रामों की ग्रामसभाएँ अपने आन्तरिक मामलों में अब भी पूर्ण स्वतन्त्र थीं। राजा लोग देश के प्राचीन परम्परागत राजधर्म का पालन करते थे, और अपने 'व्यवहार' का निश्चय उसी के अनुसार करते थे। यह धर्म और व्यवहार सनातन थे, राजा की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं थे। इन्हीं सबका परिणाम था, कि पाटलिपुत्र में विजगीषु राजर्षि राजाओं के रहते हुए भी जनता अपना शासन अपने आप किया करती थी। इन सब बातों पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

जनपदों का शासन—मगध के साम्राज्यवाद ने धीरे-धीरे भारत के सभी पुराने जनपदों को अपने अधीन कर लिया था। पर इन जनपदों की पहले अपनी सभायें होती थीं, जिन्हें पौर जानपद कहते थे। जनपद की राजधानी या पुर की सभा को 'पौर' और शेष प्रदेश की सभा को 'जानपद' कहा जाता था। प्रत्येक जनपद के अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र भी होते थे। मगध के सम्राटों ने इन विविध जनपदों को जीतकर इनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता को कायम रखा। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक प्रकरण है, जिसका नाम 'लब्धप्रशमनम्' है।[1] इसमें यह निरूपित किया गया है, कि नये जीते हुए प्रदेश के साथ क्या व्यवहार किया जाय और उसमें किस प्रकार शान्ति स्थापित की जाय। इसके अनुसार नये जीते हुए प्रदेश में राजा को चाहिये कि अपने को जनता का प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। जनता के विरुद्ध आचरण करनेवाले का विश्वास नहीं जम सकता, अतः राजा उनके समान ही अपना शील, वेश, भाषा और आचार बना ले। देश के देवताओं, समाजों, उत्सवों और विहारों का आदर करे, और उनके धर्म, व्यवहार आदि का उल्लंघन न करे।

सब जनपदों के प्रति एक-सा बरताव नहीं किया जाता था, पुराने गण-

१. कौ० अर्थ० १३।५

राज्य मगध के साम्राज्यविस्तार के मार्ग में घोर रुकावट थे। आचार्य चाणक्य की इसके सम्बन्ध में नीति यह थी, कि इनका दमन करके 'एकराज' की स्थापना की जाय। संघों या गणराज्यों को वश में करने के लिए चाणक्य ने साम, दान, दण्ड, भेद—सब प्रकार के उपायों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इन उपायों में से बहुत से ऐसे भी हैं, जिन्हें नैतिक दृष्टि से शायद उचित न समझा जाय। शराब, द्यूत, फूट आदि सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करके संघराज्यों का सर्वथा अन्त कर दिया जाय, यही चाणक्य को अभिप्रेत था। पुराने वज्जि, शाक्य आदि गणों ने बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के मार्ग में जिस प्रकार रुकावटें उपस्थित की थीं, उसी को दृष्टि में रखते हुए चाणक्य को गणराज्यों की सत्ता स्वीकार्य नहीं थी, और उसने उनके सम्बन्ध में 'एकराज' नीति का उपदेश किया था। पर इस प्रकार जिन संघों को नष्ट किया जाता था, उनमें भी उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र का आदर किया जाता था, जिसके कारण उनमें अपने पृथक् होने की अनुभूति विद्यमान रहती थी। साथ ही, मगध के सम्राट् गणों वा संघों का कभी पूर्णतया विनाश नहीं कर सके, संघात या अभिसंहत संघ साम्राज्य-काल में भी कायम रहे। और उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये फिर से स्वतन्त्र हो गये।

जनपदों का शासन करने के लिए सम्राट् की तरफ से समाहर्त्ता नामक राजपुरुष की नियुक्ति की जाती थी। पर यह जनपद के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। स्वशासन की दृष्टि से सब जनपदों की स्थिति एक समान नहीं थी। मौर्यों से पहले भी अवन्ति, कोशल, वत्स आदि के राजाओं ने बहुत-से जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। शैशुनाग, नन्द आदि मागध-राजा भी अपने साम्राज्य का बहुत कुछ विस्तार करने में सफल हुए थे। इनमें से अनेक राजा 'अधार्मिक' भी थे, और उन्होंने प्राचीन आर्य-मर्यादा के विपरीत अपने जीते हुए जनपदों की आन्तरिक स्वतन्त्रता का भी विनाश किया था। जो जनपद देर से मागध-साम्राज्य के अधीन थे, उनकी अपेक्षा नये जीते हुए जनपदों की पृथक् सत्ता अधिक सुरक्षित थी।

नगरों का शासन—मौर्यकाल में नगरों में स्थानीय स्वशासन की क्या दशा थी, इसका सबसे अच्छा परिचय मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण से मिलता है। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगरशासन का विस्तार से वर्णन किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगरसभा छः उपसमितियों में विभक्त थी। प्रत्येक उपसमिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नलिखित थे।

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना था। मजदूरी की दर निश्चित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल काम में लाते हैं, और मजदूरों के कार्य का समय तय करना इसी उपसमिति का कार्य था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में शिल्पी

लोगों का समाज में बड़ा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा में नियुक्त माना जाता था। यही कारण है, कि यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे, जिससे कि उसके हस्तकौशल में न्यूनता आ जाए, तो उसके लिये मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियों का सत्कार करना था। इस समय जो काम विदेशों के दूतमण्डल करते है, उनमें से अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। जो विदेशी पाटलिपुत्र में आयें उन पर यह उपसमिति निगाह रखती थी। साथ ही, विदेशियों के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इस उपसमिति के सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र में मृत्यु हो जाय, तो उसके देश के रिवाज के अनुसार उसे दफनाने का प्रबन्ध भी इसी की तरफ से होता था। मृत परदेसी की जायदाद व सम्पत्ति का प्रबन्ध भी यही उप-समिति करती थी।

तीसरी उपसमिति का काम मर्दुमशुमारी करना होता था। मृत्यु और जन्म की सूची रखना इसी उपसमिति का कार्य था। कर लगाने के लिए यह सूची बड़ी उपयोगी होती थी।

चौथी उपसमिति क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। भार और माप के परिमाणों को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ और सही-सही उपयोग करते हैं, इसका निरीक्षण करना इस उपसमिति का कार्य था। व्यापारी लोग जब किसी खास वस्तु को बेचने की अनुमति प्राप्त करना चाहते थे, तो इसी उपसमिति के पास आवेदन-पत्र भेजते थे। ऐसी अनुमति देते समय यह उप-समिति अतिरिक्त-कर भी वसूल करती थी।

पाँचवीं उपसमिति व्यापारियों पर इस बात के लिए कड़ा निरीक्षण रखती थी, कि वे लोग नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नहीं बेचते। नई और पुरानी चीजों को मिलाकर बेचना नियम के विरुद्ध था। इसको भङ्ग करने पर सजा दी जाती थी। यह नियम इसलिए बनाया गया था, क्योंकि पुरानी वस्तुओं का बाजार में बेचना कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर सर्वथा निषिद्ध था।

छठी उपसमिति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना होता था। उस समय में यह नियम था, कि जो कोई वस्तु जिस कीमत पर बेची जाय, उसका दसवाँ भाग कर-रूप में नगर-सभा को दिया जाय। इस कर को न देने से कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

इस प्रकार छः उपसमितियों के पृथक्-पृथक् कार्यों का उल्लेख कर मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "ये कार्य हैं, जो उपसमितियाँ पृथक् रूप से करती हैं। पर सामूहिक रूप में जहाँ उपसमितियों को अपने-अपने विशेष कार्यों का खयाल करना होता

है, वहाँ वे सब मिलकर सार्वजनिक या सार्वसाधारण हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं; यथा सार्वजनिक इमारतों को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत का खयाल रखना, कीमतों को नियन्त्रित करना, बाजार, बन्दरगाह और मन्दिरों पर ध्यान देना।"[१]

मैगस्थनीज के इस विवरण से स्पष्ट है, कि मौर्य चन्द्रगुप्त के शासन में पाटलिपुत्र का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथ में था। सम्भवतः, यही प्राचीन पौरसभा थी। इस प्रकार की पौरसभायें तक्षशिला, उज्जैनी आदि अन्य नगरियों में भी विद्यमान थीं। जब उत्तरापथ के विद्रोह को शान्त करने के लिए कुमार कुनाल तक्षशिला गया था, तो वहाँ के 'पौर' ने उसका स्वागत किया था। अशोक के शिलालेखों में भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे सूचित होता है, कि उस समय के बड़े नगरों में पौरसभायें विद्यमान थीं। जिस प्रकार मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदों में अपने परम्परागत धर्म, व्यवहार और चरित्र विद्यमान थे, उसी प्रकार पुरों व नगरों में भी थे। यही कारण है, कि नगरों के निवासी अपने नगरों के शासन में पर्याप्त अधिकार रखते थे।

मैगस्थनीज का यह विवरण पाटलिपुत्र सदृश नगरों के उस स्वायत्त-शासन को सूचित करता है, जो उनमें परम्परागत रूप से विद्यमान था। पर मौर्य साम्राज्य जैसे विशाल साम्राज्य के विकसित हो जाने पर यह भी आवश्यक था, कि सम्राट् की ओर से भी नगरों के सुशासन की व्यवस्था की जाय। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार नगर के शासक को 'नागरक' कहते थे। नगर के शासन में इसकी वही स्थिति थी, जो कि जनपद के शासन में समाहर्ता की थी। शासन की सुविधा के लिए नगर को भी अनेक उपविभागों में विभक्त किया जाता था, जिनके शासक क्रमशः स्थानिक और गोप कहाते थे। स्थानिक प्रायः नगर के चौथे भाग का शासक होता था, और गोप दस, बीस या चालीस परिवारों के छोटे उपविभाग का।[२]

सम्राट् या केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किए गए नगर के ये शासक—नागरक, स्थानिक, और गोप अपने-अपने क्षेत्र के सुशासन के लिए उत्तरदायी थे, और इनके कार्यों का कुछ परिचय अर्थशास्त्र के 'नागरिक प्रणिधिः' प्रकरण में मिलता है, जिसमें नगर की सफाई, अपरिचित यात्रियों पर नियन्त्रण, अग्नि से मकानों की रक्षा, भोजन की शुद्ध रूप में प्राप्ति आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी व्यवस्थाएँ दी गई हैं।

सम्भवतः, मैगस्थनीज द्वारा वर्णित नगर-सभा नागरक के कर्मचारियों से स्वतन्त्र होकर ही अपने कार्यों को सम्पादित करती थी।

१. McCrindle : fragm. xxxIV.

२. "समाहर्तृवन्नागरको नगरं चिन्तयेत्। दशकुलीं गोपो, विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा।' एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत्।"
कौ० अर्थ० २।३६

ग्रामों का शासन—जनपदों में बहुत-से ग्राम सम्मिलित होते थे, और प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमें इन ग्राम-संस्थाओं के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। प्रत्येक ग्राम का शासक पृथक्-पृथक् होता था, जिसे ग्रामिक कहते थे। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्ड देता था, और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था।[1] ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा किए जाते थे, वे इसी निधि में जमा होते थे।[2] ग्राम की तरफ से सार्वजनिक हित के अनेक कार्यों की व्यवस्था होती थी। लोगों के मनोरंजन के लिए विविध तमाशों (प्रेक्षाओं) की व्यवस्था की जाती थी, जिसमें सब ग्रामवासियों को हिस्सा बटाना होता था।[3] जो लोग अपने सार्वजनिक कर्तव्य की उपेक्षा करते थे, उन पर जुर्माना किया जाता था।[4] इससे यह सूचित होता है कि ग्राम का अपना एक पृथक् संगठन भी उस युग में विद्यमान था। यह ग्रामसंस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्रामसभाओं में बनाए गए नियम साम्राज्य के न्यायालयों में मान्य होते थे। 'अक्षपटल के अध्यक्ष' के कामों में एक यह भी था, कि वह ग्रामसंघ के धर्म, व्यवहार, चरित्र, संस्थान आदि को निबन्धपुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) करे।[5]

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि मौर्य साम्राज्य के ग्रामों में स्वायत्त संस्थाओं की सत्ता थी। इस संस्था को 'ग्राम-संघ' कहते थे, और इसी के धर्म, व्यवहार, चरित्र आदि को अक्षपटलाध्यक्ष द्वारा निबन्ध-पुस्तकस्थ किया जाता था। इस ग्रामसंघ के सदस्यों को 'ग्रामवृद्ध' कहा जाता था।[6] सम्भवतः, ग्राम में निवास करने वाले सब कुलों व परिवारों के मुखियाओं (वृद्धों) द्वारा ही ग्रामसंघ का निर्माण होता था। ये ग्रामवृद्ध जहाँ अपराधियों

१. "ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तं उपवासाः पर्यायेणानुगच्छेयुरननुगच्छन्तः पणार्ध पणिकं योजनं दद्युः। ग्रामिकस्य ग्रामादस्तेनपारदारं निरस्यतश्चतुर्विंशतपणो दण्डः।"
कौ० अर्थ० ३।१०

२. "कर्षकस्य ग्राममभ्युपेत्याकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्।"
कौ० अर्थ० ३।१०

३. "प्रेक्षायामनंशदः स्वस्वजनो न प्रेक्षेत। प्रच्छन्नश्रवणेक्षणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमंशं दद्यात्।"
कौ० अर्थ० ३।१०

४. "सर्वं हितमेकस्य ब्रुवतः कुर्युराज्ञाम्। अकरणे द्वादशपणो दण्डः। तं चेत्सम्भूय वा हन्युः, पृथगेषामपराधद्विगुणो दण्डः।"
कौ० अर्थ० ३।१०

५. "देशग्रामजातिकुलसंघानां धर्मव्यवहार चरित्रसंस्थानं निबन्ध पुस्तकस्थं कारयेत्।"
कौ० अर्थ० २।७

६. कौ० अर्थ० २।१

को दण्ड देते थे, उनसे जुरमाने वसूल करते थे, ग्राम विषयक सार्वजनिक हित के कार्यों का सम्पादन करते थे, और लोगों के मनोरंजन की व्यवस्था करते थे, वहां ग्राम की शोभा को कायम रखना[1] और नाबालिगों की सम्पत्ति का इन्तजाम करने का भी कार्य करते थे। ग्राम में विद्यमान मन्दिरों व अन्य देवस्थानों की सम्पत्ति का प्रबन्ध भी इन्हीं के हाथ में था।[2] ये अपने क्षेत्र में सड़क व पुल आदि बनवाने का भी कार्य करते थे।[3]

इस ग्रामसंघ या ग्रामसंस्था का मुखिया जहाँ ग्रामिक कहाता था, वहाँ केन्द्रीय सरकार की ओर से भी ग्राम के शासन के लिए एक कर्मचारी नियत किया जाता था, जिसे 'गोप' कहते थे।[4] ग्राम के शासन में गोप की वही स्थिति थी, जो नगर के शासन में नागरक की थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से गोप के मुख्य कार्य निम्नलिखित थे—ग्रामों की सीमाओं को निर्धारित करना, जनगणना करना व भूमि का विभाग करना। केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त गोप की सत्ता के रहते हुए भी ग्रामिक और ग्रामसंघ का ग्राम के शासन में बहुत महत्त्व था।

भारत की इन्हीं ग्रामसंस्थाओं के कारण यहाँ के निवासियों की वास्तविक स्वतन्त्रता सदा सुरक्षित रही है। इस देश की सर्वसाधारण जनता का बड़ा भाग सदा से ग्रामों में बसता रहा है। ग्राम के लोग अपने सुख व हित की अपने संघ में स्वयं व्यवस्था करते थे, अपने लिए स्वयं नियम बनाते थे, और अपने मनोरंजन का भी स्वयं ही प्रबन्ध करते थे। इस दशा में साम्राज्य के अधिपति की निरंकुशता या एक सत्ता का उन पर विशेष असर नहीं होता था।

व्यवसायियों की श्रेणियाँ—मौर्यकाल के व्यवसायी और शिल्पी श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे। ये श्रेणियाँ अपने नियम स्वयं बनाती थीं, और अपने संघ में सम्मिलित शिल्पियों के जीवन व कार्य पर पूरा नियन्त्रण रखती थीं। इनके नियम, व्यवहार और चरित्र आदि को भी राजा की तरफ से स्वीकृत किया जाता था। व्यवासियों की श्रेणियों पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे।

(६) केन्द्रीय शासन का संगठन

कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मौर्य-साम्राज्य के केन्द्रीय संगठन के सम्बन्ध

---

१. "ग्रामशोभाश्च रक्षा च तेषां प्रियहितं चरेत्।"
कौ० अर्थ० ३।१०

२. "बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुरा व्यवहार प्रापणात्। देवद्रव्यं च।" कौ० अर्थ० २।१

३. "राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि संक्रमात्।"
कौ० अर्थ० ३।१०

४. कौ० अर्थ० २।३५

में भली भाँति परिचय मिलता है। इस काल में शासन के विविध महकमे 'तीर्थ' कहलाते थे। इनकी संख्या अठारह होती थी।[१] प्रत्येक तीर्थ एक महामात्य के अधीन रहता था। इन अठारह महामात्यों और उनके विविध कार्यों का संक्षेप से उल्लेख करना अत्यन्त उपयोगी है :—

१. मन्त्री और पुरोहित—ये दो अलग-अलग पद थे, पर सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आचार्य चाणक्य मन्त्री और पुरोहित दोनों पदों पर विद्यमान थे। बाद में राधागुप्त जैसे प्रतापी अमात्य भी सम्भवतः मन्त्री और पुरोहित दोनों पदों पर रहे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन दोनों पदों का उल्लेख प्रायः साथ-साथ आया है। राजा इन्हीं के साथ मिलकर अन्य राजकर्मचारियों के शौचाशौच की परीक्षा लेता था,[२] प्रजा की सम्मति जानने के लिए गुप्तचरों को नियत करता था,[३] विदेशों में राजदूतों की नियुक्ति और परराष्ट्र-नीति का संचालन करता था।[४] शिक्षा का कार्य भी इन्हीं के अधीन रहता था। राज्य के अन्य विभागों पर भी मन्त्री और पुरोहित का निरीक्षण रहता था। राजा इन्हीं के परामर्श से अपने राज्यकार्य का संचालन करता था। मौर्य-साम्राज्य के शासन में पुरोहित का इतना अधिक महत्त्व था, कि चाणक्य के अनुसार राजा को पुरोहित का उस ढंग से अनुसरण करना चाहिए जैसे शिष्य गुरु का, पुत्र पिता का या भृत्य स्वामी का करता है।[५] पुरोहित द्वारा बढ़ाया हुआ और मन्त्री द्वारा परामर्श प्रदान करने से क्षत्र (राजा) स्वयं अजित रह-कर दूसरों को विजय करने में समर्थ होता है।[६]

२. समाहर्त्ता—विविध जनपदों के शासन के लिए नियुक्त राजपुरुषों को जहाँ समाहर्त्ता कहते थे, वहाँ सब जनपदों के शासन का संचालन करने वाला विभाग (तीर्थ) भी 'समाहर्त्ता' नामक अमात्य के अधीन था।[७] राजकीय करों का एकत्र करना इस विभाग का सर्वप्रधान कार्य था। समाहर्त्ता के अधीन अनेक 'अध्यक्ष' होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्रित करते थे, और व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन करते थे। ऐसे कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित हैं—

(क) शुल्काध्यक्ष[८]—विविध प्रकार के व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले अनेक-

१. कौ० अर्थ० १।८
२. कौ० अर्थ० १।१०
३. कौ० अर्थ० १।११
४. कौ० अर्थ० १।१४
५. 'तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत।' कौ० अर्थ० १।१०
६. 'ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगम शस्त्रितम्॥' कौ० अर्थ० १।१०
७. कौ० अर्थ० २।१
८. कौ० अर्थ० २।२१

विध शुल्कों (करों) को एकत्र करना इसका कार्य था।

(ख) पौतवाध्यक्ष[1]—तौल और माप के परिमाणों पर नियन्त्रण रखने वाले राजपुरुषों को पौतवाध्यक्ष कहते थे। इन परिमाणों को ठीक न रखने पर जुरमाना किया जाता था।

(ग) मानाध्यक्ष[2]—देश और काल को मापने के विविध साधनों का नियन्त्रण राज्य के अधीन था। यह कार्य मानाध्यक्ष के अधिकार में होता था।

(घ) सूत्राध्यक्ष[3]—राज्य की तरफ से अनेक व्यवसाय चलाये जाते थे। विधवा, विकलांग मनुष्य, अनाथ लड़की, भिखारी, राज्य के कैदी, वेश्याओं की वृद्ध माताएँ, वृद्ध राजदासी, देवदासी आदि के पालन-पोषण के लिए राज्य की ओर से उन्हें काम दिया जाता था। इन कार्यों में सूत कातना, कवच बनाना, कपड़ा बुनना और रस्सी बनाना मुख्य थे। ये सब कार्य सूत्राध्यक्ष के हाथ में होते थे।

(ङ) सीताध्यक्ष[4]—कृषि विभाग के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते थे। वह न केवल देश में कृषि की उन्नति पर ही ध्यान देता था, अपितु राजकीय भूमि पर दास, मजदूर आदि से खेती भी करवाता था।

(च) सुराध्यक्ष[5]—शराब का निर्माण तथा प्रयोग राज्य द्वारा नियन्त्रित था। सुराध्यक्ष शराब बनवाता था, उसे बिकवाने का प्रबन्ध करता था, तथा उसके प्रयोग का नियन्त्रण करता था।

(छ) सूनाध्यक्ष[6]—इसका कार्य बूचड़खानों का नियन्त्रण करना था। बूचड़-खानों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के नियम होते थे। अनेकविध पशुओं और पक्षियों की हत्या निषिद्ध थी। सूनाध्यक्ष न केवल देश के विविध बूचड़खानों का नियन्त्रण करता था, अपितु राजकीय सूना का सब प्रबन्ध भी करता था।

(ज) गणिकाध्यक्ष[7]—मौर्यकाल में वेश्याओं का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से भी किया जाता था। संघ, सामन्त आदि को वश में लाने के लिए गणिकाएँ प्रयुक्त की जाती थीं। अतः बहुत-सी वेश्याएँ राज्य की ओर से भी नियत होती थीं। राजा के स्नान, मर्दन, छत्रधारण, शिविका, पीठिका, रथ पर साथ चलने आदि के लिए भी राज्य की ओर से वेश्याओं को रखा जाता था। यह सब विभाग गणिकाध्यक्ष के अधीन था। स्वतन्त्र वेश्याओं का सम्पूर्ण प्रबन्ध तथा निरीक्षण भी इसी विभाग

१. कौ० अर्थ० २।१९
२. कौ० अर्थ० २।२०
३. कौ० अर्थ० २।२३
४. कौ० अर्थ० २।२४
५. कौ० अर्थ० २।२५
६. कौ० अर्थ० २।२६
७. कौ० अर्थ० २।२७

के कार्य थे।

(झ) मुद्राध्यक्ष[१]—देश से बाहर आने या जाने के लिए राजकीय मुद्रा प्राप्त करना आवश्यक होता था। यह कार्य मुद्राध्यक्ष के अधीन था।

(ञ) विवीताध्यक्ष[२]—गोचर भूमियों का प्रबन्ध इस विभाग का कार्य था। चोर तथा हिंसक जन्तु चरागाहों को नुकसान न पहुँचायें, यह प्रबन्ध करना; जहाँ पशुओं के पीने का जल न उपलब्ध हो, वहाँ उसका प्रबन्ध करना; और तालाब तथा कुएँ बनवाना इसी विभाग के कार्य थे। जंगल की सड़कों को ठीक रखना, व्यापारियों के माल की रक्षा करना, काफिलों को डाकुओं से बचाना तथा शत्रुओं के हमलों की सूचना राजा को देना, यह सब कार्य विवीताध्यक्ष के सुपुर्द थे।

(ट) नावध्यक्ष[३]—जलमार्गों का सब प्रबन्ध नावध्यक्ष के अधीन था। छोटी-बड़ी नदियों, समुद्रतटों तथा महासमुद्रों को पार करने वाली नौकाओं व जहाजों का यही प्रबन्ध करता था। जलमार्ग से यात्रा करने पर क्या किराया लगे, यह सब नावध्यक्ष द्वारा ही तय होता था।

(ठ) गोऽध्यक्ष[४]—राजकीय आय तथा सैनिक दृष्टि से राज्य की ओर से गौओं तथा अन्य उपयोगी पशुओं की उन्नति का विशेष प्रयत्न होता था। राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी गोशालाएं भी होती थीं। यह सब प्रबन्ध गोऽध्यक्ष के अधीन था।

(ड) अश्वाध्यक्ष[५]—सैनिक दृष्टि से उस समय घोड़ों का बड़ा महत्त्व था। उनके पालन, नसल की उन्नति आदि पर राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। घोड़ों को युद्ध के लिए तैयार करने के लिए अनेक प्रकार की कवायद कराई जाती थी। ये सब कार्य अश्वाध्यक्ष के अधीन थे।

(ढ) हस्त्यध्यक्ष[६]—यह जंगलों से हाथियों को पकड़वाने, हस्तिवनों की रक्षा करने तथा हाथियों के पालन और सैनिक दृष्टि से उन्हें तैयार करने का कार्य करता था। इसी तरह ऊँट, खच्चर, भैंस, बकरी आदि के लिए भी पृथक् उपविभाग थे।

(ण) कुप्याध्यक्ष[७]—कुप्य पदार्थों का अभिप्राय शाक, महुआ, तिल, शीशम, खैर, शिरीष, देवदार, कत्था, राल, ओषधि आदि से है। ये सब पदार्थ जंगलों में पैदा होते हैं। कुप्याध्यक्ष का कार्य यह था, कि जंगलों में उत्पन्न होने वाले विविध पदार्थों को एकत्र कराके उन्हें कारखानों में भेज दे, ताकि वहाँ कच्चे माल को तैयार माल के

१. कौ० अर्थ० २।३४
२. कौ० अर्थ० २।३३
३. कौ० अर्थ० २।२८
४. कौ० अर्थ० २।२९
५. कौ० अर्थ० २।३०
६. कौ० अर्थ० २।३१
७. कौ० अर्थ० २।१७

रूप में परिवर्तित किया जा सके। कुप्याध्यक्ष के अधीन द्रव्यपाल और वनपाल नाम के कर्मचारी होते थे, जो जंगलों से कुप्य द्रव्यों को एकत्र कराने तथा जंगलों की रक्षा का कार्य करते थे।

(त) पण्याध्यक्ष[1]—यह न केवल स्वदेशी और विदेशी व्यापार का नियंत्रण करता था, अपितु राज्य द्वारा अधिकृत व निर्मित पदार्थों को बेचने का भी प्रबन्ध करता था।

(थ) लक्षणाध्यक्ष[2]—सम्पूर्ण मुद्रापद्धति (करेंसी) इसके अधीन थी। मौर्य-युग का प्रधान सिक्का पण कहलाता था, जो चाँदी का बना होता था। पण के अतिरिक्त अर्धपण, पादपण तथा अष्टभागपण नाम के सिक्के भी होते थे।

(द) आकराध्यक्ष[3]—मौर्यकाल में आकरों (खानों) से धातुओं व अन्य बहुमूल्य पदार्थों को निकालने का कार्य बहुत उन्नत था। वह सब कार्य आकराध्यक्ष के अधीन रहता था। उसके अधीन अन्य अनेक उपाध्यक्ष होते थे, जिनमें लोहाध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, खन्यध्यक्ष और सुवर्णाध्यक्ष[4] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(ध) देवताध्यक्ष[5]—विविध देवताओं व उनके मन्दिरों का प्रबन्ध इसके अधीन रहता था।

(न) सौवर्णिक[6]—टकसाल के अध्यक्ष को सौवर्णिक कहते थे।

ये बीस अध्यक्ष समाहर्त्ता के विभाग के अधीन होते थे। समाहर्त्ता राज्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तीर्थ होता था, और जनपदों के शासन का संचालन बहुत कुछ उसी के हाथ में रहता था।

३. **सन्निधाता**—राजकीय कोष का विभाग सन्निधाता के हाथ में रहता था। राजकीय आय और व्यय का हिसाब रखना और उसके सम्बन्ध में नीति का निर्धारण करना सन्निधाता का ही कार्य था। चाणक्य ने लिखा है—सन्निधाता को सैकड़ों वर्ष की बाहरी तथा अन्दरूनी आय-व्यय का परिज्ञान होना चाहिये, जिससे कि वह बिना किसी संकोच या घबराहट के तुरन्त व्ययशेष (नेट इन्कम या सरप्लस) को बता सके।[7]

---

१. कौ० अर्थ० २।१६

२. कौ० अर्थ० २।१२

३. कौ० अर्थ० २।१२

४. कौ० अर्थ० २।१३

५. कौ० अर्थ० २।६

६. कौ० अर्थ० २।१४

७. 'बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्ष शतादपि।
यथा पृष्टो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत्॥'

कौ० अर्थ० २।५

सन्निधाता के अधीन भी अनेक उपविभाग थे—कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार कुप्यगृह, आयुधागार और बंधनागार[१]। कोशगृह के अध्यक्ष को कोशाध्यक्ष कहते थे। वह कोशगृह में सब प्रकार के रत्नों तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों का संग्रह करता था। चाणक्य के अनुसार कोशाध्यक्ष का कर्त्तव्य है, कि वह रत्नों के मूल्य, प्रमाण, लक्षण, जाति, रूप, प्रयोग, संशोधन, देश तथा काल के अनुसार उनका घिसना या नष्ट होना, मिलावट, हानि का प्रत्युपाय आदि बातों का परिज्ञान रखे।[२] पण्यगृह में राजकीय पण्य (विक्रेय पदार्थ) एकत्र किये जाते थे। राज्य की तरफ से जिन अनेक व्यवसायों का संचालन होता था, उनसे तैयार किये गये पदार्थ सन्निधाता के अधीन पण्यगृह में भेज दिये जाते थे।[३] राजकीय पण्य की विक्री के अतिरिक्त पण्याध्यक्ष का यह कार्य भी था, कि वह अन्य विक्रेय माल की बिक्री को नियन्त्रित करे। माल के विक्रय के सम्बन्ध से अर्थशास्त्र में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि उसे जनता की भलाई की दृष्टि से बेचा जाए।[४] कोष्ठागार में वे पदार्थ संगृहीत किये जाते थे, जिनकी राज्य को आवश्यकता रहती थी। सेना, राजपुरुष आदि के खर्च के लिए राज्य की ओर से जो माल खरीदा जाता था, स्वयं बनाया जाता था या बदले में प्राप्त किया जाता था, वह सब कोष्ठागार में रखा जाता था।[५] कुप्यगृह में कुप्य पदार्थ (जंगल से प्राप्तव्य विविध प्रकार के काष्ठ, ईंधन आदि एकत्र होते थे।[६] आयुधागार में सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह रहता था।[७] बन्धनागार (जेलखाना) का विभाग भी सन्निधाता के अधीन था। चाणक्य के अनुसार बंधनागार के सब कमरे सब ओर से सुरक्षित बनाये जाने चाहिएँ और स्त्री-पुरुषों के रहने के लिए कमरे पृथक्-पृथक् बने होने चाहिएँ।[८]

४. **सेनापति**—यह युद्धविभाग का महामात्य होता था। चाणक्य के अनुसार 'सेनापति सम्पूर्ण युद्ध-विद्या तथ अस्त्र-शस्त्र-विद्या में पारंगत हो। हाथी, घोड़ा तथा रथ के संचालन में समर्थ हो। वह चतुरंग (पदाति, अश्व, रथ, हस्ति) सेना के कार्य

१. 'सन्निधाता कोशगृहं पण्यगृहं कोष्ठागारं कुप्यगृहमायुधागारं बन्धनागारं च कारयेत्।'
कौ० अर्थ० २।५

२. अतः परेषां रत्नानां प्रमाणं मूल्य लक्षणम्।
जातिं रूपं च जानीयान्निधानं नवकर्म च॥'
कौ० अर्थ० २।११

३. कौ० अर्थ० २।१६

४. उभयं च प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत्। स्थूलमपि लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्।'
कौ० अर्थ० २।१६

५. कौ० अर्थ० २।१५

६. कौ० अर्थ० २।१७

७. कौ० अर्थ० २।१८

८. "विभक्त स्त्री पुरुष स्थानमपसारतः सुगुप्तकक्ष्यं बन्धनागारं कारयेत्।" कौ० अर्थ० २।५

तथा स्थान का निरीक्षण करे। अपनी भूमि (मोरचा), युद्ध का समय, शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह का भेदन, टूटे हुए व्यूह का फिर से निर्माण, एकत्रित सेना को तितर-बितर करना, तितर-बितर हुई सेना का संहार करना, किले को तोड़ना, युद्धयात्रा का समय आदि बातों का हर समय ध्यान रखे।[1]

५. युवराज—राजा की मृत्यु के बाद जहाँ युवराज राजगद्दी का उत्तराधिकारी होता था, वहाँ राजा के जीवनकाल में भी वह शासन में हाथ बटाता था। उसका तीर्थ (विभाग) अलग था, और शासनसम्बन्धी अनेक अधिकार उसे प्राप्त रहते थे। राजा की अनुपस्थिति में वह शून्यपाल (रीजेंट) का भी कार्य करता था। वह सब कार्यों में राजा की सहायता करता था।

६. प्रदेष्टा[2]—मौर्यकाल में न्यायालय दो प्रकार के होते थे, धर्मस्थीय और कंटकशोधन। इनके भेद पर हम बाद में प्रकाश डालेंगे। कंटकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा कहते थे। विविध अध्यक्षों और राजपुरुषों का नियन्त्रण करना; और वे बेईमानी, चोरी, रिश्वत आदि से पृथक् रहें, इसका ध्यान रखना भी प्रदेष्टा का कार्य था।

७. नायक[3]—सेना के मुख्य संचालक को नायक कहते थे। सेनापति सैन्य-विभाग का महामात्य होता था, पर नायक सेना का युद्धक्षेत्र में संचालन करता था। स्कंधावार (छावनी) तैयार कराने का काम इसी के हाथ में था। युद्ध का अवसर आने पर विविध सैनिकों को क्या-क्या काम दिया जाय, सेना की व्यूहरचना आदि कैसे की जाय—इन सब बातों का निर्णय नायक ही करता था। युद्ध के समय यह सेना के आगे रहता था।[4]

८. व्यावहारिक—धर्मस्थीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को व्यावहारिक कहते थे। इसी को 'धर्मस्थ' भी कहते थे।[5]

९. कार्मान्तिक—मौर्यकाल में राज्य की ओर से अनेक कारखानों का संचालन होता था। खानों, जंगलों, खेतों आदि के एकत्र कच्चे माल को भिन्न-भिन्न उपयोगों के लिए तैयार करने के लिए राज्य की ओर से विविध कारखाने थे, उनका संचालन कार्मान्तिक के अधीन होता था। चाणक्य ने लिखा है—'खानों से जो

१. सेनापतिस्सर्व युद्ध प्रहरण विद्या विनीतो हस्त्यश्वरथचर्या सम्पुष्ट श्चतुरङ्गस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यात्। स्वभूमिं युद्धकालं प्रत्यनीक भिन्न भेदनं भिन्नसन्धानं संहतभेदनं भिन्नवधं दुर्गभेदं यात्राकालं च पश्येत्।'

कौ० अर्थ० २।३३

२. कौ० अर्थ० ४।१

३. कौ० अर्थ० १०।१

४. 'पुरस्तान्नायकः।' कौ० अर्थ० १०।२

५. कौ० अर्थ० ३।१

धातुएँ निकलें, उन्हें अपने-अपने कारखाने में भेज दिया जाय। जो माल तैयार हो, उसे बेचने का प्रबन्ध एक स्थान पर किया जाय। इन नियमों का उल्लंघन करने वाले क्रेता, विक्रेता तथा कर्ता (पक्का माल तैयार करने वाले) को दण्ड दिया जाय।[1]

१०. **मन्त्रिपरिषद्-अध्यक्ष**—राजा को सलाह देने के लिए मन्त्रिपरिषद् होती थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। उसका एक पृथक् विभाग होता था, जिसके अध्यक्ष की गिनती राज्य के प्रधान अठारह तीर्थों में की जाती थी।

११. **दंडपाल**—सेना के दो महामात्यों, सेनापति और नायक का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दंडपाल भी सेना के साथ ही सम्बन्ध रखता था। इसका विशेष कार्य सेना की सब आवश्यकताओं को पूरा करना और उसके लिए सब प्रबन्ध करना होता था।

१२. **अंतपाल**—मागध-साम्राज्य में सीमान्त प्रदेशों का बड़ा महत्त्व था। उस समय सीमा की रक्षा के लिए बहुत-से दुर्ग बनाये जाते थे। विदेशी सेना जब आक्रमण करके अपने राज्य की सीमा को लांघने लगे, तो ये दुर्ग देश की रक्षा के लिये बड़े उपयोगी होते थे। सीमा-प्रदेश के रास्तों पर भी जगह-जगह छावनी डाली जाती थी। इनकी व्यवस्था का कार्य अंतपाल के सुपुर्द था। सीमाप्रान्त में ऐसी भी अनेक जातियों को बसाया जाता था, जिन्हें लड़ाई में ही आनन्द आता था और जिनका पेशा ही युद्ध करना होता था। इन्हें साम, दान और भेद से अपने पक्ष में रखा जाता था। शत्रु के आक्रमण करने पर ये सब जातियाँ उसका मुकाबला करने के लिए उठ खड़ी होतीं थीं। इनकी व्यवस्था भी अंतपाल के ही हाथ में थी।[2]

१३. **दुर्गपाल**—जिस प्रकार सीमा-प्रदेशों के दुर्ग अंतपाल के अधीन थे, वैसे ही साम्राज्य के अंतर्वर्ती दुर्ग दुर्गपाल के अधिकार में रहते थे।[3] उस युग में बड़े-बड़े नगर दुर्ग के रूप में ही बसे होते थे। इन सब की दुर्ग-रूप में व्यवस्था दुर्गपाल के हाथ में होती थी।

१४. **नागरक**—जैसे जनपदों का शासन समाहर्त्ता के अधीन था, वैसे ही पुरों या नगरों के शासन का सर्वोच्च अधिकारी नागरक होता था।[4] विशेषतया, राजधानी का शासन नागरक के हाथ में रहता था। साम्राज्य में राजधानी की विशेष महत्ता होती थी। पाटलिपुत्र उस युग में संसार का सबसे बड़ा नगर था। रोम और एथन्स का विस्तार पाटलिपुत्र की अपेक्षा बहुत कम था। ९ मील लम्बे

१. कौ० अर्थ० २।१२
२. 'अन्तेष्वन्तपाल दुर्गाणि। जनपद द्वाराण्यन्तपालाधिष्ठितानि स्थापयेत्। तेषामन्तराणि वागुरिक-शवर पुलिन्द चण्डालारण्यचरा रक्षेयुः।' कौ० अर्थ० २।१
३. "चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत्।" कौ० अर्थ० २।३
४. कौ० अर्थ० २।३६

और १½ मील चौड़े इस विशाल नगर का प्रबन्ध एक पृथक् महामात्य के अधीन हो, यह उचित ही था।

१५. **प्रशास्ता**—चाणक्य के अनुसार 'राजकीय आज्ञाओं पर शासन आश्रित होता है। सन्धि और विग्रह का मूल्य राजकीय आज्ञाएँ ही हैं।'[1] इन सब आज्ञाओं (राजशासन) को लिपिबद्ध करने के लिए एक पृथक् विभाग था, जिसके प्रधान अधिकारी को प्रशास्ता कहते थे। राज्य में अन्य सब विभागों का रिकार्ड रखना भी इसी का काम था। उसके अधीन जो विशाल कार्यालय होता था, उसे 'अक्षपटल' कहते थे। राजकीय कर्मचारियों के वेतन, नौकरी की शर्तें, विविध देशों, जनपदों, ग्रामों, श्रेणियों आदि के धर्म, व्यवहार व चरित्र आदि का उल्लेख, खानों, कारखानों आदि के कार्य का हिसाब—ये सब अक्षपटल में भलीभाँति 'निबन्ध-पुस्तकस्थ' किये जाते थे।[2]

१६. **दौवारिक**—यह राजप्रासाद का प्रधान पदाधिकारी होता था। मागध-साम्राज्य के कूटस्थानीय राजा का राजप्रासाद अत्यन्त विशाल था, जिसमें हजारों की संख्या में स्त्री-पुरुष रहते थे। इन सबका प्रबन्ध करना, और अन्तःपुर के आंतरिक शत्रुओं से राज्य की रक्षा करना दौवारिक का कार्य था। दौवारिक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होता था, यह हर्ष चरित्र से भी सूचित होता है, जहाँ पारिपात्र नाम के दौवारिक का वर्णन कर उसे 'महाप्रतीहारों का मुख्य' कहा गया है।[3]

१७. **आंतर्वंशिक**—राजा की निजी अंगरक्षक सेना के अध्यक्ष को आन्तर्वंशिक कहते थे। अन्तःपुर के अन्दर भी आन्तर्वंशिक के विश्वस्त सैनिक राजा की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे। जिस समय राजा रानी से मिलता था, तभी वह अकेला होता था। पर उस समय भी यह भलीभाँति देख लिया जाता था, कि रानी के शयनागर में कोई अन्य व्यक्ति तो छिपा हुआ नहीं है। परिचारिकायें रानी की भी अच्छी तरह तलाशी ले लेती थीं।[4] यह सब प्रबन्ध आंतर्वंशिक के अधीन होता था।

१८. **आटविक**—मागध-साम्राज्य की सेना में 'आटविक बल' का बड़ा महत्व था।[5] मागध-सम्राटों ने अपनी शक्ति के विस्तार में इन आटविक सेनाओं का भलीभाँति उपयोग किया था। इन्हीं के प्रधान राजकर्मचारी को आटविक या अटविपाल कहते थे और उसे राज्य के अठारह तीर्थों में से एक माना जाता था।

१. 'शासने शासन मित्याचक्षते। शासनप्रधाना हि राजानः, तन्मूलत्वात् सन्धि विग्रहयोः।' कौ० अर्थ० २।१०
२. कौ० अर्थ० २।७
३. 'महाप्रतीहाराणामनन्तरः चक्षुष्यो देवस्य परियात्रनामा दौवारिकः।'
४. कौ० अर्थ० १।१८
५. कौ० अर्थ० ५।६

(७) न्याय-व्यवस्था

विशाल मागध-साम्राज्य में न्याय के लिए अनेकविध न्यायालय होते थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम संस्था (ग्रामसंघ) का होता था, जिसमें ग्राम के निवासी अपने मामलों का स्वयं निपटारा करते थे। इसके ऊपर संग्रहण के, फिर द्रोणमुख के और फिर जनपदसन्धि के न्यायालय होते थे।[1] इनके ऊपर पाटलिपुत्र में विद्यमान धर्मस्थीय और कंटक शोधन न्यायालय होते थे। सबसे ऊपर राजा होता था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार रखता था। ग्राम-संघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त बीच के सब न्यायालय धर्मस्थीय और कंटकशोधन, इन दो भागों में विभक्त रहते थे। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे और कंटकशोधन के प्रदेष्टा।[2]

धर्मस्थीय—इन दोनों प्रकार के न्यायालयों में किन-किन बातों के मामलों का फैसला होता था, इसकी विस्तृत सूची कौटलीय अर्थशास्त्र में दी गई है। धर्मस्थीय में प्रधानतया निम्नलिखित मामले पेश होते थे—दो व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों के आपस के व्यवहार के मामले;[3] आपस में जो 'समय' (कंट्रैक्ट) हुआ हो, उसके मामले,[4] स्वामी और भृत्य के झगड़े;[5] दासों के झगड़े;[6] ऋण को चुकाने के मामले;[7] धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए झगड़े;[8] क्रय-विक्रय सम्बन्धी मामले;[9] दिए हुए दान को फिर लौटाने या प्रतिज्ञात दान को न देने के मामले;[10] डाका, चोरी या लूट के मुकदमे;[11] किसी पर हमला करने का मामला;[12] गाली, कुवचन या मानहानि के मामले;[13] जुए-सम्बन्धी झगड़े;[14] मिल्कियत के बिना ही किसी सम्पत्ति

१. "धर्मस्था स्त्रयस्त्रयो वाऽमात्याः जनपदसन्धि-संग्रहण द्रोणमुख स्थानीयेषु व्यावहारिकान् अर्थान् कुर्युः।" कौ० अर्थ० ३।१
२. "प्रदेष्टारस्त्रय स्त्रयो वाऽमात्याः कण्टक शोधनं कुर्युः" कौ० अर्थ० ४।१
३. 'व्यवहार स्थापना' कौ० अर्थ० ३।१
४. 'समयस्यानपाकर्म' कौ० अर्थ० ३।१०
५. 'स्वाम्यधिकारः भृतकाधिकारः' कौ० अर्थ० ३।१२
६. 'दासकल्पः' कौ० अर्थ० ३।१३
७. 'ऋणादानम्' कौ० अर्थ० ३।११
८. 'औपनिधिकम्' कौ० अर्थ० ३।१२
९. 'विक्रीतक्रीतानुशयः' कौ० अर्थ० ३।१५
१०. 'दत्तस्यानपाकर्म' कौ० अर्थ० ३।१६
११. 'साहसम्' कौ० अर्थ० ३।१७
१२. 'दण्डपारुष्यम्' कौ० अर्थ० ३।१९
१३. 'वाक्पारुष्यम्' कौ० अर्थ० ३।१८
१४. 'द्यूतसमाह्वयम्' कौ० अर्थ० ३।२०

को बेच देना, मिल्कियत-सम्बन्धी विवाद;[1] सीमा सम्बन्धी झगड़े;[2] इमारतों के बनाने के कारण उत्पन्न मामले;[3] चरागाहों, खेतों और मार्गों को क्षति पहुँचाने के मामले;[4] पति-पत्नी सम्बन्धी मुकदमे;[5] स्त्री-धन सम्बन्धी विवाद;[6] सम्पत्ति के बंटवारे और उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़े;[7] सहोद्योग, कम्पनी तथा साझे के मामले;[8] विविध रुकावटें पैदा करने के मामले;[9] न्यायालय में स्वीकृत निर्णयविधि सम्बन्धी विवाद,[10] और विविध मामले।[11]

कण्टकशोधन न्यायालय—कंटकशोधन न्यायालयों में निम्नलिखित मामले पेश होते थे—शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा,[12] व्यापारियों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा,[13] राष्ट्रीय व सार्वजनिक आपत्तियों के निराकरण सम्बन्धी मामले,[14] नियम-विरुद्ध उपायों से आजीविका चलाने वाले लोगों की गिरफ्तारी,[15] अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियों को पकड़ना;[16] शक होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफ्तारी,[17] मृतदेह की परीक्षा कर मृत्यु के कारण का पता लगाना;[18] अपराध का पता करने के लिए विविध भाँति के प्रश्नों तथा शारीरिक कष्टों का प्रयोग;[19] सरकार के सम्पूर्ण विभागों की रक्षा;[20] अंग काटने की

१. 'स्वस्वामिसम्बन्धः' कौ० अर्थ० ३।१६
२. 'सीमा विवादः' कौ० अर्थ० ३।८
३. 'गृहवास्तुकम्' कौ० अर्थ० ३।८
४. 'विवीतक्षेत्रपथहिंसा' कौ० अर्थ० ३।८
५. 'विवाहधर्मः' कौ० अर्थ० ३।२
६. स्त्रीधनकल्पः' कौ० अर्थ० ३।२
७. 'दायविभागः, दायक्रमः, अंशविभागः' कौ० अर्थ० ३।३
८. 'सम्भूयसमुत्थानम्' कौ० अर्थ० ३।१४
९. 'बाधाबाधिकम्' कौ० अर्थ० ३।१८
१०. 'विवादपदनिबन्धः' कौ० अर्थ० ३।१
११. 'प्रकीर्णकानि' कौ० अर्थ० ३।२०
१२. 'कारुक रक्षणम्' कौ० अर्थ० ४।१
१३. 'वैदेहक रक्षणम्' कौ० अर्थ० ४।२
१४. 'उपनिपात प्रतीकारः' कौ० अर्थ० ४।३
१५. 'गूढ़जीविनां रक्षा' कौ० अर्थ० ४।४
१६. 'सिद्धव्यञ्जनैर्माणवप्रकाशनम्' कौ० अर्थ० ४।५
१७. 'शङ्कारूपकर्माभिग्रहः' कौ० अर्थ० ४।६
१८. 'आशुमृतक परीक्षा' कौ० अर्थ० ४।७
१९. 'वाक्य कर्मानुयोगः' कौ० अर्थ० ४।८
२०. 'सर्वाधिकरण रक्षणम्' कौ० अर्थ० ४।९

सजा मिलने पर उसके बदले में जुर्माना देने के आवेदन-पत्र;[१] शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्युदण्ड देने का निर्णय;[२] कन्या पर बलात्कार;[३] और न्याय का उल्लंघन करने पर दण्ड देना।[४]

ऊपर की सूचियों से स्पष्ट है, कि धर्मस्थीय न्यायालयों में व्यक्तियों के आपस के मुकदमे पेश होते थे। इसके विपरीत कंटकशोधन न्यायालयों में वे मुकदमे उपस्थित किये जाते थे, जिनका सम्बन्ध राज्य से होता था। कंटकशोधन का अभिप्राय ही यह है, कि राज्य के कंटकों (कांटों) को दूर करना।

न्यायालयों में मुकदमे किस प्रकार किये जाते थे, इस विषय पर भी अर्थशास्त्र में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जब निर्णय के लिए कोई मुकदमा पेश होता था, तो निम्नलिखित बातें दर्ज की जाती थीं—(१) ठीक तारीख, (२) अपराध का स्वरूप। (३) घटनास्थल। (४) यदि ऋण का मुकदमा है, तो ऋण की मात्रा। (५) वादी और प्रतिवादी दोनों का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम और पेशा। (६) दोनों पक्षों की युक्तियों तथा प्रत्युक्तियों का पूरा-पूरा विवरण।[५] इस सम्बन्ध में साक्षी, जिरह आदि सब बातों का चाणक्य ने विस्तार से उल्लेख किया है।

कानून के विविध अंग—न्यायालयों में किस कानून के अनुसार न्याय किया जाता था, इस सम्बन्ध में भी कौटलीय अर्थशास्त्र से परिचय प्राप्त होता है। इस कानून के चार अंग होते थे—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इन शब्दों का क्या अर्थ है, इसे कौटल्य ने स्वयं इस प्रकार स्पष्ट किया है—'धर्म का आधार सत्य है, व्यवहार साक्षियों पर आश्रित है, मनुष्यों में परम्परागत रूप से चले आए नियम चरित्र कहाते हैं, और राजा द्वारा प्रचारित आज्ञाओं को शासन कहते हैं।"[६] जिसे वर्तमान समय में औचित्य या ईक्विटी (Equity) कहा जाता है, उसी को कौटल्य ने 'धर्म' नाम से कहा है। स्वाभाविक रूप से इस प्रकार का कानून सत्य पर आश्रित होता है। औचित्य का विचार प्रायः सभी जन-समुदायों में विद्यमान होता है, और अनेक विषयों का निर्णय इसी के अनुसार किया जाता है, विशेषतया उस दशा में जब कि उस विषय पर कोई अन्य स्पष्ट कानून विद्यमान न हो। दो व्यक्ति या व्यक्ति-

१. 'एकाङ्गवध निष्क्रयः' कौ० अर्थ० ४।१०
२. 'शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः' कौ० अर्थ० ४।११
३. 'कन्याप्रकर्म' कौ० अर्थ० ४।१२
४. 'अतिचारदण्डः' कौ० अर्थ० ४।३
५. 'संवत्सरमृतुं मासं पक्षं दिवसं करणमधिकरणं ऋणं वेदकावेदकयोः कृतसमर्थावस्थयोर्देशग्रामजातिगोत्रनामकर्माणि चाभिलिख्य वादिप्रतिवादि प्रश्नानर्थानुपूर्व्यां निवेशयेत्। निविष्टांश्चावेक्षेत।" कौ० अर्थ० ३।१
६. 'अत्र सत्यस्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्॥' कौ० अर्थ० ३।१

समूह परस्पर मिलकर पारस्परिक समझौते द्वारा जो तय करें, उसे 'व्यवहार' कहते थे। इस व्यवहार का निर्णय साक्षियों के आधार पर ही कर सकना सम्भव था। पर यदि कतिपय व्यक्ति कोई ऐसा व्यवहार पारस्परिक समझौते द्वारा तय करें, जो धर्म के विरुद्ध हो, तो उसे स्वीकार्य नहीं समझा जाता था।[1] जिसे आजकल परम्परागत कानून (Customary law) कहते हैं, उसी को कौटल्य ने 'चरित्र' कहा है। विविध जातियों, जनपदों, श्रेणियों (guilds) आदि में इस प्रकार के परम्परागत कानून की सत्ता थी, जिसे प्राचीन काल के न्यायालयों में मान्य समझा जाता था। राजा की ओर से जो आज्ञाएँ व आदेश जारी किए जायँ, उन्हें 'शासन' कहते थे। जब कोई मामला न्यायालय के सम्मुख उपस्थित होता था, तो उसका निर्णय इन चार प्रकार के कानूनों के आधार पर किया जाता था। इन्हीं को विवाद (मुकदमे) के लिए चतुष्पाद (चार पैर वाला) कानून कहा गया है। यदि मुकदमे के दौरान में यह अनुभव किया जाए, कि धर्म, व्यवहार, चरित्र और शासन में परस्पर विरोध है, तो 'पश्चिम' को 'पूर्व' का बाधक माना जाता था।[2] इसका अभिप्राय स्पष्ट रूप से यह है, कि 'शासन' (राजकीय आदेश) का न्यायालय की दृष्टि में सबसे अधिक महत्त्व था। यदि राजा की ओर से कोई ऐसी आज्ञा प्रचारित हो, जो परम्परागत कानून (चरित्र) या व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार के विरुद्ध हो, तो राजकीय आज्ञा (Decrees) ही मान्य समझी जाएगी, चरित्र या व्यवहार नहीं। इसी प्रकार व्यवहार और चरित्र में विरोध होने पर चरित्र मान्य होगा, व्यवहार नहीं। पर यदि धर्म और व्यवहार में परस्पर विरोध हो, तो धर्मविरुद्ध व्यवहार को न्यायालय में मान्य नहीं समझा जायगा।

धर्म क्या है, इसका निर्णय सत्य या औचित्य (Equity) के आधार पर होगा, शास्त्र के आधार पर नहीं। कौटल्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है, कि यदि शास्त्र और धर्म-न्याय (law based on equity) में परस्पर विरोध हो, तो धर्म-न्याय को ही प्रमाण माना जाए, शास्त्र को नहीं। ऐसी दशा में शास्त्र का पाठ नष्ट हुआ समझ लिया जाए।[3]

कौटलीय अर्थशास्त्र में बहुत से एसे कानून दिए गए हैं, जो स्पष्ट रूप से 'शासन' हैं। सम्राट् अशोक ने भी अपने शिलालेखों द्वारा अनेक राजकीय आज्ञाएँ प्रचारित की थीं। कूटस्थानीय 'एकराजों' के कारण प्राचीन भारतीय राज्यों में

१. 'संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं च व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्।" कौ० अर्थ० ३।१

२. 'धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थं चतुष्पादः पश्चिमः पूर्व बाधकः।" कौ० अर्थ० ३।१

३. "शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति।" कौ० अर्थ० ३।१

शासन या राजकीय कानून का महत्त्व स्वाभाविक रूप से बढ़ता जा रहा था। पर जाति, जनपद, श्रेणि, कुल आदि मानव 'संग्रहों' में जो परम्परागत कानून (चरित्र) चले आते थे, राजा उनकी उपेक्षा व अतिक्रमण नहीं करता था, अपितु अपने आदेशों को उनके 'अविरुद्ध' रखने का प्रयत्न करता था।

(८) राजकीय आय-व्यय

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के निम्नलिखित साधन लिखे गये हैं—

१. दुर्ग—नगरों से जो विविध आमदनी मागध-साम्राज्य की होती थी, उसे दुर्ग कहा जाता था। दुर्गों से आमदनी के विविध साधन निम्नलिखित थे[1] :—(क) शुल्क—चुङ्गी। (ख) पौतव—तौल और माप के साधनों को प्रमाणित करने से प्राप्त कर। (ग) दण्ड—जुरमाना। (घ) नागरिक—जेलखानों से आय। (ङ) मुद्रा-पद्धति की आय। (च) मुद्रा—नगरप्रवेश के समय मुद्रा (सरकारी पास) लेने से होने वाली आमदनी। (छ) सुरा—शराब के ठेकों की आय। (ज) सूना—बूचड़खानों की आमदनी। (झ) सूत्र—राज्य की ओर से अनाथ, रोगी, विकलांग आदि व्यक्तियों से काम कराया जाता था, उसकी आमदनी। (ञ) तेल—तेल के व्यवसाय पर राज्य कर लेता था, उसकी आय। (ट) घृत—घी के कारोबार से वसूल होने वाला कर। (ठ) नमक—नमक बनाने पर लगाया गया कर। (ड) सौवर्णिक—सुनारों से वसूल होने वाला कर। (ढ) पण्यसंस्था—राजकीय पण्य की बिक्री से होने वाली आय। (ण) वेश्या—वेश्याओं द्वारा आय तथा स्वतन्त्र व्यवसाय करने वाली वेश्याओं से कर। (त) द्यूत—जुए की आय। (थ) वास्तुक—अचल सम्पत्ति से वसूल किया जाने वाला कर तथा जायदाद की बिक्री के समय लिया जाने वाला कर। (द) कारीगरों तथा शिल्पियों की श्रेणियों से वसूल होने वाला कर। (ध) देवताध्यक्ष—धर्म-मन्दिरों से प्राप्त होने वाली आमदनी का अंश। (न) द्वार—द्वार से आने या जाने वाले माल पर लिया हुआ कर। (प) वाहिरकादेय—अत्यन्त धनी लोगों से लिया जाने वाला अतिरिक्त कर।

२. राष्ट्र—देहात या जनपद से जो आमदनी राज्य को होती थी, उसे राष्ट्र कहते थे। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित आमदनियाँ होती थीं[2]—(क) सीता—राज्य की अपनी जमीनों से होने वाली आमदनी। (ख) भाग—जिन जमीनों पर राज्य का स्वामित्व नहीं था, उनसे वसूल किया जाने वाला अंश। (ग) बलि—तीर्थस्थान आदि

१. 'शुल्कं दण्डः पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं घृतं क्षारं सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारबाहिरिकादेयं च दुर्गम्।' कौ० अर्थ० २।६

२. 'सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम्।' कौ० अर्थ० २।६

धार्मिक स्थानों पर लगा हुआ विशेष कर। (घ) वणिक्—देहात के व्यापार पर लिया जाने वाला कर। (ङ) नदी-पालस्तर—नदियों पर बने हुए पुलों पर से पार उतरने पर लिया जाने वाला कर। (च) नाव—नौका से नदी पार करने पर लिया जाने वाला कर। (छ) पट्टन—कसबों का कर। (ज) विवीत—चरागाहों के कर। (झ) वर्तनी—सड़कों के कर। (ञ) चोर रज्जु—हथकड़ियों से प्राप्त होने वाली आमदनी।

३. **खनि**—मौर्य-युग में खानें राज्य की सम्पत्ति होती थीं। सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मुक्ता, शंख, लोहा, नमक, पत्थर तथा अन्य अनेक प्रकार की खानों से राज्यकोष को बहुत आमदनी होती थी।[१]

४. **सेतु**—पुष्पों और फूलों के उद्यान, शाक के खेत और मूलों (मूली, शलगम, कन्द आदि) के खेतों से जो आय होती थी, उसे सेतु कहते थे।[२]

५. **वन**—जंगलों पर उस युग में राज्य का अधिकार होता था। जंगलों से राज्य को अनेक प्रकार की आय थी।[३]

६. **व्रज**—गाय, घोड़ा, भैंस, बकरी आदि पशुओं से होने वाली आय को व्रज कहते थे। उस काल में राज्य की अपनी पशुशालायें भी होती थीं।[४]

७. **वणिक्पथ**—वणिक्पथ दो प्रकार के होते थे, स्थल-पथ और जल-पथ। इनसे होने वाली आय वणिक्पथ कहलाती थी।[५]

कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के ये सात साधन वर्णित हैं। यदि आधुनिक राजस्वशास्त्र के अनुसार मौर्यकाल के राज्य की आय का हम अनुशीलन करना चाहें, तो इस प्रकार कर सकते हैं—

१. **भूमिकर**—जमीन से राज्य को आमदनी दो प्रकार से होती थी, सीता और भाग। राज्य की अपनी जमीनों से जो आमदनी होती थी, उसे सीता कहते थे। जो जमीनें राज्य की अपनी सम्पत्ति नहीं थीं, उनसे 'भाग' वसूल किया जाता था। जो किसान सर्वथा स्वतन्त्र रूप से खेती करते थे, जो सिंचाई का प्रबन्ध भी अपने आप करते थे, उनसे जमीन के उत्तम या निकृष्ट होने के अनुसार, कुल उपज का १/४ या १/५ भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था।[६] जो किसान सिंचाई के लिए सरकार से जल लेते थे, उनसे भूमिकर की दर अन्य थी। जिन जमीनों की सिंचाई कूप आदि से हाथ द्वारा पानी खींचकर होती थी, उनसे उपज १/५ भाग लिया जाता था।

१. 'सुवर्ण रजत वज्र मणि मुक्ता प्रवालशंखलोहलवणभूमिप्रस्तररसधातवः खनिः।' कौ० अर्थ० २।६
२. 'पुष्पफलवाटषण्डकेदार मूलवापास्सेतुः।' कौ० अर्थ० २।६
३. 'पशुमृगद्रव्यहस्तिवनपरिग्रहो वनम्।' कौ० अर्थ० २।६
४. गोमहिषमजाविकं खरोष्ट्रमश्वाश्वतराश्च व्रजः।' कौ० अर्थ० २।६
५. 'स्थलपथो वारिपथश्च वाणिक्पथः।' कौ० अर्थ० २।६
६. 'स्वसीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिकाः यथेष्ठमनवसितं भागं दद्युः।' कौ० अर्थ० २।२४

जिनको चरस, रहट आदि द्वारा पानी खींचकर सींचने के लिए दिया जाता था, उनसे उपज का $\frac{१}{५}$ भाग लिया जाता था। जहाँ सिंचाई पम्प, वातयन्त्र आदि द्वारा होती उनसे उपज का $\frac{१}{३}$ भाग लेने का नियम था। नदी या नहर से सिंचाई होने की दशा में भूमिकर की मात्रा उपज का चौथाई भाग होती थी।[१]

यदि कोई किसान तालाब या पक्के मकान को नये सिरे से बनाये, तो उसे पाँच साल के लिए भूमिकर से मुक्त कर दिया जाता था। टूटे-फूटे तालाब या मकान का सुधार करने पर चार वर्ष तक और बने हुए को बढ़ाने से तीन साल तक भूमिकर नहीं लिया जाता था।[२]

२. तटकर—मौर्यकाल में तटकर दो प्रकार के होते थे, निष्क्राम्य (निर्यात-कर) और प्रवेश्य (आयात-कर)।[३] आयात माल पर कर की मात्रा प्रायः २० फीसदी थी। सन के कपड़े, मलमल, रेशम, लोहा, पारा आदि अनेक पदार्थों पर कर की दर १० फीसदी थी। कुछ पदार्थों पर कर की मात्रा ५, ६$\frac{२}{३}$, ७$\frac{१}{२}$ और १६$\frac{२}{३}$ फीसदी भी होती थी, पर साधारण नियम २० फीसदी का ही था।[४] कुछ देशों के साथ आयात-कर के सम्बन्ध में रियायत भी की जाती थी। इसे 'देशोपकार' कहते थे। चाणक्य ने लिखा है—'देश और जाति के चरित्र के अनुसार नये और पुराने माल पर कर स्थापित करे। अन्य देशों के उपकार करने पर शुल्क को बढ़ा दे।'[५] जिन व्यवसायों पर राज्य का एकाधिकार था, उनके बाहर से आने पर अतिरिक्त-कर (वैधरण) भी लिया जाता था। उदाहरण के लिए यदि नमक को विदेश से मँगाना हो, तो १६$\frac{२}{३}$ फीसदी आयात-कर लिया जाता था। उसके अतिरिक्त उतना वैधरण (हरजाना या अतिरिक्त-कर) भी देना पड़ता था, जितना कि विदेशी नमक के आने से नमक के राजकीय व्यवसाय को हानि पहुँची हो।[६] इसी तरह तेल, शराब आदि राज्याधिकृत वस्तुओं के आयात पर भी हरजाना देना होता था। इस आयात का उद्देश्य राजकीय आमदनी को बढ़ाना ही था। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में आचार्य चाणक्य की नीति

१. 'हस्तप्रावर्तिममुदकभागं पञ्चमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्तिमं चतुर्थम्। स्रोतोयन्त्रप्रावर्तिमम् च तृतीयम्। चतुर्थं नदीसरस्तटाक कूपोद्घाटम्।' कौ० अर्थ० २।२४

२. 'तटाकसेतुबन्धानां नवप्रवर्तने पाञ्चवार्षिकः परिहारः। भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वार्षिकः। समुपारूढानां त्रैवार्षिकः।' कौ० अर्थ० ३।६

३. 'निष्क्राम्यं प्रवेश्यं च शुल्कम्।' कौ० अर्थ० २।२२

४. कौ० अर्थ० २।२२

५. 'अतो नवपुराणानां देशजाति चरित्रतः।
पण्यानां स्थापयेच्छुल्कमत्ययं चापकारतः॥'
कौ० अर्थ० २।२२

६. 'आगन्तुलवणं षड्भागं दद्यात्—दत्तभाग विभागस्य विक्रमः पञ्चकं शतं व्याजीं रूपं रूपिकम् च। क्रेता शुल्कं राजपण्याच्छेदानुरूपं च वैधरणं दद्यात्।'
कौ० अर्थ० २।१२

यह थी—'विदेशी माल को अनुग्रह से स्वदेश में प्रवेश कराया जाय। इसके लिए नाविकों तथा विदेशी माल के व्यापारियों के लिये लाभ के ऊपर लिये जाने वाला कर माफ कर दिया जाय।'[1]

निर्यात माल पर भी कर लिया जाता था, यह तो कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, पर इस कर की दर क्या थी, इस सम्बन्ध में कोई सूचना चाणक्य ने नहीं दी। अपने देश के माल को बाहर भेजने के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित वाक्य महत्त्व के हैं—'जल-मार्ग से विदेश में माल को भेजने से पहले मार्गव्यय, भोजन-व्यय, विनिमय में आने वाले विदेशी माल की कीमत तथा परिमाण, यात्राकाल, भयप्रतीकार के उपाय में हुआ व्यय, बन्दरगाहों के रिवाज, नियम आदि का पता लगाए। भिन्न-भिन्न देशों के नियमों को जानकर जिन देशों में माल भेजने से लाभ समझे, वहाँ माल भेजा जाए। जहाँ हानि की सम्भावना हो, वहाँ से दूर रहे।'[2] इसी प्रकार परदेश में व्यापार के लिए, पण्य एवं प्रतिपण्य (निर्यात माल और उसके बदले में आने वाला माल) के मूल्य से चुंगी, सड़क-कर, गाड़ी का खर्च, दुर्ग का कर, नौका के भाड़े का खर्च आदि घटाकर शुद्ध लाभ का अनुमान करे। यदि इस ढंग से लाभ न मालूम पड़े, तो यह देखे कि अपने देश की चीज के बदले में कोई ऐसी वस्तु विदेश से मँगाई जा सकती है या नहीं जिससे लाभ रहे। इसमें सन्देह नहीं, कि आचार्य चाणक्य विदेशी व्यापार को उत्तम मानते थे, और उसकी वृद्धि में देश का लाभ समझते थे।

३. **बिक्री पर कर**—मौर्यकाल में बिक्री पर चुंगी लेने की भी व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है, कि उत्पत्तिस्थान पर कोई भी पदार्थ बेचा नहीं जा सकता।[3] कोई भी वस्तु चुंगी से न बच सके, इसलिए यह नियम बनाया गया था। जो इस नियम का उल्लंघन करते थे, उन पर भारी जुरमाना किया जाता था। इन जुरमानों की मात्रा बहुत अधिक होती थी। खानों से खनिज पदार्थ खरीदने पर ६०० पण, और खेत से अनाज मोल लेने पर ५३ पण जुरमाने की व्यवस्था थी।[4] सब माल पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाता था। चुंगी दे देने के बाद उस पर 'अभिज्ञानमुद्रा' लगाई जाती थी। उसके बाद ही माल की बिक्री हो सकती थी, पहले नहीं।

चुंगी की मात्रा के सम्बन्ध में यह विवरण उद्धृत करने योग्य है—'नाप कर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ६$\frac{1}{4}$ फीसदी, तोलकर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ५ फीसदी और गिनकर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ९$\frac{1}{11}$ प्रतिशत शुल्क लिया जाए।'[5]

---

१. 'परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्। नाविकसार्थवाहेभ्यश्च परिहारमायतिक्षमं दद्यात्।'
कौ० अर्थ० २।१६

२. कौ० अर्थ० २।१६

३. 'जातिभूमिषु च पण्यानामविक्रयः।' कौ० अर्थ० २।२२

४. कौ० अर्थ० २।२२

५. कौ० अर्थ० २।१६

४. प्रत्यक्ष कर—मौर्ययुग में जो विविध प्रत्यक्ष कर लगाये जाते थे, उनमें से कुछ ये हैं—

(क) तोल और माप के परिमाणों पर चार माषक कर लिया जाता था। प्रामाणिक बट्टों वा माप के साधनों को काम में न लाने पर दण्ड के रूप में २७¼ पण जुरमाना लिया जाता था।[१]

(ख) जुआरियों पर—जुआ खेलने की अनुमति लेने पर कर देना पड़ता था, और जो धन जुए में जीता जाय, उसका ५ फीसदी राज्य ले लेता था।[२]

(ग) रूप से आजीविका चलाने वाली वेश्याओं से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर-रूप में लिया जाता था। इसी तरह के कर नट, नाटक करने वाले, रस्सी पर नाचने वाले, गायक, वादक, नर्तक व अन्य तमाशा करने वालों से भी वसूल करने का नियम था। पर यदि ये लोग विदेशी हों, तो इनसे पाँच पण अतिरिक्त कर भी लिया जाता था।[३]

(घ) धोबी, सुनार व इसी तरह के अन्य शिल्पियों पर अनेक कर लगाये जाते थे। इन्हें अपना व्यवसाय चलाने के लिए एक प्रकार का लाइसेंस लेना होता था।[४]

५. राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय—राज्य का जिन व्यवसायों पर पूरा आधिपत्य था, उनमें खानें,[५] जंगल,[६] नमक की उत्पत्ति[७] और अस्त्र-शस्त्र का कारोबार[८] मुख्य है। इनके अतिरिक्त शराब का निर्माण भी राज्य के ही अधीन था।[९] इन सबसे राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। अनेक व्यापारों पर भी राज्य का स्वत्व उस युग में होता था। राज्य की ओर से जो पदार्थ बिक्री के लिए तैयार होते थे, उनकी बिक्री भी वह स्वयं करता था।

६. जुरमानों से आय—मौर्यकाल में अनेक अपराधों के लिए दण्ड के रूप में जुरमाना लिया जाता था। इनका बड़े विस्तार से वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है।[१०]

७. विविध—मुद्रापद्धति पूर्णतया राज्य के हाथ में होती थी। रूप्य, पण

---

१. कौ० अर्थ० २।१९
२. कौ० अर्थ० ३।२०
३. कौ० अर्थ० २।२७
४. कौ० अर्थ० ४।१
५. कौ० अर्थ० २।१२
६. कौ० अर्थ० २।१७
७. कौ० अर्थ० २।१२
८. कौ० अर्थ० २।१८
९. कौ० अर्थ० २।२५
१०. कौ० अर्थ० २।२८

आदि सिक्के टकसाल में बनते थे। जो व्यक्ति चाहे अपनी धातु ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। पर इसके लिए १३½ फीसदी प्रीमियम देना पड़ता था। जो कोई सरकारी टकसाल में नियमानुसार सिक्के न बनवाकर स्वयं बनाता था, उस पर २५ पण जुरमाना होता था।[1] गरीब और अशक्त व्यक्तियों के गुजारे का प्रबन्ध राज्य करता था, पर इस तरह के लोगों से सूत कातने, कपड़ा बुनने, रस्सी बटने आदि के काम भी लिये जाते थे।[2] राज्य को इनसे भी कुछ आमदनी होती थी।

इन सबके अतिरिक्त आपत्काल में सम्पत्ति पर अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। अर्थशास्त्र में इनका भी विस्तार से वर्णन किया गया है। सोना-चाँदी, मणि-मुक्ता आदि का व्यापार करने वाले धनी लोगों से ऐसे अवसर पर उनकी आमदनी का ५० फीसदी तक कर में ले लिया जाता था। अन्य प्रकार के व्यापारियों व व्यवसायियों से भी ऐसे अवसरों पर विशेष कर की व्यवस्था थी, जिसकी मात्रा ५० फीसदी से ५ फीसदी तक होती थी। मन्दिरों और धार्मिक संस्थाओं से भी ऐसे अवसरों पर उपहार और दान लिये जाते थे। जनता से अनुरोध किया जाता था, कि ऐसे अवसर पर उदारता के साथ राज्य को धन दें। इसके लिए दानियों का अनेक प्रकार से सम्मान भी किया जाता था।[3]

राज्य को विविध करों से जो आमदनी होती थी, उसके व्यय के सम्बन्ध में भी बहुत-सी उपयोगी बातें कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होती हैं। यहाँ इनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है।

१. **राजकर्मचारियों के वेतन**—अर्थशास्त्र में विविध राजकर्मचारियों के वेतनों की दरें पूरी तरह दी गई हैं। इसमें मन्त्री, पुरोहित, सेनापति जैसे बड़े पदाधिकारियों का वेतन ४००० पण मासिक दिया गया है। प्रशास्ता, समाहर्त्ता और आंतर्वंशिक सदृश कर्मचारियों को २००० पण मासिक; नायक, व्यावहारिक अन्तपाल आदि को १००० पण मासिक; अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि को ६६० पण मासिक; विविध अध्यक्षों को ३३० पण मासिक; पदाति, सैनिक, लेखक, संस्थापक आदि को ४२ पण मासिक, और अन्य छोटे-छोटे कर्मचारियों को ५ पण मासिक वेतन मिलता था।[4] इनके अतिरिक्त, यदि किसी राजसेवक की राजसेवा करते हुए मृत्यु हो जाती थी, तो उसके पुत्र और स्त्री को कुछ वेतन मिलता रहता था। साथ ही, उसके बालक, वृद्ध तथा व्याधिपीड़ित सम्बन्धियों के साथ अनेक प्रकार के अनुग्रह प्रदर्शित किये जाते थे।[5]

१. कौ० अर्थ० २।१२
२. कौ० अर्थ० २।२३
३. कौ० अर्थ० ५।२
४. 'भृत्यभरणीयम्' कौ० अर्थ० ५।३
५. 'कर्मसु मृतानां पुत्रदारा भक्तवेतनं लभेरन्। बालवृद्धव्याधिताश्चैषामनुग्राह्याः।' कौ० अर्थ० ५।३

२. **सैनिक व्यय**—सेना के विविध सिपाहियों व आफीसरों को किस दर से वेतन मिलता था, इसका पूरा विवरण अर्थशास्त्र में दिया गया है।[1] मैगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में ६ लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही, ९००० हाथी और ८००० रथ थे। यदि अर्थशास्त्र में लिखी दर से इन्हें वेतन दिया जाता हो, तो केवल वेतनों में ही ३६३/४ करोड़ पण प्रतिवर्ष खर्च हो जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि मागध-साम्राज्य में सैनिक व्यय की मात्रा बहुत अधिक होती थी।

३. **शिक्षा**—मौर्यकाल में जो व्यय राज्य की तरफ से शिक्षा के लिए किया जाता था, उसे देवपूजा कहते थे। अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि अनेक शिक्षणालयों का संचालन राज्य की तरफ से भी होता था, और इनके शिक्षकों को राजा की तरफ से वेतन मिलता था। इसे भृति या वृत्ति न कहकर 'पूजा वेतन' (आनरेरियम) कहते थे। इसकी दर ५०० पण से १००० पण तक होती थी।[2]

४. **दान**—बालक, वृद्ध, व्याधिपीड़ित, आपत्तिग्रस्त और इसी तरह के अन्य व्यक्तियों का भरण-पोषण राज्य की तरफ से होता था।[3] इस खर्च को दान कहते थे।[4]

५. **सहायता**—सरकार की ओर से अनेक कार्यों में अनेकविध लोगों की सहायता की जाती थी। मैगस्थनीज के अनुसार शिल्पी लोगों को राज्यकोष से अनेक प्रकार से सहायता प्राप्त होती थी।[5] उन्हें समय-समय पर न केवल करों से मुक्त किया जाता था, पर राज्यकोष से धन भी दिया जाता था।

६. **सार्वजनिक आमोद-प्रमोद**—इस विभाग में वे पुण्यस्थान, उद्यान, चिड़ियाघर आदि अन्तर्गत हैं, जिनका निर्माण राज्य की तरफ से किया जाता था। राज्य की ओर से पशु, पक्षी, साँप आदि जन्तुओं के बहुत-से 'वाट' बनाये जाते थे, जिनका उद्देश्य जनता का मनोरंजन था।[6]

७. **सार्वजनिक हित के कार्य**—मौर्यकाल में जनता की स्वास्थ्यरक्षा, चिकित्सालय आदि का राज्य की तरफ से प्रबन्ध किया जाता था। दुर्भिक्ष, आग, महामारी आदि आपत्तियों से भी जनता की रक्षा की जाती थी। जहाँ जल की कमी हो, वहाँ कूप, तड़ाग आदि बनवाने का विशेष ध्यान रखा जाता था।[7]

१. कौ० अर्थ० ५।३
२. 'आचार्या विद्यावन्तश्च पूजावेतनानि यथार्हं लभेरन् पञ्चशतावरं सहस्रपरम्।'
कौ० अर्थ० ५।३
३. 'बालवृद्ध व्याधितव्यसन्यनाथांश्च राजा बिभृयात्।' कौ० अर्थ० २।१
४. मेगस्थनीज (हिन्दी) पृ० ६
५. कौ० अर्थ० २।१ और ३।१०
६. कौ० अर्थ० २।१
७. कौ० अर्थ० २।३४

इन सब में राज्य को बहुत खर्च करना पड़ता था और आमदनी का काफी हिस्सा इन कार्यों में व्यय हो जाता था।

८. **राजा का वैयक्तिक खर्च**—मौर्यकाल में राजा का वैयक्तिक खर्च भी कम नहीं था। अन्तःपुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे। सैकड़ों दौवारिक और हजारों आंतर्वंशिक सैनिक हमेशा राजमहल में विद्यमान रहते थे। राजा बहुत शान के साथ रहता था। उसके निजी ठाठ-बाट में भी बहुत अधिक व्यय होता था। केवल महानस (रसोई) का खर्च इतना अधिक था, कि चाणक्य ने व्यय के विभागों में उसका पृथक् रूप से उल्लेख किया है।[1] राजप्रासाद की अपनी सूना (बूचड़खाना) पृथक् होती थी। राजमहल और अन्तःपुर के निवासी स्त्री-पुरुषों की संख्या हजारों में पहुँचती थी।

राजा के परिवार के विविध व्यक्तियों को राजकोष से बाकायदा वेतन दिया जाता था। इसकी दर भी बहुत अधिक होती थी। युवराज, राजमाता और राजमहिषी को चार-चार हजार पण मासिक और कुमार वा कुमारमाता को एक-एक हजार पण मासिक वेतन मिलता था। यह उनकी अपनी निजी आमदनी थी, जिसे वे स्वेच्छा से खर्च कर सकते थे।

---

१. कौ० अर्थ० २।६

ग्यारहवाँ अध्याय

मौर्योत्तर युग की शासन-संस्थाएँ

(१) मौर्योत्तर युग

मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। १८५ ई० पू० में उसका घात करके उसके सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने मागध साम्राज्य के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया था। पर बृहद्रथ से पहले ही २१० ई० पू० के लगभग मौर्यवंश की शक्ति क्षीण पड़ने लग गई थी, और साम्राज्य के सुदूरवर्ती प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हो गए थे। कलिङ्ग, आन्ध्र और महाराष्ट्र मौर्य साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो गए थे, और उत्तर-पश्चिमी भारत पर यवनों ने आक्रमण करना शुरू कर दिया था। मौर्यवंश के अन्तिम राजा निर्बल और विलासी थे। पुष्यमित्र ने एक बार फिर मगध में शक्ति का संचार किया। इसीलिए वह यवनों को सिन्ध नदी के परे धकेलने में समर्थ हुआ, पर कलिङ्ग के चेदिवंश और प्रतिष्ठान (महाराष्ट्र) के सातवाहन वंश की शक्ति का वह दमन नहीं कर सका। परिणाम यह हुआ, कि मगध का साम्राज्य केवल भारत के मध्यदेश तक ही सीमित रह गया। दक्षिणापथ में सातवाहन वंश के राजा अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर रहे, यवन लोग उत्तर-पश्चिमी भारत में अपनी शक्ति बढ़ाते रहे, और शक-आक्रान्ता सिन्ध व राजपूताना को अपनी अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील हुए। बाद में पल्हवों (पार्थियनों) और कुशाणों ने शकों का अनुसरण कर भारत में प्रवेश किया, और इस देश के विविध प्रदेशों में अपने-अपने राज्य स्थापित किये। मौर्यों के बाद दूसरी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० प० तक की पाँच सदियों में भारत में कोई ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं रह गई थी, जो चन्द्रगुप्त व अशोक के समान भारत के बड़े भाग पर अपना अबाध शासन स्थापित करने में समर्थ होती।

इस दशा के परिणाम निम्नलिखित हुए—(१) भारत में किसी एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अभाव में इस युग में पुराने गणराज्यों को अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने का अवसर प्राप्त हो गया। मालव, यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन, शिवि, लिच्छवि आदि गणराज्यों का पुनरुत्थान इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। मगध की राजशक्ति के निर्बल पड़ते ही ये गणराज्य स्वतन्त्र हो गये थे। मौर्य साम्राज्य में

अधीनस्थ जनपदों के रूप में इनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता कायम थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। अब ये राजनीतिक दृष्टि से भी पूर्णतया स्वाधीन हो गए थे। (२) अनेक राजतन्त्र जनपद भी इस युग में स्वतन्त्र हो गए, और उनमें पुराने व नये राजवंशों ने स्वतन्त्र रूप से शासन करना प्रारम्भ कर दिया। (३) कतिपय जनपद ऐसे थे, जो मागध सम्राट् की अधीनता स्वीकृत करते थे, पर उनकी पृथक् व स्वतन्त्र रूप से सत्ता अब पुनः स्थापित हो गई थी।

मौर्योत्तर युग की शासन संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए इन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(२) मौर्योत्तर युग के गणराज्य

मौर्य वंश के पतन और शक-यवन आदि विदेशियों के आक्रमण के समय भारत में जो अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम हुए, उनमें गणराज्यों का स्थान प्रधान है। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब, सिन्ध और उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक गण-राज्यों की सत्ता थी, जिनका परिचय हमें पाणिनि, कौटलीय अर्थशास्त्र और ग्रीक विवरणों से मिलता है। पहले इन्हें सिकन्दर ने अपने अधीन किया, और फिर चन्द्रगुप्त मौर्य ने। पर मौर्यों ने उत्कर्ष के समय इन गणराज्यों की सत्ता पूर्णतया नष्ट नहीं हुई, क्योंकि आचार्य चाणक्य की इनके प्रति यह नीति थी, कि इनके साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया जाए। कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखा है—"दण्ड (सैन्य-शक्ति) और मित्र के लाभ की अपेक्षा संघ का लाभ (प्राप्ति) अधिक उत्तम है। जो संघ (गण या संघ-राज्य) अभिसंहत (संघात में संगठित) हों, उन्हें नष्ट कर सकना कठिन होता है। अतः उन्हें साम और दान के प्रयोग से अपने अनुकूल किया जाए। जो (संघ) अभिसंहत न हों, उन्हें भेद और दण्ड द्वारा विजय कर लिया जाए।"[1] इस नीति का अनुसरण करने के कारण यह सुगमता से कल्पना की जा सकती है, कि मौर्य युग में भी ऐसे अनेक शक्तिशाली व अभिसंहत गणराज्यों की सत्ता कायम रही, जिनके प्रति मौर्य राजाओं की नीति उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनसे मित्रता के लाभ की थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, कि मौर्य साम्राज्य के उत्कर्ष के समय में भी भारत में कतिपय गण व संघ राज्य अधीनस्थ स्थिति में कायम रहे थे।

पर मगध के साम्राज्य की शक्ति के क्षीण व निर्बल होते ही संघ व गणराज्य फिर से स्वतन्त्र हो गए। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग जो अनेक गणराज्य स्वतन्त्र-रूप से भारत में स्थापित हो गए थे, उनके सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं और उनकी सत्ता की सूचना इस युग के शिलालेखों व साहित्य से भी प्राप्त होती है। मौर्य साम्राज्य

१. "सङ्घलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः। सङ्घाभिसंहतत्वादधृष्यान् परेषां तननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। विगुणान् भेददण्डाभ्याम्।" कौ० अर्थ० ११।१

के विकास से पूर्व भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों और उत्तरी बिहार के क्षेत्र में जो बहुत-से गणराज्य विद्यमान थे, वे सब इस समय फिर से स्थापित नहीं हो जाते, उनमें से कुछ ही इस समय पुनः प्रगट होते हैं। सम्भवतः, उनमें से बहुत-से मगध के साम्राज्यवाद द्वारा सदा के लिए नष्ट कर दिये गए थे। पर साथ ही, कतिपय ऐसे नये गणराज्य भी इस समय स्थापित हुए, जिनकी सत्ता मौर्य साम्राज्य से पूर्व नहीं थी।

इस युग के मुख्य गणराज्य निम्नलिखित थे—

(१) **यौधेय**—यह गणराज्य मौर्य साम्राज्य के विकास से पूर्व भी विद्यमान था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इसका परिगणन 'आयुधजीवि' (कौटल्य के 'वार्ता-शस्त्रोपजीवि') संघों में किया गया है।[1] पाणिनि ने सौनेत्र नाम के एक नगर का भी उल्लेख किया है, जो कि आधुनिक सुनेत (पंजाब के लुधियाना जिले में) को सूचित करता है। इस सौनेत्र का परिगणन पाणिनि के संकलादि गण में किया गयाहै। सुनेत में यौधेय गण के बहुत-से सिक्के व मुहरें उपलब्ध हुई हैं, जिससे सूचित होता है कि यह नगर यौधेय गणराज्य के प्रदेश में स्थित था। ग्रीक-विवरणों में यौधेयों का उल्लेख नहीं किया गया है, यद्यपि उनमें व्यास नदी के पूर्व में स्थित एक शक्तिशाली गणराज्य का निर्देश है, जिसकी सैन्य-शक्ति का परिचय पाकर सिकन्दर की सेना ने पूर्व में आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था। सम्भवतः, यह राज्य यौधेय गण ही था, जो व्यास नदी के पूर्व में विद्यमान था।

वर्तमान समय में यौधेय गण के बहुत-से सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन्हें दूसरी सदी ई० पू० से शुरू कर चौथी सदी ईस्वी तक का माना जाता है। यौधेयों के सबसे पुराने सिक्के वे हैं, जिन पर 'यौधेयानाम्' उत्कीर्ण हैं, और जिन पर हाथी और वृषभ की प्रतिमाएँ अंकित हैं। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर 'कार्तिकेय' शब्द और इस देवता की प्रतिमा अंकित है। कार्तिकेय को वीरता का देवता माना जाता है। यौधेयों के तीसरे प्रकार के सिक्कों पर बरछी लिए हुए एक वीर सैनिक की प्रतिमा अंकित है, और उन पर "यौधेय गणस्य जय' शब्द उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार के सिक्कों में से कुछ पर 'द्वि' और कुछ पर 'त्रि' भी अंकित है। जिन स्थानों से यौधेयों के ये सिक्के मिले हैं, उनसे इस शक्तिशाली गणराज्य के प्रदेशों का परिचय सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है। ये सिक्के प्रधानतया सतलुज और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश से मिले हैं। इस क्षेत्र के सोनीपत, जगाधरी, पानीपत, हाँसी, अबोहर, सिरसा और भटनेर नगरों से यौधेयों के बहुत-से सिक्के प्राप्त हुए हैं। यमुना के पूर्व में बेहट (सहारनपुर जिले में यमुना के समीप) से उनके सिक्के मिले हैं, और सतलुज के पश्चिम में दीपाल-पुर, सतघरा, सुनेत, मुलतान, करोड़ और अजुधान से। उत्तर में कांगड़ा जिले से भी

१. पाणिनि, अष्टाध्यायी ५।३।११७

उनके कुछ सिक्के मिले हैं।[१] सुनेत (लुधियाना के समीप) से प्राप्त हुई एक मुहर पर 'यौधेयानां जयमन्त्र धराणाम्' अंकित है। भरतपुर (राजपूताना में) के विजयगढ़ नामक नगर के समीप उनका एक शिलालेख भी मिला है, जिसमें स्पष्ट रूप से 'यौधेय-गण' उल्लखित है। सिक्कों, मुहरों और शिलालेखों की प्राप्ति से यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि यौधेय गण की स्थिति मुख्यतया सतलुज और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेशों में थी, और अधिकतम विस्तार के समय यह गण पूर्व में बेहट तक, पश्चिम में सुनेत (लुधियाना) तक, उत्तर में कांगड़ा तक और दक्षिण में भरतपुर तक विस्तृत था।

मौर्य वंश की शक्ति के क्षीण होने पर दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में यौधेयगण फिर से स्वतन्त्र हो गया था, और यवनों व शकों के आक्रमणों के कारण भारत में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर इस गण ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था। यही कारण है, कि जब दूसरी सदी ईस्वी में शक विजेता रुद्रदामा ने अपनी शक्ति का विस्तार करना शुरू किया, तो उसे यौधेयगण के साथ युद्ध करने की आवश्यकता हुई। रुद्रदामा ने बड़े अभिमान के साथ लिखा है कि "सब क्षत्रियों में प्रगट की हुई वीर पदवी के कारण अभिमानी बने हुए और किसी तरह वश में न आने वाले यौधेयों को बलपूर्वक उखाड़ देने वाले"[२] ने यह सेतु तैयार किया। इसमें सन्देह नहीं, कि रुद्रदामा के समय तक यौधेयगण ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था, और सब क्षत्रियों में प्रगट की हुई वीरता के कारण वे बहुत अभिमानी हो गए थे। पर रुद्रदामा उन्हें सदा के लिए परास्त नहीं कर सका था। शीघ्र ही वे पुनः स्वतन्त्र हो गए थे। इसीलिए समुद्रगुप्त (३७८-३७८ ई० प०) ने अपने एक शिलालेख में उनका परिगणन ऐसे गणराज्यों के अन्तर्गत रूप से किया है,[३] जिन्हें उसने जड़ से उखाड़ने का प्रयत्न नहीं किया था, अपितु वह जिनसे केवल प्रणाम, राजदरबार में उपस्थिति, आज्ञानुवर्तिता तथा कर प्रदान करना स्वीकार कराके ही सन्तुष्ट हो गया था। विजयगढ़ (भरतपुर में) में यौधेयों का जो शिलालेख मिला है, उसे भी गुप्त युग का ही माना जाता है। इससे स्पष्ट है, कि चौथी सदी ईस्वी तक भी यौधेयगण की स्वतन्त्र सत्ता कायम थी। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के काल में भारत पर यवनों, शकों, पल्हवों और कुशाणों ने आक्रमण किए। कतिपय विदेशी आक्रान्ता अयोध्या और पाटलिपुत्र तक भी विजय यात्रा करते हुए चले आए, कनिष्क जैसे

१. Cunninghum : Coins of Ancient India pp. 76-79

२. 'सर्वक्षत्राविष्कृत वीर शब्द जातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानाम्।'
रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख
Epigraphia Indica vol. VIII. pp. 44-47

३. 'नेपालकर्तृपुरादि प्रत्यन्त नृपतिभिर्मालवार्जुनायन यौधेय माद्रक…"
Fleet : Gupta Inscriptioins p. 8

कुशाण विजेता ने अपना विशाल साम्राज्य भी स्थापित किया, पर ये विदेशी आक्रान्ता यौधेयगण का मूलोच्छेद नहीं कर सके।

यौधेय गण की शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में दो निर्देश इस गण के शिलालेखों व मुहरों से प्राप्त होते हैं। विजयगढ़ के शिलालेख में यौधेय गढ़ के 'महाराज-महासेनापति' का उल्लेख है, जिसने कि यह लेख लिखवाया है, और जिसे इस लेख में 'यौधेय गण पुरस्कृत' कहा गया है। इससे सूचित होता है, कि यौधेयगण के मुखिया व प्रधान को 'महाराज' कहा जाता था, और महासेनापति का पद भी उसी के पास रहता था। सुनेत में प्राप्त एक मुहर पर 'यौधेयानां मन्त्रधराणाम्' का उल्लेख है, जिससे यह निर्देश मिलता है कि इस गण में 'मन्त्रधर' नाम के पदाधिकारी होते थे, जो कि राज्य की नीति या मन्त्र का निर्धारण किया करते थे।

गुप्त साम्राज्य पर जब हूणों के आक्रमण शुरू हुए, तो इस देश की राजनीतिक शक्तियों में बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सम्भवतः, तभी यौधेय गण का सदा के लिए अन्त हो गया। वर्तमान समय के जोहिया नाम के राजपूतों को प्राचीन यौधेयों का प्रतिनिधि माना जाता है।

(२) **मद्र या माद्रक**—मद्रगण की सत्ता मौर्य साम्राज्य के विकास से पूर्व विद्यमान थी, यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'मद्र' का उल्लेख आया है, और उसकी स्थिति वाहीक (पंजाब) देश में बताई गई है।[1] मद्र की राजधानी शाकल (सियालकोट) नगरी थी। पहले इसे सिकन्दर ने अपने अधीन किया, और फिर चन्द्रगुप्त मौर्य ने। मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर मद्रगण भी फिर से स्वतन्त्र हो गया। इसीलिए समुद्रगुप्त ने अपने शिलालेख में मद्र का परिगणन भी यौधेय और आर्जुनायन के साथ उन गणों में किया है, जिन्होंने प्रणाम, कर-प्रदान, राजदरबार में उपस्थिति व आज्ञानुवर्तिता द्वारा गुप्त सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर ली थी। दुर्भाग्यवश इस गण के कोई सिक्के इस समय तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।

(३) **मालव**—मौर्य साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर जो गणराज्य फिर से स्वतन्त्र हो गये, उनमें 'मालवगण' प्रधान है। यह एक प्राचीन गण था, जिसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी, महाभाष्य और काशिकावृत्ति में हुआ है।[2] सिकन्दर के साथ इसका घनघोर युद्ध हुआ था, और इसी कारण ग्रीक विवरणों में भी इसका उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इसे अपने अधीन कर मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। पुराने समय में इसकी स्थिति मध्य-पंजाब में थी, पर मौर्य वंश की शक्ति के क्षीण होने पर जब यवनों, शकों और पार्थियन लोगों के

१. पाणिनि ४।२।१३१
२. पाणिनि ५।३।११४

आक्रमण प्रारम्भ हुए, तो यह गण मध्य पंजाब में अपनी सत्ता को कायम नहीं रख सका, और अपने पुराने अभिजन का त्यागकर राजपूताना में जा बसा, जहाँ विदेशी आक्रान्ताओं के लिए विजय कर सकना सुगम नहीं था। यही कारण है कि इस गण के बहुत-से सिक्के राजपूताना के जयपुर प्रदेश से मिले हैं। जयपुर के नागर नामक शहर से मालवगण के छः हजार के लगभग सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन पर 'मालवानां जय' 'मालवा जय' और 'मालवगणस्य' सदृश लेख अंकित हैं। ये सिक्के किस काल के हैं, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। कनिंघम ने इनका काल २५० ई० पू० के लगभग का प्रतिपादित किया था, पर रेप्सन और स्मिथ ने इनका काल १५० ई० पू० के लगभग स्वीकार किया है। अधिक सम्भव यही है, कि ये सिक्के दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के हैं, जबकि यवनों के आक्रमणों से उत्तर-पश्चिमी भारत में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। सम्भवतः, इसी समय में मालवगण के क्षत्रिय अपना मूल अभिजन छोड़कर राजस्थान में आ बसे थे। जयपुर के क्षेत्र में इन्होंने अपना स्वतन्त्र गणराज्य स्थापित कर लिया था, और वहाँ से ही अपने नये सिक्के जारी करने शुरू कर दिये थे। दूसरी सदी ई० पू० में ही शकों ने मकरान और सिन्ध के रास्ते से भारत में प्रवेश किया, और मीननगर (सिन्ध में) को राजधानी बनाकर अपने राज्य की स्थापना की। मीननगर के शक राजा के क्षत्रप नहपान (प्रथम सदी ईस्वी पूर्व के पूर्वार्ध में) ने अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया। नहपान के जामाता उषावदात ने अपने नासिक के शिलालेख में सूचित किया है, कि उसने मालय लोगों को भी युद्ध में परास्त किया था। सम्भवतः, नासिक शिलालेख ने मालव मालवगण को ही सूचित करते हैं। मालयों या मालवों को परास्त कर उषावदात ने पोक्षर (पुष्कर) में जाकर स्नान किया था। पुष्कर नागर से अधिक दूर नहीं है, अतः यह माना जा सकता है कि जिन मालयों को उसने परास्त किया था, वे मालव ही थे। पर शक क्षत्रपों का उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रह सका। सातवाहन वंश के शक्तिशाली राजा गौतमीपुत्र श्री सातकर्णि ने शकक्षत्रप नहपान को परास्त किया, और 'शकारि' की उपाधि प्राप्त की। शकों पर यह विजय ५८ ईस्वी पूर्व के लगभग प्राप्त की गई थी। पर शकों की पराजय का श्रेय केवल गौतमीपुत्र श्री सातकर्णि को ही नहीं है। मालवगण के वीर योद्धाओं का भी इस सम्बन्ध में बहुत कर्तृत्व था। उन्होंने भी शकों के पराजय में महत्त्वपूर्ण भाग लिया, और अपनी विजय के उपलक्ष में मालवगण ने एक नये प्रकार के सिक्के जारी किये। मालवगण के बाद के जो सिक्के मिलते हैं, उनमें काल की गणना इसी घटना के साल से की गई है। इन सिक्कों पर 'मालवगण स्थित्या', 'मालवगण स्थितिवशात्' और 'श्री मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते' अंकित कर एक नये संवत् को सूचित किया है, जिसका प्रारम्भ ५७ ई० पू० में शकों की पराजय द्वारा किया गया था। यही संवत् बाद में विक्रम

—१५

संवत् के नाम से आज तक भारत में प्रचलित है। इस संवत् का विक्रम संवत् नाम से उल्लेख पहले-पहल नवीं सदी में शुरू हुआ। पहले इस संवत् का प्रयोग 'मालवगण-स्थित्या' रूप से ही होता था। मालवों द्वारा शकों की पराजय और मालवगण की पुनःस्थिति एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना थी, कि उससे एक नये संवत् का भारत में प्रारम्भ हुआ।

समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में मालव गण का परिगणन भी यौधेय, मद्रक और आर्जुनायन गणों के साथ किया गया है, जिससे सूचित होता है कि गुप्त साम्राज्य के काल में इस गण की भी अधीनस्थ राज्य के रूप में सत्ता कायम रही थी। पर पाँचवीं सदी से इस गण के सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। भारत के अन्य गण-राज्यों के समान मालव गण भी इस काल में सदा के लिए लुप्त हो गया था।

(४) **आर्जुनायन**—पाणिनि की अष्टाध्यायी व गणपाठ में आर्जुनायन गण का उल्लेख नहीं मिलता, और न ही पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में ही उसका उल्लेख किया है। पर पाणिनि के एक सूत्र (२।४।६६) पर वृत्ति लिखते हुए काशिकाकार ने महाभाष्य के 'औद्दालकायन' के स्थान पर आर्जुनायन उदाहरण दिया है, जिससे सूचित होता है कि बाद के काल में यह गण भी इतिहास के रंग-मंच पर प्रगट हो गया था। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में भी आर्जुनायन गण का उल्लेख है, और गुप्त साम्राज्य में उसकी वही स्थिति थी, जो कि यौधेय व मालव आदि गणों की थी। सम्भवतः, इस गण की स्थापना भी मौर्य साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने के समय में हुई थी। इसके जो सिक्के वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं, उन पर 'आर्जुनायनस' (आर्जुनायन का) या 'आर्जुनायन जय' ये शब्द अंकित हैं। इन सिक्कों को १०० ई० पू० के लगभग का माना जाता है। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में आर्जुनायन गण को मालव और यौधेय के बीच में रखा गया है, जिससे यह अनुमान किया गया है कि इस गण की स्थिति मालवों और यौधेयों के बीच के प्रदेश में थी।

(५) **शिवि**—ग्रीक विवरणों में सिबोई (Siboi) नाम के जनपद का उल्लेख है, जिनका प्रदेश मालव गण के समीप था। सिकन्दर का इस जनपद के साथ भी युद्ध हुआ था। मालवों के समान सिबोई या शिवि लोग भी पहले वाहीक (पंजाब) देश में निवास करते थे, पर बाद में राजपूताना में जा बसे थे। इस गण के सिक्के राज-पूताना में तम्बावती नगरी (चित्तौड़ से ११ मील उत्तर में) के पुराने भग्नावशेषों में अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। इनमें से कुछ सिक्कों पर 'मझमिकाय सिवि-जनपदस' लेख अंकित है। मझमिका (माध्यमिका) एक नगरी का नाम है, और सिवि (शिवि) जनपद का। सम्भवतः, शिवि जनपद के प्रधान नगर का नाम माध्य-मिका था, जिसके भग्नावशेष इस समय तम्बावती नगरी में विद्यमान हैं। शिवि जनपद के इन सिक्कों को दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के लगभग का माना जाता है। इसमें संदेह

नहीं कि मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर जब उत्तर-पश्चिमी भारत पर यवनों और शकों के आक्रमण प्रारम्भ हुए, तो शिवि लोग भी मध्य पंजाब के अपने अभिजन को छोड़कर राजपूताना में जा बसे, और वहाँ माध्यमिका नगरी को केन्द्र बनाकर उन्होंने गणराज्य की स्थापना की।

(६) **औदुम्बर**—पाणिनि के गणपाठ में औदुम्बर देश का भी परिगणन किया गया है,[१] जहाँ सम्भवतः गण शासन की सत्ता थी। पर इस गण के सम्बन्ध में अधिक परिचय उन सिक्कों द्वारा प्राप्त होता है, जो कि उत्तरी पंजाब से अच्छी बड़ी संख्या में मिले हैं। पठानकोट, कांगड़ा, होशियारपुर आदि जिलों से इस गण के सिक्के प्राप्त हुए हैं, जो इस गण की भौगोलिक स्थिति को सूचित करते हैं। इन सिक्कों को १०० ई० पू० के लगभग का माना जाता है। औदुम्बर गण के सिक्कों पर तीन प्रकार के लेख अंकित है—(१) कुछ सिक्कों पर केवल 'औदुम्बर' अंकित है। (२) कुछ सिक्कों पर 'औदुम्बर' के अतिरिक्त किसी राजा का नाम भी अंकित है, जैसे 'महादेवस राञ धर घोषस औदुम्बरिस'। (३) कुछ सिक्कों पर केवल किसी राजा या अन्य व्यक्ति का नाम अंकित है। औदुम्बर गण के ये सिक्के खरोष्ठी लिपि में हैं, जो ईस्वी सन् के पहले की सदियों में पंजाब के क्षेत्र में भली भाँति प्रचलित थी। औदुम्बर गण के प्रधान या राजा वंशक्रमानुगत नहीं होते थे, पर अन्य राजशब्दोपजीवि गणों के प्रधानों के समान उनकी संज्ञा संभवतः राजा ही होती थी।

(७) **कुणिन्द**—पाणिनी के गणपाठ में कुलुन नाम के एक जनपद का उल्लेख है।[२] महाभारत के सभा पर्व में भी कुलिन्द का एक 'विषय' (देश) के रूप में निर्देश मिलता है। सम्भवतः, पाणिनि का कुलुन और महाभारत का कुलिन्द उसी गणराज्य को सूचित करता है, जिसके कुणिन्द नाम के सिक्के सहारनपुर, अम्बाला और मेरठ जिलों से अच्छी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के माने जाते हैं। सम्भवतः, कुणिन्द गण की स्थिति शिवालक पर्वतमाला की उपत्यका के प्रदेश में थी, और इसीलिए इसके सिक्के सहारनपुर और अम्बाला के क्षेत्र में अधिक मिलते हैं। विष्णुपुराण में 'कुलिन्दोपत्यकः' शब्द का प्रयोग होना भी इसी बात को सूचित करता है। इस गण के सिक्कों पर कुणिन्दों के शासकों व राजाओं के लिए 'अमोघभूति' विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिससे इनकी शासन-पद्धति के सम्बन्ध में कुछ अनुमान किया जा सकता है।

(८) **वृष्णि**—वृष्णि भारत का अत्यन्त प्राचीन गण था, जिसका उल्लेख महाभारत में आया है। कृष्ण वृष्णि संघ के ही 'संघ-मुख्य' थे। अन्धक और वृष्णिगणों ने परस्पर मिलकर अपना एक संघ बनाया हुआ था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी अन्धक

१. पाणिनि ४।२।५२
२. पाणिनि ४।१।१७३

वृष्णि का उल्लेख मिलता है,[1] और कौटलीय अर्थशास्त्र में भी 'वृष्णिसंघ' का जिक्र है, जिसने कि अपने शासक द्वैपायन को बहिष्कृत कर दिया था।[2] भारत के अन्य प्राचीन गणराज्यों के समान वृष्णिगण भी मगध के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया था, और मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर जब अनेक गणराज्यों का पुनरुत्थान हुआ, तो वृष्णि गण भी उनमें एक था। इस गण के भी कुछ सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें दूसरी सदी ई० पू० के लगभग का माना जाता है। एक सिक्के पर यह लेख अंकित है—"वृष्णिराजन्यगणस्य त्रातस्य"। यह सिक्का स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि वृष्णि राजन्यों के गण की सत्ता थी, और यह सिक्का इसी गण द्वारा जारी किया गया था।

(९) **राजन्य**—पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'राजन्य' नाम के एक गण का उल्लेख है,[3] जिसकी सत्ता महाभारत से भी सूचित होती है। मागध साम्राज्य के विकास के कारण यह गण भी अपनी स्वतन्त्रता को खो चुका था, पर दूसरी सदी ई० पू० में इसका भी पुनरुत्थान हुआ। मथुरा और होशियारपुर जिलों में इस गण के सिक्के पाये गए हैं, जिन पर "राजन्य जनपदस" शब्द अंकित हैं। ये सिक्के खरोष्ठी लिपि में हैं, और इन्हें दूसरी सदी ई० पू० का माना जाता है।

(१०) **महाराज**—यह भी एक प्राचीन गणतन्त्र जनपद था, जिसका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है।[4] इस गण के सिक्के भी पंजाब में उपलब्ध हुए हैं, जो दूसरी सदी ई० पू० के लगभग के हैं। फीरोजपुर (पंजाब) जिले की मोगा तहसील में इस समय भी एक परगना है, जिसका नाम 'महाराज' है। सम्भवतः, इसी प्रदेश में प्राचीन समय में महाराज जनपद की स्थिति थी। इस जनपद के सिक्कों पर "महाराज जनपदस" अंकित है, और ये ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों लिपियों में मिलते हैं। इन सिक्कों पर चन्द्रमा और नन्दी के चिन्ह भी अंकित हैं, जिनसे इनका शैव धर्म का अनुयायी होना सूचित होता है।

(११) **आग्रेय**—ग्रीक विवरणों में 'अगलस्सि' जनपद का उल्लेख है, जिसके साथ सिकन्दर का घनघोर युद्ध हुआ था। हम पहले लिख चुके हैं, कि अगलस्सि आग्रेय गण को सूचित करता है, जिसका उल्लेख महाभारत में भी किया गया है। पंजाब के अन्य गणतन्त्र जनपदों के समान आग्रेय गण भी ग्रीक और मागध साम्राज्यवाद का शिकार हो गया था। पर मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर इसकी स्वतन्त्र सत्ता का भी पुनरुद्धार हुआ। हिसार जिले में अगरोहा नामक प्राचीन स्थान

---

१. पाणिनि ६।२।३४

२. "वृष्णिसंघश्च द्वैपायनमिति।" कौ० अर्थ० १।६

३. पाणिनि ४।२।५३

४. पाणिनि ४।३।९७

की खुदाई द्वारा इसके भी सिक्कों और मुहरों की प्राप्ति हुई है, जिन पर "अग्रजनपदस्य" आदि लेख अंकित है। ये सिक्के भी ईस्वी सन् के आरम्भ होने से पहले के माने जाते हैं।

(१२) **लिच्छवि**—उत्तरी बिहार में स्थित इस गण का उल्लेख पहले किया जा चुका है, जिसे भेद-नीति का आश्रय लेकर मगध के सम्राटों ने अपने अधीन कर लिया था। तीसरी सदी ईस्वी के अन्त में जब मगध में गुप्त वंश के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, तो उस क्षेत्र में लिच्छवि गण ही सबसे अधिक शक्तिशाली था। इस गण का पुनरुत्थान सम्भवतः कुशाण साम्राज्य के क्षीण होने पर हुआ था, क्योंकि मौर्यों के बाद मगध के समीपवर्ती प्रदेशों में शुङ्ग, कण्व और फिर सातवाहन वंशों का आधिपत्य कायम रहा था। पर जब कुशाण साम्राज्य के विरुद्ध भारतीय राजशक्तियाँ प्रबल होने लगीं, तो लिच्छवियों को भी अपने प्राचीन गण के पुनरुद्धार का अवसर मिल गया, और उन्होंने उत्तरी बिहार में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। गुप्त वंश के राजा चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने उत्कर्ष के लिए लिच्छवियों का सहयोग प्राप्त किया था, और इस सहयोग को स्थिर करने के लिए एक लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह भी किया था। इसी कारण उसके कुछ सिक्कों पर 'चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी' दोनों के नाम अंकित हैं, और सिक्के के दूसरी ओर 'लिच्छवयः' शब्द भी पाया जाता है।

मौर्योत्तर काल के इन गणराज्यों का परिचय केवल सिक्कों व शिलालेखों से ही नहीं मिलता, अपितु साहित्यिक आधार पर भी इनकी सत्ता सूचित होती है। मालव, शिवि सदृश गण पहले मध्य पंजाब में थे, पर मौर्योत्तर युग में राजस्थान की मरुभूमि में चले आये। पुराने साहित्य (पाणिनि की अष्टाध्यायी आदि) की साक्षी वाहीक देश में इनकी स्थिति को सूचित करती है। महाभारत के कतिपय सन्दर्भ भी यही निर्दिष्ट करते हैं, कि ये गण मध्य-पंजाब में स्थित थे।[1] पर वहाँ ऐसे सन्दर्भ भी हैं, जिनसे सूचित होता है कि मालव, शिवि और त्रिगर्त की स्थिति मरुदेश (राजस्थान) में थी।[2] सम्भवतः, इन सन्दर्भों का निर्माण उस समय में हुआ था, जबकि ये गणराज्य मध्य-पंजाब के अपने पुराने अभिजन का परित्याग कर राजस्थान में चले आये थे। कुणिन्द या कुलिन्द गण की सत्ता वराहमिहिर की बृहत्संहिता से भी सूचित होती है, जहाँ उसके निवासियों का गणपुंगव कौलिन्द कहा गया है।[3]

गणराज्यों का अपने अभिजन का परित्याग कर किसी नये प्रदेश में बस जाना कोई असम्भव या अद्भुत बात नहीं है। प्राचीन ग्रीक इतिहास में भी ऐसे अनेक उदा-

१. महाभारत, सभापर्व ५२।१४
२. महाभारत, सभापर्व, अ० ३२
३. "कौलिन्दान् गणपुङ्गवान्।" बृहत्संहिता ४।२४

हरण पाये जाते हैं, जब कि वहाँ के नगर-राज्य या उनके निवासियों का बड़ा भाग अन्यत्र जा बसे थे।

भारत के इतिहास में यह बात महत्त्व की है, कि यवन, शक, पार्थियन व कुशाण आक्रान्ताओं से अपने देश की रक्षा करने के लिए इन गणराज्यों ने अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। जब मागध साम्राज्य के मौर्यवंशी सम्राट् विदेशी आक्रमणों की बाढ़ को रोक सकने में असमर्थ हो गये, तो इन गण-राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता का पुनरुद्धार करके इन विदेशी आक्रान्ताओं से लोहा लिया। उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण करने वाले यवन लोग जो दूर तक भारत में अपनी सत्ता को स्थायी रूप से स्थापित नहीं कर सके, उसका प्रधान कारण मध्य व पूर्वी पंजाब के यौधेय, कुणिन्द, आर्जुनायन, मद्र आदि गणों को ही दिया जाना चाहिये। इन्होंने यवनों की बाढ़ को रोकने के लिए मजबूत दीवार का काम किया। इसी कारण यौधेय जैसे गणों की वीरता सब क्षत्रियों में प्रसिद्ध हो गई। शकों ने यौधेय, मालव, शिवि आदि गण-राज्यों के साथ घनघोर युद्ध किये, अनेक बार उन्होंने इन्हें परास्त भी किया। पर अन्त में वे इन से पराजित हो गये। कनिष्क-जैसे प्रतापी कुशाण सम्राट् भी इन गण-राज्यों का उच्छेद नहीं कर सके। गुप्त साम्राज्य के विकास के समय (तीसरी सदी ईस्वी) में ये गण स्वतन्त्र रूप से विद्यमान थे, और समुद्रगुप्त जैसा दिग्विजयी सम्राट् भी इनसे अधीनता स्वीकार कराके ही संतुष्ट हो गया था। पाँचवीं सदी में जब हूणों ने भारत पर आक्रमण शुरू किये, तब ये गणराज्य अपनी स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता को कायम नहीं रख सके। हूणों के आक्रमण न केवल भारतीय इतिहास में अपितु पाश्चात्य संसार के इतिहास में भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके सम्मुख किसी भी राजशक्ति का टिक सकना सम्भव नहीं था। गुप्त साम्राज्य का ह्रास उन्हीं के आक्रमणों से हुआ। पश्चिम में रोमन साम्राज्य का उन्होंने अन्त किया, और भारत के गणराज्य भी उन्हीं के द्वारा अन्तिम रूप से नष्ट किये गये। पाँचवीं सदी के बाद उनकी सत्ता के कोई भी निर्देश हमें उपलब्ध नहीं होते।

(३) राजतन्त्र राज्यों की शासन-संस्थाएँ

मौर्यवंश के बाद भी मागध साम्राज्य के शासन का स्वरूप प्रायः वही रहा, जो कि मौर्यों के समय में था। अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य जिन पाँच चक्रों में विभक्त था, उनमें से उत्तरापथ (राजधानी-तक्षशिला), कलिंग (राजधानी-तोसाली) और दक्षिणापथ (राजधानी-सुवर्णगिरि) अशोक के उत्तराधिकारियों के समय में ही मागध साम्राज्य से निकल गये थे। पुष्यमित्र शुङ्ग ने मगध की शक्ति को सँभालने का प्रयत्न किया, पर वह भी इन सुदूरवर्ती चक्रों को अपनी अधीनता में नहीं ला सका। सम्भवतः, पश्चिम चक्र (राजधानी-उज्जैनी) भी इस समय मागध साम्राज्य में सम्मि-

लित नहीं रहा था, और मगध का साम्राज्य केवल उसी प्रदेश तक सीमित रह गया था, जिसे प्राचीन-काल में 'मध्यदेश' कहा जाता था। इसका शासन शुङ्ग व कण्व वंशों के राजा प्रायः उसी प्रकार से करते थे, जैसे कि मौर्य-वंशी राजा। ये भी एक-तन्त्र शासक थे, जो स्वयं अपने द्वारा नियुक्त किये हुए मन्त्री, पुरोहित आदि मन्त्रिवर्ग की सहायता व परामर्श से शासन-सूत्र का संचालन करते थे। मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियों को प्रायः मौर्योत्तर काल का ही माना जाता है। महाभारत का वर्तमान रूप भी इसी काल की कृति है। अतः पुराने परम्परागत विचारों और शासनसंस्थाओं के अतिरिक्त इस युग की छाया भी उस पर विद्यमान है।

मनुस्मृति के अनुशीलन से राज्यशासन के सम्बन्ध में जो बातें ज्ञात होती हैं, उनको इस युग का समझा जा सकता है। शुङ्ग, कण्व और सातवाहन वंशों के राजा बौद्ध या जैन न होकर पुरानी वैदिक परम्परा पर आश्रित भागवत व शैव धर्मों के अनुयायी थे। मनु के अनुसार केवल ऐसे व्यक्ति ही सेनापति, राजा, दण्डनेता व सर्व-लोकाधिपति होने के योग्य हो सकते हैं, जो वेद और शास्त्र के वेत्ता हों।[1] राजा का मुख्य कार्य यही है कि वह सब वर्णों और आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थिर रखे। राजा ही दण्डशक्ति का प्रतीक है, वही नेता और शासिता है।[2] सनातन दण्डनीति का शास्त्रानुकूल रूप से प्रयोग करके ही राजा भली भाँति शासन कर सकता है। यदि दण्ड का सम्यक् प्रकार से प्रयोग किया जाए, तो राजा प्रजा का रंजन करने में समर्थ होता है, यदि उसका सम्यक् प्रकार से प्रयोग न किया जाए, तो सर्वत्र विनाश हो जाता है।[3] दण्ड का तेज महान् है, उसका धारण अधर्मात्मा व अविद्वान् व्यक्ति नहीं कर सकता। जो राजा धर्म से विचलित होता है, बन्धुबान्धवों के साथ दण्ड ही उसका विनाश कर देता है।[4] मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को इसी कारण सेनानी पुष्यमित्र ने पदच्युत किया था, और उसकी हत्या भी की थी, क्योंकि वह 'प्रतिज्ञा दुर्बल' था। राजसिंहासन पर आरूढ़ होते समय प्रजा के रंजन व धर्मानुसार शासन करने की जो प्रतिज्ञा राजा को करनी होती थी, उसका पालन वह नहीं कर सका था।[5]

१. 'सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥' मनु० १२।१००

२. 'स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ मनु० ७।१७

३. समीक्ष्य च धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥' मनु० ७।१९

४. दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलिते हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥' मनु० ७।२८

५. प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शन व्यपदेश दर्शिताशेष सैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्।"

हर्षचरितम्

मनु के अनुसार राजा के लिए जहाँ वेद का ज्ञाता व धर्म का पालक होना आवश्यक है, वहाँ साथ ही उसे इन्द्रियजयी भी होना चाहिए। जितेन्द्रिय हुए बिना प्रजा को वश में नहीं रखा जा सकता।[1] काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर उसे विजय करनी चाहिए। पर राजा चाहे कितना ही योग्य व शक्ति-सम्पन्न हो, वह अकेला राज्य का संचालन नहीं कर सकता। अतः उसे अपनी सहायता के लिए सचिव या मन्त्री भी नियुक्त करने चाहिएँ, जिनकी संख्या सात या आठ हो। मन्त्री ऐसे हों, जो कि 'मौल' या अपने देश के हों।[2] इनके अतिरिक्त विविध विभागों के अध्यक्षों को भी नियुक्त किया जाए, जो राज्यकार्य का संचालन करें। प्रत्येक ग्राम का एक अधिपति (ग्रामिक) हो, और फिर दस, बीस, सौ और हज़ार ग्रामों के अधिपति (दशेश, विंशतीश, शतेश और सहस्रपति) नियत किये जाएँ। ग्रामिक का यह कर्तव्य हो कि ग्राम में जो दोष उत्पन्न हों, उनकी सूचना दशेश को दे, दशेश विंशतीश को, विंशतीश शतेश को, और शतेश सहस्रपति को। ग्राम सम्बन्धी सब कार्यों के लिए राजा को एक पृथक् सचिव की नियुक्ति करनी चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक नगर का एक 'सर्वार्थचिन्तक' अधिकारी नियत किया जाए।[3]

मनुस्मृति में प्रतिपादित यह शासनव्यवस्था प्रायः वैसी ही है, जैसी कि कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से सूचित होती है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि मौर्योत्तर युग में भी शासन का प्रायः वही प्रकार विद्यमान था, जो कि मौर्ययुग में था। बंगाल की खाड़ी से लगाकर मथुरा व उससे भी परे तक विस्तीर्ण शुङ्ग साम्राज्य में भी बहुत-से प्राचीन जनपद अन्तर्गत थे। इनका शासन पुरानी परम्परा के अनुसार ही होता था। ग्राम संघ और जनपद संघ इस युग में भी विद्यमान थे। अनेक जनपदों के अपने पृथक् राजा भी थे, जिनकी स्थिति शुंग सम्राटों के अधीनस्थ राजाओं की थी। इस प्रकार के दो सामन्त राजाओं, अहिच्छत्र के इन्द्रमित्र और मथुरा के ब्रह्ममित्र के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। जनपदों के परम्परागत धर्म, व्यवहार और चरित्र अब भी अक्षुण्ण थे। इसीलिए मनु ने प्रतिपादित किया है कि "जाति जानपद धर्मों, श्रेणी धर्मों और कुल धर्मों को देखकर ही धर्मवित् (धर्मस्थ) अपने धर्म को प्रतिपादित करे।" और 'जो ग्राम-देश-संघों की संविद् को लोभ के वशीभूत होकर तोड़े, उसे देश से बहिष्कृत कर दिया जाए।' मनुस्मृति के ये निर्देश स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं, कि ग्रामों और जनपदों का परम्परागत चरित्र व कानून इस युग में भी पूर्णतया सुरक्षित था, और उसे राज्य के कानून का अंग माना जाता

१. 'इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवा निशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥' मनु० ७।४३
२. 'मौलान् शास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥' मनु० ७।५४
३. मनुस्मृति ७।११०-११७

था। जनपदों की पौर-जानपद सभाएँ भी इस युग में विद्यमान थीं, और राजाओं ने उन्हें नष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। भारत के 'मौल' राजवंशों की तो बात ही क्या, शक विजेताओं द्वारा अधिकृत प्रदेशों में भी ये पौर-जानपद सभाएँ कायम थीं। शक क्षत्रप रुद्रदामा ने गिरनार के अपने शिलालेख में लिखा है—"पौर जानपद जन को कर, विष्टि (बेगार), प्रणय (धनियों से ली गई प्रणय भेंट) आदि से पीड़ित किये बिना अपने ही कोश से विपुल धन लगाकर थोड़े ही काल में तीन गुना दृढ़तर···सेतु बनवाकर····सुदर्शनतर कर दिया। महाक्षत्रप के मति सचिवों (परामर्श देने वाले सचिवों) और कर्मसचिवों (कार्यकारी मन्त्रियों) की, यद्यपि वे सब अमात्य गुणों से युक्त थे तो भी दराड़ के बहुत बड़ा होने से अनुत्साह के कारण सहमति नहीं रही। आरम्भ में उनके इसका विरोध करने पर फिर से सेतु-बँधने की आशा न रहने से प्रजा में हाहाकार मच जाने पर, इस अधिष्ठान में पौर-जनपदों के अनुग्रह के लिए सम्पूर्ण आनर्त और सुराष्ट्र के पालन के लिए राजा की ओर से नियुक्त पल्हव कुलैप के पुत्र अर्थ, धर्म और व्यवहार को ठीक-ठीक देखते हुए प्रजा का अनुराग बढ़ाने वाले शक्त दान्त अचपल अविस्मित··अमात्य सुविशाख ने··· भर्ता का धर्म और कीर्ति बढ़ाते हुए बनवाया। इति।"

शक, पल्हव (पर्थियन) आदि विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा शासित प्रदेशों में भी भारत की प्राचीन शासनव्यवस्था की परम्परा किस प्रकार सुदृढ़ रूप से कायम थी, इसकी एक झलक रुद्रदामा के इस शिलालेख से हमें मिल जाती है। इससे निम्न-लिखित बातें सूचित होती हैं—(१) जनपदों के शासन में पौर-जानपद सभाएँ अब भी कायम थीं। इन सभाओं पर हम आगे एक अध्याय में अधिक विशद रूप से विचार करेंगे। (२) शक क्षत्रप द्वारा नियुक्त विदेशी (पल्हव) शासक भी अपने क्षेत्र का शासन करते हुए धर्म, अर्थ और व्यवहार का भलीभाँति पालन करते थे। शक, यवन, पल्हव आदि विदेशी अक्रान्ताओं ने न केवल भारतीय धर्म और संस्कृति को ही अपना लिया था, अपितु भारत की परम्परागत शासन संस्थाओं व राज्य सम्बन्धी विचारों को भी अक्षुण्ण रखा था।

विदेशी आक्रमणों के समय जब भारत के मौर्य, शुङ्ग व कण्ववंशी राजा इन अक्रान्ताओं से देश की रक्षा करने में असमर्थ रहे, तो यहाँ के विचारक इन राजाओं के सम्बन्ध में क्या अनुभव करते थे, यह मनु के इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—"जिस राजा और उसके कर्मचारियों के देखते हुए चीखती-पुकारती प्रजा को दस्यु लोग पकड़ ले जाते हैं, वह मरा हुआ है, जीवित नहीं है।"[1] निर्बल मागध राजाओं का इससे अधिक दुर्दशाग्रस्त वर्णन सम्भव ही नहीं है।

१. 'विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति।' मनु० ७।१४३

बारहवाँ अध्याय

प्राचीन भारत की कतिपय महत्त्वपूर्ण शासन-संस्थाएं

(१) पौर-जानपद

प्राचीन भारत में 'जनपद' का क्या स्वरूप था, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में विशद रूप से विचार किया जा चुका है। ग्रीस और इटली के प्राचीन इतिहास में जिन्हें नगर-राज्य (city states) कहा जाता है, उन्हीं को प्राचीन भारत में जनपद कहते थे। प्राचीन समय में भारत बहुत से जनपदों में विभक्त था, जिनमें से कुछ में राजतन्त्र शासन की सत्ता थी, और कुछ में गण शासन की। वैदिक और उत्तर-वैदिक युगों में एक जनपद के सब निवासी प्रायः 'सजात' और 'सनाभि' होते थे, और यह 'सजात विशः' समिति में एकत्र होकर अपने राजा का वरण करती थी, और अन्य राज्यकार्य की देखभाल करती थी। सभा नाम की एक अन्य संस्था भी इन युगों में विद्यमान थी, जिसमें 'विशः' के कतिपय प्रमुख व्यक्ति (ग्रामणी, पितर या कुलवृद्ध आदि) सम्मिलित होते थे। जब आर्य 'विशः' या 'जन' स्थायी रूप से एक निश्चित प्रदेश पर बस गए, तो उसके विविध ग्राम भी 'अनवस्थित' न रहकर अवस्थित हो गये, और जनपद की रक्षा के लिए यह आवश्यक व उपयोगी हो गया कि एक ऐसे नगर का निर्माण किया जाए, जहाँ से जनपद के शासनकार्य का संचालन किया जा सके, जहाँ जनपद के प्रमुख व्यक्तियों (शिल्पियों, व्यापारियों व शासक वर्ग आदि) का निवास हो, और संकट के समय जहाँ सर्वसाधारण विशः भी आश्रय पा सकें। इस प्रयोजन से नगर का निर्माण एक दुर्ग के रूप में किया जाता था। जनपद की राजधानी यह नगर ही होता था। इस प्रकार जनपद (वैदिक युग का राष्ट्र) के दो विभाग होते थे—नगर (राजधानी) या पुर और जनपद। शासन की दृष्टि से इस विभाग का बहुत महत्व था। क्योंकि नगर जनपद के राजनीतिक जीवन का प्रधान केन्द्र था, अतः शासन में उसका महत्वपूर्ण स्थान था।

धीरे-धीरे जनपदों का आकार अधिक विशाल होता गया। उनमें 'सजात विशः' के अतिरिक्त ऐसे लोग भी निवास करने लगे, जिनकी उस जनपद के प्रति भक्ति (allegiance) तो थी, पर वह जिनका अभिजन नहीं था। जनपद के शासक

'राजन्यों' से ये निवासी भिन्न थे। साथ ही, जनपद के क्षेत्र में अन्य नगरों का भी विकास होने लगा, जिसके कारण राजधानी के लिए भिन्न संज्ञा की आवश्यकता हुई। पहले नगर शब्द का प्रयोग राजधानी के लिए ही होता था, पर बाद में एक ही जनपद में अनेक नगरों की सत्ता के कारण मुख्य नगर या राजधानी के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त होने लगा। इस स्थिति में जनपद की शासन संस्थाओं में भी परिवर्तन आया। अधिक बड़े आकार के और 'सजात विशः' से भिन्न निवासियों वाले जनपदों में अब दो नई शासन-संस्थाओं निर्माण हुआ, जिन्हें प्राचीन साहित्य में 'पौर-जानपद' शब्दों से कहा गया है। इस ग्रन्थ में हमने अनेक बार पौर-जानपद का उल्लेख किया है, पर इनके सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विचार की आवश्यकता है।

अनेक विद्वान् 'पौर' से पुर के निवासियों और 'जानपद' से जनपद के निवासियों का अर्थ लेते रहे हैं। पर श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिन्दू पोलिटी' में इन शब्दों पर बड़े विस्तार के साथ विचार कर यह परिणाम निकाला है, कि पौर और जानपद दो सभाओं की संज्ञा थी, जो राजा को पदच्युत कर सकती थीं; उसके स्थान पर नया राजा नियुक्त करती थीं; मन्त्रि परिषद् जो नीति निर्धारित करे, उसकी सूचना जिनके अध्यक्ष को दिया जाना आवश्यक था; जब राजा ने कोई नया टैक्स लगागा हो तो जिनके सम्मुख वह उसकी स्वीकृति व अनुमति के लिए सविनय उपस्थित होता था; प्रधान मन्त्री के प्रति जिनका विश्वास होना आवश्यक समझा जाता था; सार्वजनिक घोषणाओं में जिनको प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता था; जिनके क्रोध से प्रान्तीय शासक अपदस्थ हो सकते थे, जो ऐसे कानून भी बना सकती थीं जो कि राजा के विरुद्ध हों; और जो प्रतिकूल होने पर राजा के शासन-कार्य को असम्भव कर सकती थी।[1] जायसवाल जी ने जिस ढंग से पौर-जानपद सभाओं का निरूपण किया है, उससे सूचित होता है कि यह प्राचीन भारत की पार्लियामेंट थी, जो राज्यशासन के सम्बन्ध में प्रायः वही स्थिति रखती थी जो कि संसद् प्रणाली वाले राज्यों में आजकल पार्लियामेंट को प्राप्त है।

पौर-जानपद का अभिप्राय केवल पुर व जनपद के निवासियों से ही नहीं है, अपितु वे सुनिश्चित शासन-संस्थाएँ व सभाएँ थीं, यह तो प्रायः स्पष्ट ही है। इसको सूचित करने वाले निर्देशों का उल्लेख इस ग्रन्थ में पहले किया जाता रहा है। उन्हें यहाँ फिर से निर्दिष्ट करना उपयोगी होगा।

(१) रामायण के अनुसार जब कोशल जनपद के राजा दशरथ ने भारत के पुराने राजाओं की परम्परा का अनुसरण कर राम को अपना उत्तराधिकारी नियत करना चाहा, तो उन्होंने एक परिषद् बुलाई, जिसमें 'पौर-जानपद जन' भी सम्मिलित हुए। राजा को वरण करने वाली इस परिषद् में ब्राह्मण, बलमुख्य और

१. Jayaswal : Hindu Polity II, p. 108

'पौर-जानपद' उपस्थित थे। परिषद् में दशरथ के प्रस्ताव का उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया, और पौर-जानपदों सहित परिषद् के सदस्यों ने दशरथ के प्रस्ताव का समर्थन किया। इस प्रसंग में रामायण के एक श्लोक में कहा गया है—'पौर, जानपद और नैगम करबद्ध हो राम के राज्याभिषेक की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"[1] नैगम का अर्थ है, निगम (व्यापारियों का समूह या संगठन) का प्रधान। जिस प्रकार नैगम राम के अभिषेक की प्रतीक्षा में है, वैसे ही पौर और जानपद भी हैं। इससे सूचित होता है, कि नैगम के समान पौर और जानपद भी यहाँ केवल पुर व जनपद निवासियों की ही संज्ञा नहीं है, अपितु वे शब्द एक सुनिश्चित संस्था का निर्देश करते हैं। दशरथ की जिस परिषद् में राम को राजा के पद पर वरण करने का निश्चय हुआ था, उसमें पौर और जानपद सभाओं के सदस्य भी उपस्थित थे, यही इस विवरण से सूचित होता है।

(२) महाभारत के शान्तिपर्व में एक संदर्भ है, जो पौर-जानपद के स्वरूप व कार्यों पर अच्छा प्रकाश डालता है। आपत्ति की आशंका से जब राजा कोश में धन संचित करना चाहे, तो उसे चाहिये कि वह संश्रित (अधिवेशन में एकत्र) और उपाश्रित (जो विश्राम कर रहे हों) सब प्रकार के पौर-जानपदों, चाहे वे धनी न भी हों, के प्रति अनुकम्पा प्रदर्शित करे।[2] धन की माँग पेश करने से पूर्व उनके सम्मुख राष्ट्र व अपने देश के सम्बन्ध में भय प्रदर्शित करने वाला भाषण दिया जाए। हमारे सामने यह आपत्ति उपस्थित है, शत्रु की ओर से महान् भय है। जैसे बाँस पर फल लगने से भय की आशंका होती है, वैसे ही अब हमारा अन्त सम्भावित है। मेरे शत्रु बहुत-से दस्युओं के साथ उठ खड़े हुए हैं, और वे राष्ट्र को हानि पहुँचाना चाहते हैं, चाहे इससे उनका ही अपना नाश हो जाए। इस घोर आपत्ति के समय जब कि एक दारुण भय सिर पर आ पहुँचा है, आपके अपने परित्राण के लिए मैं आपसे धन की प्रार्थना करता हूँ। ज्यों ही भय के काल का अन्त हो जायगा, मैं आपका धन वापस लौटा दूँगा। पर शत्रु लोग बल का प्रयोग कर जो कुछ हर ले जायंगे, उसे वे वापस नहीं लौटायेंगे। वे तो कलत्र (पत्नी) से लगाकर आपका सब कुछ विनाश कर देंगे। मेरे धनसञ्चय का प्रयोजन यही है, कि आपके शरीर, पुत्र और स्त्रियों की रक्षा हो। आपकी सुख-समृद्धि से मुझे उसी प्रकार प्रसन्नता होती है, जैसे कि अपने सन्तान की सुख-समृद्धि से। आप जो कुछ यथाशक्ति दे सकें, जिससे कि राष्ट्र को पीड़ा न पहुँचे, वही मैं स्वीकार कर

१. "उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौर-जानपदाश्चापि नैगमश्च कृतांजलिः ॥"
रामायण २।१४।५४

२. "आपदर्थं च निचयान् राजानो हि विचिन्वते।
पौरजानपदान्सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथा शक्त्यनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनान्यपि ॥ महा० शान्ति० ७८।२३-२४

लूंगा। आप जो यहाँ संगत (सभा में एकत्र) हैं, उन्हें आपत्ति के समय बोझ उठाना ही चाहिये। आपत्ति के अवसर पर आपको धन से प्रेम नहीं करना चाहिए।[1]

महाभारत के इस संदर्भ में राजा द्वारा दिये गये एक ऐसे भाषण का निर्देश है, जिसमें वह पौर-जानपद के सम्मुख धन की मांग प्रस्तुत करता है। यह मांग पुर-निवासियों या जनपद निवासियों के सम्मुख पेश नहीं की गई है, अपितु ऐसे पौरों व जानपदों के सम्मुख रखी गई है, जो कि 'संगत' हैं, और जिन में से कुछ संश्रित हैं और कुछ उपाश्रित।

(३) कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर पौर-जानपद का उल्लेख आया है। राजा अपने कोश को किस प्रकार से पूर्ण करे, इसका विवेचन करते हुए कौटल्य ने पहले विशेष परिस्थितियों में विशेष करों का जिक्र किया है। फिर यह लिखकर कि ऐसी मांगें केवल एक बार ही करनी चाहियें, बार-बार नहीं, यह लिखा है—"समाहर्ता कार्य (प्रयोजन) का निर्देश करके पौर-जानपद से भिक्षा ले (भिक्षा के रूप में मांग पेश करे)"[2] "राजा ऐसे अनुग्रह और परिहार (टैक्स में छूट) दे, जो कि कोश में वृद्धि करने वाले हों। जिनसे कोश को हानि पहुँचती हो, ऐसे न दे। अल्प कोश वाला राजा पौर जानपद को ही ग्रसता है।"[3]

लब्धप्रशमनम् (जीते हुए जनपदों की व्यवस्था) प्रकरण में कौटल्य ने लिखा है, कि जीते हुए जनपद का शासक विजेता राजा को संतुष्ट व प्रसन्न करने के लिए

---

१. प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः।
सन्निपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत्॥
इयमापत्समुत्पन्ना पर चक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः॥
अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्म वधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितम्॥
अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वा॥
प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः॥
कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
शरीर पुत्रदारार्थं मर्थ सञ्चय इष्यते॥
नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये।
यथा शक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः॥
आपत्स्वेव निबोढव्यं भवद्भिः संगतैरिह।
न वः प्रियतरं कार्यं धनं कस्यांचिदापदि॥ महा० शान्ति० ७८।२६-३४

२. "तस्याकरणे वा समाहर्ता कार्यमपदिश्य पौरजानपदान् भिक्षेत।" कौ० अर्थ० ५।२

३. कौ० अर्थ० २·१

जब कोश व सेना से उसकी सहायता करना चाहता है, तो इस बात की आशंका रहती है कि पौर जानपद कुपित हो जाएँ, और कुपित न न होकर उसका (विजित जनपद के शासक का) घात न कर दें।[1]

कौटल्य ने जहाँ राजा की दिनचर्या दी है, उसमें पौर जानपद के कार्यों के लिए भी पृथक् रूप से समय देने की व्यवस्था की है।[2] महाभारत में भी राजा द्वारा पौर जानपद के कार्यों का अवलोकन करने का उल्लेख है।[3]

इन निर्देशों से सूचित होता है कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व भारत में जो बहुत-से जनपद थे, उनमें पौर-जानपद नाम की शासन-संस्था की सत्ता थी।

(४) स्मृतियों और सूत्र-ग्रन्थों में भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे पौर और जानपद संस्थाओं की सत्ता सूचित होती है। मनुस्मृति में ग्रामसंघ और देशसंघ का उल्लेख करके यह कहा गया है कि जो ग्राम देश संघों की सत्य (शपथ) पूर्वक संविदा करके उसे तोड़े, उसे देश से बहिष्कृत कर दिया जाए।[4] बृहस्पति के अनुसार 'ग्राम और देश' परस्पर जो शपथपूर्वक लेख्य करें, यदि वह राजधर्म का अविरोधी हो, तो उसे संवित्पत्र कहा जाता है।[5] यहाँ ग्राम और देश का अभिप्राय स्पष्ट रूप से ग्राम-संघ और देशसंघ से है। याज्ञवल्क्य स्मृति में ग्रामगण, श्रेणिगण और जानपदगण का उल्लेख है, और उन द्वारा की गई संविदा का उल्लंघन न करने का आदेश राजा को दिया गया है।[6] याज्ञवल्क्य ने गण शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है, जिसमें मनु और बृहस्पति ने संघ शब्द प्रयुक्त किया है। स्मृतियों के ये संदर्भ सूचित करते हैं, कि प्राचीन समय में ग्राम संघों और जनपद संघों की सत्ता थी। इनमें पुर या नगर के संघ का उल्लेख नहीं हुआ है, पर अन्यत्र स्मृतियों में दुर्ग या नगर द्वारा की गई संविदा का निर्देश कर नगर या पुर के संघ की सत्ता भी सूचित की है। बृहस्पति के अनुसार पौरों के कतिपय शान्तिक (शान्ति कायम रखने के साथ

१. कौ० अर्थ० १३।५।

२. 'द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्।' कौ० अर्थ० ८।१९

३. "पौरजानपदानां च यानि कर्माणि नित्यशः।
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कार्याणि धर्मतः॥ महा० शान्ति० ४०।१९

४. 'यो ग्रामदेश सङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेत् नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥' मनु० ८।२२०

५. 'ग्रामो देशश्च यत्कुर्यात्सत्यलेख्यं परस्परम्।
राजाऽविरोधि धर्मार्थं संवित्पत्रं वदन्ति तत्॥' वीरमित्रोदय पृ० १८९

६. 'कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदानपि॥
स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि।
ग्राम श्रेणि गणानाञ्च सङ्केतः समय क्रिया॥' याज्ञवल्क्य १।३६०-३६१

सम्बन्ध रखने वाले) और पौष्टिक (पुष्टि करने वाले) कार्य भी होते हैं।[1] अन्यत्र ग्रामगण के साथ पौरगण का भी उल्लेख किया गया है।[2]

गौतम धर्मसूत्र के अनुसार शूद्र पौर ऐसा शूद्र जो पौर सभा का सदस्य हो) के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए, चाहे उसकी आयु ८० साल से कम की भी क्यों न हो।[3] वाशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार राजा को मन्त्रियों और नागरों (पौरों) के साथ अपने कार्यों का सम्पादन करना चाहिए।[4]

यद्यपि स्मृति और सूत्र-ग्रन्थों में स्पष्ट शब्दों में पौर जानपद का उल्लेख नहीं है, पर उनमें देशसंघ, देशगण आदि से जिस सुसंगठित संस्था का निर्देश है, वह पौर-जानपद को ही सूचित करती है।

(५) दिव्यावदान द्वारा अशोक के समय में तक्षशिला की पौर सभा के सम्बन्ध में अच्छा परिज्ञान प्राप्त होता है। वहाँ लिखा है—"उत्तरापथ में राजा अशोक के विरुद्ध तक्षशिला नगर ने विद्रोह कर दिया। जब राजा ने यह समाचार सुना, तो वह स्वयं ही चल पड़ा। तब अमात्यों ने उसे कहा—'देव ! कुमार को भेज दीजिये, वह विद्रोह शान्त कर देगा।' राजा ने कुनाल को बुलाकर कहा—'वत्स ! तुम तक्षशिला को शान्त करने के लिए जाओगे ?' कुनाल ने कहा-—'हाँ, देव ! जाऊँगा।' इसके अनुसार कुनाल तक्षशिला चला गया। जब तक्षशिला के पौरों ने यह सुना, तो उन्होंने ३½ योजन तक मार्ग को और नगर को सजाया। फिर पूर्ण कुम्भ लेकर स्वागत के लिए चल पड़े। कुमार के पास जाकर हाथ जोड़कर पौर ने कहा—'न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा अशोक के।[5] पर दुष्टात्मा अमात्य आकर हमारा अपमान करते हैं।' फिर वे कुनाल को महान् सम्मान के साथ तक्षशिला ले गये।'

दिव्यावदान में आगे चलकर रानी तिष्यरक्षिता के उस षड्यन्त्र का उल्लेख किया गया है, जिस द्वारा उसने तक्षशिला के पौरों को कुनाल की आँखों का विनाश करने की आज्ञा प्रदान की थी। यह आज्ञा तक्षशिला के पौरों को दी गई थी,[6] जो स्पष्टतया वहाँ के सब पुरवासियों के नाम न होकर पौर संस्था के नाम थी।

तक्षशिला के पौर (पौर संस्था के प्रधान) द्वारा कुनाल का स्वागत किया

१. 'नित्यं नैमित्तिकं काम्यं शान्तिकं पौष्टिकं तथा।
पौराणां कर्म कुर्युस्ते संदिग्धे निर्णयं तथा॥' वीरमित्रोदय पृ० ४२४
२. 'ग्राम पौरगण श्रेण्यश्चातुर्विद्यश्च वर्गिणः।' वीरमित्रोदय पृ० ११
३. 'तथान्यः पूर्वः पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन।' गौतम ६।१०
४. 'ततोऽन्यथा राजा मन्त्रिभिः सह नागरैश्च कार्याणि कुर्यात्' वशिष्ठ १६।२०
५. 'प्रत्युद्गम्य कृताञ्जलिरुवाच।' 'तक्षशिला पौरा अर्धत्रिकाणि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा प्रत्युद्गताः वक्ष्यति च।' दिव्यावदान पृ० ४०७-४०८
६. 'तक्षशिलानां पौराणां कुनालस्य नयनं विनाशयितव्यमिति', दिव्यावदान पृ० ४१०

जाना और वहाँ के अमात्यों की शिकायत करते हुए राजा व कुमार के प्रति भक्ति प्रदर्शित करना भी वहाँ एक सुसंगठित पौर-संस्था को सूचित करता है।

(६) अशोक के शिलालेखों द्वारा भी जानपद व नागरक (पौर) संस्थाओं की सत्ता का प्रमाण मिलता है। एक लेख इस प्रकार है—"मेरे राजूक (लजूक) नामक कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं। उन राजूकों को जो कि अभिहार (युद्ध) और दण्ड के (विभागों) पर नियुक्त हैं, उन्हें मैंने पूर्णतया स्वतन्त्र (आत्मपतिय—स्वयं अपना पति) कर दिया है। यह किसलिए ? जिससे कि राजूक बिना किसी बाधा के अपने कार्य कर सकें, जानपद के लिए अनुकूल व सन्तोषजनक हो सकें, और उनको अनुग्रह दे सकें······जिस प्रकार कोई धाय के हाथ अपने पुत्र को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है कि यह धाय मेरे पुत्र को सुख पहुँचाने की पूरी चेष्टा करेगी, वैसे ही मैंने अपनी प्रजा को राजूकों के हाथ में सौंप दिया है, ताकि वे जानपद के सन्तोष और भले के लिए कार्य कर सकें।"[1]

सम्राट् अशोक के इस शिलालेख से यह स्पष्ट है, कि उसने अपने राजूक नामक कर्मचारियों को यह आदेश दिया था कि वे जानपद के प्रति अनुकूल व सन्तोषजनक हों और उनके प्रति अनुग्रह करें। जनपदों में विद्यमान जानपद संस्थाएँ अशोक के समय में भी विद्यमान थीं, और राजुकों के लिए उनसे आनुकूल्य स्थापित करना अनिवार्य व उपयोगी था।

अशोक ने अपने धौली (कलिङ्ग) के शिलालेख में नगलजनस (नगर जनस्य) का भी उल्लेख किया है, और अपने नगलक (नागरक) नामक कर्मचारियों को यह आदेश दिया है कि नगरजन का अकारण बन्धन या अकारण दण्ड न हो। यहाँ 'नगलकजन' सम्भवतः नागर सभा या पौरसभा का ही परिचायक है। जिसे अशोक ने नागरक कहा है, वह कौटलीय अर्थशास्त्र का पौर ही है, जो अष्टादश तीर्थों में से एक था।

(७) महाक्षत्रप रुद्रदामा का जो शिलालेख गिरनार के सुदर्शन झील के बाँध का पुनः निर्माण करने के सम्बन्ध में उपलब्ध होता है, उसमें भी 'पौर जानपदस्य जन' के अनुग्रह के लिए और सम्पूर्ण आनर्त और अनूप के पालन के लिए सेतु (बाँध) के निर्माण का उल्लेख है।[2] इस शिलालेख पर हम पिछले अध्याय में भी प्रकाश डाल चुके हैं।

(८) जातक ग्रन्थों में नैगम और जानपद का उल्लेख मिलता है।[3] नैगम पौर

१. अशोक स्तम्भ लेख ५

२. "अपीडयित्वा कर विष्टिप्रणय क्रियाभिः पौर जानपदं जनं स्वस्मात् कोशा (न्) महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन···सेतुं···कारितम्।"

३. 'सब्बे नगम जानपदे' The Jataka Vol. I. p. 149.

का ही सूचक है। निगम व्यापारियों के समूह (संघ या संगठन) को कहते थे। पुरों में व्यापारियों का प्रमुख स्थान होने के कारण वहाँ की पौर सभा में भी व्यापारियों का प्रधान स्थान होता था। सम्भवतः, इसीलिए जातकों व अन्य बौद्ध-ग्रन्थों में[1] पौर के स्थान पर नैगम शब्द का प्रयोग किया गया है।

(६) 'मृच्छकटिकम्' नाटक में एक ऐसे राजा के पदच्युत किये जाने का उल्लेख है, जिसने कि एक सार्थवाह (व्यापारियों के काफिले के नेता) के साथ दुर्व्यवहार किया था। पदच्युत राजा का भाई 'पौरों को आश्वस्त' करके राजा बना।[2] राज-परिवर्तन के इस समाचार को लेकर एक दूत 'जनपद-समवाय' के पास आया। मृच्छकटिक में स्पष्ट रूप से 'पौर' और 'जनपद-समवाय' का इस ढंग से उल्लेख किया गया है, जिससे कि उनका संस्था होना भूचित होता है। दशकुमारचरितम् में एक राजा के भाइयों से सम्बन्ध में यह लिखा है, कि 'पौरजानपदाः' की उसके प्रति मैत्री थी,[3] अतः यह आशङ्का थी कि राजा की मृत्यु के बाद वे ही उसके उत्तराधिकारी बनेंगे।

प्राचीन दण्डनीति विषयक ग्रन्थों, स्मृति-सूत्र, रामायण-महाभारत, जातक व शिलालेखों आदि में पौर जानपदों और पौरजन व जानपद-जन का जो उल्लेख स्थान-स्थान पर आया है, उससे जायसवाल जी ने यह परिणाम निकाला है कि ये शब्द सुसंगठित व सुव्यस्थित सभाओं को सूचित करते हैं, जिनमें कि क्रमशः राजधानी (पुर) और जनपद के प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित हुआ करते थे। इन प्रमुख व्यक्तियों की नियुक्ति चुनाव द्वारा होती थी या किसी अन्य प्रकार से, यह स्पष्ट नहीं है। पर इन ग्रन्थों व शिलालेखों में पौर जानपद शब्द का प्रयोग पुर व जनपद के निवासियों के अर्थ में नहीं हुआ है, इस बात को स्वीकार करना होगा; विशेषतया इस कारण कि कतिपय स्थलों पर पौर व जानपद को एक वचन में प्रयुक्त किया गया है, और उनके साथ की क्रिया को भी एक वचन में ही दिया गया है, यथा 'उपतिष्ठति' व 'उवाच।'

पर जायसवाल जी ने जिस ढंग से पौर-जानपद के स्वरूप को प्रतिपादित किया है, उसके विरोध में भी युक्तियाँ दी जा सकती हैं। संस्कृत में सामूहिक अर्थ में एक-वचन का प्रयोग असामान्य बात नहीं है। रुद्रदामा और अशोक के शिलालेखों में पौर-जानपद का प्रयोग जिस रूप में हुआ है, उससे स्पष्टतया यह सूचित नहीं होता कि इन नामों की संस्थाएँ व सभाएँ वहाँ अभिप्रेत हैं। पुर निवासी और जनपद निवासी जनों को सन्तुष्ट करना व उनके प्रति अनुग्रह करना ही रुद्रदामा व अशोक को अभीष्ट था। रुद्रदामा के शिलालेख में स्पष्ट रूप से 'पौर जानपद जन' लिखा गया है, और अशोक के शिलालेखों में भी नगलजन व जनपद जन शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में जहाँ पौर जानपद का प्रयोग हुआ है, वहाँ पुर निवासी व जनपद निवासी

१. 'नेगमा च एव जानपदा च ते भवं राजा आमन्तयतम्।' दीघनिकाय, कूटदन्त सुत्त।
२. 'पौरान् समाश्वास्य।'
३. 'अनुजाः पुनः अतिबहवः तेरपि घटन्ते पौर जानपदाः।'

अर्थ करने पर भी अर्थ संगति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दिव्यावदान में 'पौर' का का जिस ढंग से प्रयोग हुआ है, वह उसके सुसंगठित संस्था होने का परिचायक अवश्य है। तक्षशिला जैसे नगर में यदि म्युनिसिपल शासन के लिए पौर सभा की सत्ता हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। रामायण में जिस प्रकार पौर जानपद का उल्लेख है, उससे इसका संस्था होने का निर्देश अवश्य मिलता है। पर जायसवाल जी ने इसे ग्रेट ब्रिटेन की वर्तमान समय की पार्लियामेंट के समकक्ष प्रतिपादित करने का जो प्रयास किया है, उसका समर्थन कर सकना सम्भव नहीं है। भारत के प्राचीन जनपदों का स्वरूप ग्रीक नगर-राज्यों के समान था, और उनके पुरों व ग्राम्य-क्षेत्रों में पौरसभा, ग्राम-संघ व जनपद-संघ की सत्ता थी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। बाद के समय में भी ये संस्थाएँ कायम रहीं, और इन्हीं का निर्देश विविध ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

(२) मन्त्रि-परिषद्

प्राचीन भारत के जनपदों में जिस प्रकार सभा और समिति (बाद के काल में पौर, जानपद या जनपद संघ) की सत्ता थी, वैसे ही मन्त्रि-परिषद् भी उनके शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। वैदिक युग में 'राजकृतः राजानः' की सहायता से राजा शासन-कार्य का सम्पादन करता था। इन्हीं को उत्तर-वैदिक युग में 'रत्निन्' कहा जाता था। राजकृतः और रत्निनः के अतिरिक्त किन्हीं अन्य मन्त्रियों की सत्ता इन युगों में ज्ञात नहीं है, पर बाद में जब भारत के जनपद व राज्य सुव्यवस्थित दशा में आ गये, तो राजा की सहायता के लिये मन्त्रियों की आवश्यकता हुई, और मन्त्रि-परिषदों का निर्माण हुआ। कौटलीय अर्थशास्त्र, नीति-ग्रन्थों व स्मृति-ग्रन्थों आदि से मन्त्रि-परिषद् के सम्बन्ध में पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। पिछले अध्यायों में भारतीय इतिहास के विविध युगों की शासन-पद्धति का प्रतिपादन करते हुए हमने मन्त्रियों व मन्त्रि-परिषद् की भी उल्लेख किया है, पर इनके सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा।

कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखा है—कार्य के प्रारम्भ करने के उपाय, मनुष्यों और धन का कार्यों के लिये विनियोग, कार्यों के करने के लिये कौनसा प्रदेश व कौनसा समय प्रयुक्त किया जाए, कार्यसिद्धि के मार्ग में आने वाली विपत्तियों का निवारण और कार्य की सिद्धि—मन्त्र (राजकीय परामर्श) के ये पाँच अंग होते हैं।[1] इन्हीं के लिये मन्त्रियों व मन्त्रि-परिषद् की आवश्यकता होती है। मानव सम्प्रदाय का मत है कि मन्त्रि-परिषद् में बारह मन्त्री होने चाहिएँ। बार्हस्पत्य सम्प्रदाय के मत में मन्त्रियों की संख्या सोलह और औशनस सम्प्रदाय के मत में बीस होनी चाहिए। पर आचार्य

१. 'कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति पञ्चांगो मन्त्रः।' कौ० अर्थ० १।१५

कौटल्य के मत में जितनी आवश्यकता समझी जाए, उतने ही मन्त्री नियत किये जाने चाहिएँ।[१] मन्त्री ही राजा के लिए चक्षु के समान होते हैं। इन्द्र की मन्त्रि-परिषद् में एक हज़ार ऋषि थे। इसी कारण यद्यपि उसकी अपनी दो आँखें थीं, पर उसे 'सहस्राक्ष' कहा जाता था।[२] इन मन्त्रियों से एक-एक करके पृथक् रूप से परामर्श किया जाए और सम्मिलित रूप से भी।[३] जब कोई आत्ययिक (emergency) दशा आ पड़े, तो मन्त्रियों से व मन्त्रि-परिषद् से परामर्श लिया जाए। वहाँ जो बहुमत कहे, उसे किया जाए, या जो परामर्श 'कार्यसिद्धिकर' हो, उसे स्वीकार किया जाए।[४] जो मन्त्री उपस्थित न हो, पत्र भेजकर उसका परामर्श लिया जाए।[५]

राज्य के विविध पदाधिकारियों के लिये 'अमात्य' शब्द प्रयुक्त होता था। देश, काल और कर्म को दृष्टि में रखकर राज्य के विविध अमात्यों की नियुक्ति की जाती थी। पर ये सब अमात्य मन्त्री नहीं होते थे।[६] जो अमात्य 'सर्वोपधाशुद्ध' हों, विविध परखों द्वारा जिनको निर्दोष पाया जाए, उन्हीं को मन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाता था।[७] ये परख (उपधा) चार हैं, धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा। जो अमात्य पूर्णतया धार्मिक हों, जो धन के लालच में न आयें, काम के वशीभूत न हों, और भयभीत भी न किये जा सकें, उन्हीं को मन्त्री नियत किया जाना चाहिए। राजा इन मन्त्रियों द्वारा ही राजकीय विषयों पर परामर्श करके किसी परिणाम पर पहुँचता था। पर मन्त्र (राजकीय परामर्श) को गुप्त रखना बहुत आवश्यक था। इसी कारण कौटल्य ने भारद्वाज का यह मत उद्धृत किया है कि गुह्य (गोपनीय) विषयों पर अकेला स्वयं ही विचार करे, यदि मन्त्रियों से परामर्श किया जायगा, तो कभी मन्त्र गुप्त नहीं रह सकता, क्योंकि मन्त्रियों के भी मन्त्री होते हैं और उनके भी अन्य सलाहकार। मन्त्रियों की इस परम्परा के कारण मन्त्र गुप्त नहीं रहने पाता। अतः राजा क्या कार्य करना चाहता है, यह किसी को भी ज्ञात न हो सके। जब काम शुरू हो जाये या काम पूरा हो जाए, तभी लोग उसे जान सकें, पहले नहीं।[८]

१. "'मन्त्रि-परिषदं द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति' मानवाः। 'षोडशेति' बार्हस्पत्याः। 'विंशतिम्' इत्यौशनसाः। 'यथासामर्थ्यम्' इति कौटल्यः।" कौ० अर्थ० १।१५

२. "इन्द्रस्य हि मन्त्रि-परिषद् ऋषीणां सहस्रम्। तच्चक्षुः तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः।" कौ० अर्थ० १।१५

३. "तानेकैकशः पृच्छेत समस्तांश्च" कौ० अर्थ० १।१५

४. "आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रि-परिषदं चाहूय ब्रूयात्। तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्" कौ० अर्थ० १।१५

५. "अनासन्नैस्सह पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत।" कौ० अर्थ० १।१५

६. "विभज्यामात्यं विभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्यास्सर्व एवैते कार्याः स्युः न तु मन्त्रिणः॥" कौ० अर्थ० १।८

७. "सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्।" कौ० अर्थ० १।१०

८. "'गुह्यमेको मन्त्रयेतेति' भारद्वाजः। मन्त्रिणामपि हि मन्त्रिणो भवन्ति। तेषामप्यन्ये। सैषा मन्त्रि-परम्परा मन्त्रं भिनत्ति।" कौ० अर्थ० १।१५

पर विशालाक्ष का मत था कि अकेले कभी मन्त्र की सिद्धि नहीं हो सकती। राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। यह मन्त्रियों का ही काम है कि जो ज्ञात नहीं है उसका पता लगाएँ, जो ज्ञात है उसके सम्बन्ध में निश्चय करें, जहाँ सन्देह हो वहाँ सन्देह को दूर करें, जिसका पूर्ण रूप से पता न हो उसके सम्बन्ध में पूरी बात का पता करें। अतः राजा को चाहिये कि वह बुद्धिमान् (बुद्धिवृद्ध) लोगों से परामर्श करे। सबके मत को सुने। बुद्धिमान् लोग बालक की उपयोगी बात का भी उपयोग करते हैं।[1]

आचार्य पराशर का कहना है कि इस ढंग से मन्त्र का ज्ञान तो हो सकता है, पर उसकी रक्षा इस प्रकार सम्भव नहीं है। अतः राजा को चाहिये कि उसे जो कार्य अभिप्रेत हो, उससे उलटी बात मन्त्रियों से पूछे। यह कार्य है, यह कार्य ऐसा था, यदि कार्य ऐसा हो, तो क्या करना चाहिये—ऐसा पूछकर मन्त्री लोग जो कहें, वैसा करे। इस प्रकार मन्त्र का ज्ञान भी होता है और रक्षण भी।[2]

पर पिशुन का मत है कि यह भी ठीक नहीं है। मन्त्रियों से जब किसी अनिश्चित विषय पर सलाह ली जाती है, तो वे अनादर से उसका उत्तर देते हैं, और उसे दूसरों के सम्मुख प्रगट भी कर देते हैं। अतः जिनसे जिन कर्मों का सम्बन्ध हो, उनसे उनके विषय में परामर्श किया जाना चाहिये। ऐसा करने से उचित परामर्श भी मिलता है, और मन्त्र गुप्त भी रहता है।

पर कौटल्य इस विचार से भी सहमत नहीं थे, क्योंकि इससे भी अनवस्था की आशंका थी। अतः उनका मत था, कि राजा तीन या चार मन्त्रियों के साथ परामर्श किया करे। यदि केवल एक मन्त्री से ही परामर्श किया जायगा, तो वह बेलगाम होकर यथेष्ट आचरण करने लगेगा, और एक ही मन्त्री से परामर्श करने पर कठिन विषयों का निर्णय भी सुगम नहीं होगा। यदि दो मन्त्रियों से सलाह ली जाए, तो यह भय है, कि यदि वे दोनों आपस में मिल जाएँ, तो राजा उनके सम्मुख असहाय हो जायगा; और यदि उन दोनों में विरोध रहे, तो इससे मन्त्र का विनाश हो जायगा। पर तीन या चार मन्त्रियों से परामर्श करने पर ये दोष उत्पन्न नहीं होते, और सब कार्य ठीक तरह से चलता है। यदि मन्त्रियों की संख्या इससे अधिक हो, तो जहाँ किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाता है, वहाँ मन्त्र को गुप्त रख सकना भी सुगम नहीं रहता।[3]

---

१. "नैकस्य मन्त्रसिद्धिरस्तीति विशालाक्षः।" कौ० अर्थ० १।१५

२. "नेति पिशुनः। मन्त्रिणो हि व्यवहितमर्थं वृत्तमवृत्तं वा पृष्टमनादरेण ब्रुवन्ति प्रकाशयन्ति वा स दोषः। तस्मात्कर्मसु ये येष्वभिप्रेतास्तैस्सह मन्त्रयेत्। तैर्मन्त्रयमाणो हि मन्त्रबुद्धिं गुप्तिं च लभत इति।" कौ० अर्थ० १।१५

३. "नेति कौटल्यः। अनवस्था ह्येषा। मन्त्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा सह मन्त्रयेत। मन्त्रयमाणो ह्येकेनार्थकृच्छ्रेषु निश्चयं नाधिगच्छेत्। एकश्च मन्त्री यथेष्टमनवग्रहश्चरति। द्वाभ्यां मन्त्रयमाणो द्वाभ्यां संहताभ्यामवगृह्यते। विगृहीताभ्यां विनाश्यते।" कौ० अर्थ० १।१५

कौटल्य के समय में भारत के विविध जनपदों में मन्त्रिपरिषद् का क्या स्वरूप था, व उसकी क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के ये संदर्भ बहुत महत्व के हैं। इन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि मन्त्रिपरिषद् कोई ऐसी संस्था नहीं थी, जो किसी पार्लियामैन्ट (समिति व पौर जानपद आदि) के प्रति उत्तरदायी हो, और जिसके सदस्यों की नियुक्ति इस आधार पर की जाए कि उन्हें पार्लियामेन्ट के बहुमत का विश्वास प्राप्त है। मन्त्री राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे, और उन्हें नियत करते हुए वह यही ध्यान में रखता था, कि वे योग्य हैं, और विविध परखों द्वारा उनकी 'सर्वोपधाशुद्धता' प्रमाणित हो गई है। मन्त्र या राजकीय विचार-विमर्श को गुप्त रखने की बात को राज्य में बहुत महत्व दिया जाता था, और इसी कारण मन्त्रियों की संख्या को यथासम्भव कम रखा जाता था।

जातक ग्रन्थों और अशोक के शिलालेखों में भी मन्त्रियों की सभा के लिए परिषद् या परिषा शब्द का ही प्रयोग किया गया है। चतुर्दश शिलालेखों में से छठे लेख के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—"हर समय चाहे मैं भोजन करता होऊँ या अन्तःपुर में रहूँ.......सब जगह प्रतिवेदक मुझे प्रजा का हाल सुनाएँ। मैं सब जगह प्रजा का काम करूँगा। यदि मैं स्वयं अपने मुख से आज्ञा दूँ कि अमुक आज्ञा (लोगों को) दी जाए अथवा महामात्रों को कोई आत्ययिक आज्ञा दी जाए, और यदि उस सम्बन्ध में परिषद् में कोई विवाद उपस्थित हो या परिषद् उसे अस्वीकार करे, तो मैंने आज्ञा दी है कि तुरन्त ही हर घड़ी और हर जगह मुझे सूचना दी जाए, क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ, मुझे सन्तोष नहीं होता।" इससे यह सूचित होता है कि राजा अपनी प्रजा को या महामात्रों को जब कोई आज्ञा अपनी ओर से देता था, तो परिषद् (मन्त्रिपरिषद्) में भी उस पर विचार होता था, और विशेष दशा में परिषद् उसे अस्वीकृत भी कर सकती थी। एक अन्य (तृतीय) लेख के ये वाक्य भी उल्लेखनीय हैं—मेरे राज्य में सर्वत्र युत (युक्त), लाजुक (रज्जुक) और पोदसिक (प्रादेशिक) पाँच-पाँच वर्ष के बाद इस काम के लिए (अर्थात्) धर्मानुशासन के लिये तथा और-और कामों के लिए (सर्वत्र यह कहते हुए) दौरा करें कि माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है। परिषद् भी युक्तों को (इस व्यय और संचय की) परिगणना के लिये (इस आज्ञा के) शब्दों और भावों के अनुसार आदेश प्रदान करेगी।" अशोक के इस लेख से यह भी सूचित होता है कि परिषद् का कार्य केवल राजा को परामर्श देना ही नहीं था, अपितु राजकीय नीति को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में आदेश देना भी था। वस्तुतः, जिसे कौटलीय अर्थशास्त्र में 'मन्त्र' कहा गया है, और जिसके लिए मन्त्रियों व मन्त्रिपरिषद् की नियुक्ति की जाती थी, उस 'मन्त्र' में कार्यसिद्धि के अन्तर्गत होने के कारण सब राजकीय विषयों का समावेश रहता था।

मन्त्रिपरिषद् राजा के कार्यों पर नियन्त्रण करने का अधिकार भी रखती थी, यह दिव्यावदान की उस कथा से सूचित होता है, जिसके अनुसार अमात्य राधागुप्त ने युवराज सम्पदि की सहायता से अशोक को इस बात से रोक दिया था कि वह राजकोश से बौद्ध विहार के लिए दान दे सके। निःसन्देह, मौर्य युग में मन्त्रि परिषद् एक शक्तिशाली संस्था थी, जिसके सदस्य राजा द्वारा नियुक्त होने पर भी राज्य के संचालन में महत्त्वपूर्ण स्थान व अधिकार रखते थे। यही बात रुद्रदामा के गिरनार के शिलालेख से भी सूचित होती है। जब रुद्रदामा ने सुदर्शन झील पर सेतु (बांध) बनवाने का विचार किया, तो उसके मतिसचिवों और कर्मसचिवों ने उसका विरोध किया था।[1]

मनुस्मृति में भी प्रायः उसी ढंग से मन्त्रियों का प्रतिपादन किया गया है, जैसा कि कौटलीय अर्थशास्त्र में है। यदि कोई राजा सहायकों के बिना राज्यकार्य का संचालन करने का यत्न करेगा, तो वह मूर्ख ही होगा, क्योंकि ऐसा राजा कदापि न्यायपूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकता। जो सुकर कार्य होते हैं, वे भी एक व्यक्ति के लिये दुष्कर होते हैं, जब तक कि उसके सहायक न हों। तो फिर राज्य की तो बात ही क्या है? अतः ऐसे सात या आठ सचिव (मन्त्री) नियत किये जाएँ, जो कि 'मौल' (देश के अपने) हों, शास्त्र के ज्ञाता हों, शूर और निश्चित लक्ष्य वाले हों, कुलीन हों और जिनकी भली भाँति परीक्षा कर ली गई हो। इन मन्त्रियों के साथ सन्धि, विग्रह, राज्य की उन्नति व समृद्धि, देश की रक्षा आदि राजकीय विषयों का चिन्तन किया जाए। उनसे पृथक्-पृथक् रूप से भी परामर्श किया जाए, और समस्त (सम्मिलित) रूप से भी।[2] मनु के ये विचार प्रायः वही हैं, जो कौटलीय अर्थशास्त्र में पाये जाते हैं।

शुक्रनीतिसार के अनुशीलन से मन्त्रिपरिषद् की स्थिति पर बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। वहाँ लिखा है—यदि राजा सब विद्याओं में कुशल भी क्यों न हो, वह स्वयं अच्छे परामर्श का वेत्ता भी क्यों न हो, पर उसे अकेले मन्त्रियों के बिना

---

१. 'अस्मिन्नर्थे महाक्षत्रपस्य मतिसचिवं कर्मसचिवैरमात्यगुणसमुद्युक्तैरप्यतिमहत्त्वाद्भेदस्यानुत्साह विमुखमतिभिः प्रत्याख्यानरम्भम्।"

२. 'सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत बुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥५४
मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५३
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥५५ मनुस्मृति अध्याय ७

कभी राजकीय विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए।[१] राजा कभी अपने मत के अनुसार कार्य न करे, पर निम्नलिखित व्यक्तियों के मत (परामर्श) में स्थित होकर रहे,[२] (१) सभ्य—मन्त्रिपरिषद् का अध्यक्ष। (२) अधिकारी—विविध राजकीय विभागों के अध्यक्ष। (३) प्रकृति—जिनकी संख्या शुक्रनीति में आठ दी गई है—सुमन्त्र (अर्थ-सचिव), पंडित (विधान सचिव), मन्त्री (गृह-सचिव), प्रधान, सचिव, अमात्य, प्राड्विवाक और प्रतिनिधि। ये आठ प्रकृति हैं, जिनसे राजा को परामर्श करना चाहिये।[३] इन प्रकृतियों के कार्यों के सम्बन्ध में भी शुक्रनीति में निर्देश विद्यमान हैं। आय-व्यय का अधिकारी सुमन्त्र कहाता था, जिसे अर्थसचिव कहा जा सकता है। धर्म-तत्त्व के ज्ञाता को पण्डित कहते थे। प्राचीन नीति-ग्रन्थों में धर्म शब्द का प्रयोग कानून के अर्थ में होता था, अतः पण्डित का अभिप्राय विधान-सचिव से है। सर्वदर्शी मन्त्री की संज्ञा 'प्रधान' थी। सम्भवतः, यह प्रधान मन्त्री होता था, जो सब राजकीय विषयों का चिन्तन करता था। सेना जिसके चार्ज में हो, उसे 'सचिव' कहते थे। नीति-कुशलता सचिव की प्रधान विशेषता थी, वह सम्भवतः राज्य की आन्तरिक नीति का संचालन करता था। 'लोकशास्त्रनयज्ञ' व्यक्ति को प्राड्विवाक कहते थे, जिसका कार्य लोक-नीति और शास्त्र-नीति का प्रतिपादन करना था। देश और काल के अनुसार कर्तव्य-कार्य का बोध कराने वाला सचिव अमात्य कहाता था। प्रतिनिधि के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए शुक्रनीति में लिखा गया है कि जो कार्य हितकर न होते हुए भी तुरन्त किया जाना उचित हो, और हितकर होते हुए भी जिसे न करना अभीष्ट हो, उसका बोध कराना प्रतिनिधि का कार्य है।[४] इन आठ प्रकृतियों के अतिरिक्त शुक्रनीतिसार में अन्यत्र दो अन्य प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है—पुरोधा (पुरोहित) और दूत।[५] कौटलीय अर्थशास्त्र में भी पुरोहित का अष्टादश तीर्थों में परिगणन है, और उसका पद बड़े महत्त्व का है। दूत के लिये यह आवश्यक है कि वह षाड्गुण्य नीति के प्रयोग में कुशल हो।

शुक्रनीतिसार के अनुसार राज्य के शासन में इन मन्त्रियों का बहुत अधिक महत्त्व था। शुक्र ने लिखा है—'प्रकृतियों के सन्मन्त्र के बिना राज्य का विनाश सर्वथा निश्चित है। जिन मन्त्रियों से राजा डरता नहीं, उनसे राज्य की वृद्धि क्या हो सकती

१. 'सर्वं विद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित्।
मन्त्रिभिस्तु बिना मन्त्रं नैकार्थं चिन्तयेत् क्वचित्॥ शुक्रनीतिसार ३२।२

२. 'सभ्याधिकारि प्रकृति सभासत्सुमते स्थितः।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन॥ शुक्रनीतिसार २।३

३. 'सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा।
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः॥ शुक्र २।७२

४. शुक्रनीतिसार २।७७-१०२

५. शुक्रनीतिसार २।७०

है ? वे तो केवल राजा की शोभा बढ़ाने वाले ही हो सकते हैं, जैसे कि आभूषण, वस्त्र आदि द्वारा स्त्रियों की शोभा बढ़ती है। जिन मन्त्रियों से राज्य, प्रजा, सेना, कोश और सुनृपत्व में वृद्धि नहीं होती, और जिनके परामर्श से शत्रु का विनाश नहीं होता, ऐसे मन्त्रियों से लाभ ही क्या है ?' शुक्रनीति के ये वाक्य इतने स्पष्ट हैं कि इन पर कुछ भी लिखना निरर्थक है। शुक्र एक ऐसी मन्त्रिपरिषद् के पक्ष में थे, जो केवल राजा की हाँ-में-हाँ मिलाने वाली न हो, अपितु राजा जिससे भय खाता हो। यह प्रतिपादित करते हुए शुक्र ने स्वाभाविक रूप से अपने समय के जनपदों की मन्त्रि-परिषदों को दृष्टि में रखा है। शुक्र राजा के स्वेच्छाचारी होने के बहुत विरुद्ध थे। उनका कहना है कि यदि राजा स्वेच्छाचारी हो, तो उसका परिणाम अनर्थ ही होगा। शीघ्र ही राज्य भी उसके विरुद्ध हो जायगा, और उसके मन्त्री भी।[1]

महाभारत के शान्ति पर्व में भी राजधर्म का प्रतिपादन करते हुए राज्य के लिए मन्त्रियों की उपयोगिता का निरूपण किया गया है। वहाँ लिखा है—राजा के राष्ट्र की उन्नति मन्त्रियों के मन्त्र पर ही निर्भर करती है।[2] यह सिद्धान्त प्रतिपादन करके शान्ति पर्व में यह बताया गया है कि किस प्रकार के व्यक्तियों को मन्त्री नियत किया जाए, और उनकी संख्या कितनी हो।[3] महाभारत का यह विवरण प्रायः उसी ढंग का है, जैसा कि मनुस्मृति व शुक्रनीतिसार में पाया जाता है अतः इसे यहाँ पृथक् रूप से उल्लिखित करने की आवश्यकता नहीं है।

नीतिशास्त्र विषयक अन्य भारतीय ग्रन्थों में भी मन्त्रियों व मन्त्रिपरिषद् के महत्त्व के सम्बन्ध में अनेक बातें पाई जाती हैं। नीतिवाक्यामृत में लिखा है—"उसे राजा नहीं कह सकते, जो मन्त्रियों का (मन्त्रियों के परामर्श का) अतिक्रमण करके रहे।"[4] वस्तुतः, प्राचीन समय में भारत के राजा मन्त्रियों के अधीन होकर ही राज्य-कार्य का संचालन किया करते थे। इसीलिए महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—"राजा तो सदा ही परतन्त्र है। सन्धि और विग्रह के कार्य में राजा कहाँ स्वतन्त्र है ? वह तो स्त्रियों और क्रीड़ाविहार तक में स्वतन्त्र नहीं होता। वह तो सब मन्त्र (राजकीय परामर्श) अमात्यों के साथ ही करता है, राजा को स्वतन्त्रता कहाँ है ?"[5]

१. 'प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्न राष्ट्रो भवेत् सद्यो भिन्न प्रकृतिरेव च ॥' शुक्र २।४

२. 'मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते।' महा० शान्ति० ८३।४८

३. महा० शान्ति, ८३,८४ और ८५ पर्व।

४. 'न खल्वसौ राजा यो मन्त्रिणोऽतिक्रम्य वर्तते।' नीतिवाक्यामृत, अ० १०

५. 'परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पे सोऽपि प्रसज्जते।
सन्धि विग्रह योगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ॥
स्त्रीषु क्रीडा विहारेषु नित्यमस्यास्वतन्त्रता।
मन्त्रे चामात्य सहिते कुतस्तस्य स्वतन्त्रता ॥' महा० शान्ति, ३२५।१३९-१४०

प्राचीन ग्रन्थों के ये उद्धरण यही सूचित करते हैं कि भारत में राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखने का कार्य उसके मन्त्रियों के ही हाथों में था।

(३) पुरोहित

प्राचीन भारतीय राज्यों के शासन में पुरोहित का स्थान बहुत महत्त्व का था। वैदिक युग के 'राजकृतः' में पुरोहित को स्थान प्राप्त नहीं था। उस युग में राजा को 'क्षत्राणाम् राजा' (क्षत्रियों का राजा), 'विशां विश्पतिः' (सर्वसाधारण जनता का राजा), और 'जनानां एकवृषम्' (जनता का एकमात्र स्वामी), और 'मानवानां उत्तमम्' (मनुष्यों में श्रेष्ठ) समझा जाता था। ब्राह्मण वर्ग के साथ उसका कोई सम्बन्ध वैदिक संहिताओं द्वारा सूचित नहीं होता। पर उत्तर-वैदिक युग में इस स्थिति में परिवर्तन आया। उत्तर-वैदिक युग में 'राजकृतः' के उत्तराधिकारी रत्नियों में पुरोहित भी एक था, और राज्याभिषेक के समय राजा उसे भी रत्नहवि प्रदान किया करता था। इस परिवर्तन का कारण सम्भवतः यह था, कि अब भारत के जनपदों में याज्ञिक अनुष्ठानों और कर्मकाण्ड का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और उसके कारण एक ऐसे पृथक् वर्ग का विकास हो गया था, जो याज्ञिक रहस्यों का विशेषज्ञ था। इस वर्ग को ब्राह्मण कहते थे। प्रत्येक कार्य की सफलता के लिये अब देवताओं का साहाय्य आवश्यक माना जाने लगा था, और राजा भी तभी अपने कर्तव्यों का भलीभाँति पालन कर सकता था, जब कि देवताओं का साहाय्य व आशीर्वाद भी उसे प्राप्त हो। यह ब्राह्मण वर्ग के सहयोग से ही सम्भव था। इसीलिए अब राष्ट्र को धारण करने वाले आठ वीरों में राजभ्राता, राजमहिषी, राजपुत्र आदि के समान पुरोहित की भी गणना की जाने लगी थी।[1] राजा की सत्ता का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन अब यह माना जाने लगा था, कि शत्रुओं के हनन और प्रजा के पालन के समान उसे ब्राह्मणों की रक्षा भी करनी है।[2] यह सिद्धान्त अब सर्वमान्य हो गया था, कि जिस राजा के पुरोहित नहीं होगा, देवता उसका अन्न ग्रहण नहीं करेंगे।[3] अतः यह आवश्यक था, कि राजा पुरोहित को नियुक्त करे। पुरोहित के कारण ही देवता लोग राजा की रक्षा करते हैं। जिस राजा के पास राष्ट्र का रक्षक विद्वान् पुरोहित होता है, वही क्षत्रशक्ति-सम्पन्न होता है, और जनता उसी के प्रति अनुरक्त होती है। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि राज्य के शासन में पुरोहित का विशेष स्थान हो।

कौटलीय अर्थशास्त्र में पुरोहित को राज्य के अष्टादश तीर्थों में गिना गया है, और उसके सम्बन्ध में यह लिखा गया है—"जिसका कुल और शील उत्कृष्ट हो, जो

१. पञ्चविंश ब्राह्मण १९।१।४
२. 'ब्राह्मणानां गोप्ताऽजनि।' ऐतरेय ब्राह्मण ८।१७
३. 'न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति तस्मायक्ष्यमाणो राजा ब्राह्मणं पुरोदधीत।'

वेदों और वेद के छः अंगों का विद्वान् हो, जो दैव और नैमित्तिक कर्मों का ज्ञाता हो, जो दण्डनीनि का पण्डित हो, जो भलीभाँति अभिविनीत (मर्यादित) हो, और जो आथर्वण उपायों द्वारा दैवी व मानुषी विपत्तियों के निराकरण में समर्थ हो, ऐसे व्यक्ति को पुरोहित नियुक्त किया जाए।'[1] और इस पुरोहित का उसी ढंग से अनुगामी बनकर रहा जाए, जैसे शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का और भृत्य स्वामी का होता है।[2]

पुरोहित का यह महत्त्व अन्य साहित्य द्वारा भी सूचित होता है। रामायण में ऋषि वशिष्ठ को राजपुरोहित कहा गया है। जब दशरथ की मृत्यु और राम के वनवास के कारण कोशल जनपद में कोई राजा नहीं रहा, तो राजपुरोहित वशिष्ठ ने ही राजसभा का नेतृत्व किया, और उन्होंने ही भरत को मातुलकुल से बुलाकर राजा के पद पर प्रतिष्ठापित करने की व्यवस्था की।[3]

महाभारत के शान्तिपर्व में यह प्रतिपादित करके कि राजा को पुरोहित की नियुक्ति करनी चाहिए, उसके महत्त्व को इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—"वह राजा उच्छिष्ट है, जिसके पुरोहित नहीं होता। वह राजा वध के योग्य है, जिसके पुरोहित न हो।[4] क्षत्रिय और ब्राह्मण एक-दूसरे से संयुक्त होकर रहते हैं, और वे एक-दूसरे का धारण करते हैं। क्षत्रियों के कारण ब्राह्मण सुरक्षित हैं, और ब्राह्मणों के कारण क्षत्रिय। जब ये दोनों परस्पर एक होकर रहते हैं, तो बहुत बड़ी शक्ति सुप्रतिष्ठित हो जाती है। यदि इनका यह पुरातन काल से चला आया हुआ मेल टूट जाए, तो सर्वत्र मूढ़ता छा जाती है।[5] जब राजा और पुरोहित परस्पर मित्र व एकचित्त होकर कार्य करते हैं, तो ब्रह्म और क्षत्र के मेल के कारण प्रजा सुख प्राप्त करती है। यदि उनमें मेल न रहे, तो सब प्रजा नष्ट हो जाती है। ब्रह्म और क्षत्र का मेल ही प्रजा की सब सुख समृद्धि का मूल है।[6] पुरोहित के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए महाभारत में यहाँ तक लिखा है, कि 'कहा जाता है कि राष्ट्र का योगक्षेम

१. पुरोहित मुदित कुल शीलं षडङ्गे वेदे दैवे च निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत।' कौ० अर्थ० १।५

२. 'तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रः भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत' कौ० अर्थ १।५

३. रामायण, अयोध्याकाण्ड, ४३।४

४. 'उच्छिष्टः स भवेद्राजा यस्य नास्ति पुरोहितः ।।
शत्रूणां च भवेद्वध्यो यस्य नास्ति पुरोहितः ।।' महा० शान्ति० ७३।५-६

५. 'एतौ हि नित्यं संयुक्तावितरेतर धारणे।
क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजः ।।
उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ संप्रापतुर्महतीं संप्रतिष्ठाम्।
तयोः सन्धिर्भिद्यते चेत्पुराणस्ततः सर्वं भवति संप्रमूढम् ।।' महा० शान्ति० ७३।४६-५०

६ 'परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ।
ब्रह्मक्षत्रस्य संमानात्प्रजा सुखमवाप्नुयात् ।।

राजा में निहित है, पर राजा का अपना योगक्षेम तो पुरोहित में ही निहित है। राज्य के सम्मुख जो 'दृष्ट' (दिखाई देने वाला) भय उपस्थित होता है, उसका निवारण राजा द्वारा किया जाता है, पर प्रजा के अदृष्ट भय का शमन तो पुरोहित ही करता है। ब्राह्मणों के पास तप और मन्त्र का बल होता है, और क्षत्रियों के पास अस्त्र और बाहु का। ये ब्रह्म और क्षत्र ईश्वर द्वारा 'एकयोनि' बनाकर उत्पन्न किये गए हैं।[1]

महाभारत में प्रतिपादित ये विचार एक ऐसे युग की परिस्थितियों को सूचित करते हैं, जब कि भारत के जनपदों की जनता में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और उनकी स्थिति सर्वसाधारण 'विशः' से बहुत ऊँची हो गई थी। राजा का कार्य अब भी प्रजा का रञ्जन करना माना जाता था, पर राज्य के शासन में अब जनता का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा था। राजशक्ति का प्रयोग क्षत्रियों के हाथों में था, जो ब्राह्मण वर्ग के प्रभाव में रहते हुए व उसके अनुगामी बनकर शासन का संचालन करते थे। पुरोहित इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था।

शुक्रनीति सार में भी पुरोहित को बहुत महत्व दिया गया है। पुरोहित ऐसा हो, जो त्रयी विद्या का ज्ञाता और मन्त्रानुष्ठान में निपुण हो। उसे जितेन्द्रिय, कर्म-तत्पर, जितक्रोध और लोभ-मोह से रहित होना चाहिए। उसे इतना शक्तिशाली होना चाहिए, कि उसके कोप के भय से राजा सदा धर्म और नीति का अनुसरण करता रहे।[2] अन्य प्राचीन ग्रन्थों से भी पुरोहित का यही महत्व सूचित होता है। वस्तुतः, प्राचीन भारत के राज्यों से पुरोहित एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पद था। वह ब्रह्मशक्ति का प्रतीक था। राजाओं को शास्त्र-मर्यादा में रखना, उन्हें स्वेच्छाचारी न होने देना, और उन पर अंकुश रखना पुरोहित का ही कार्य था। कौटल्य के अनुसार यदि दण्ड शक्ति का दुरुपयोग किया जाए, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक भी कुपित हो जाते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या ?[3] यह दशा न आने पाए, इसका ध्यान रखना

विमानानत्तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि।
ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वासां प्रजानां मूलमुच्यते ॥' महा० शान्ति० ७३।४१-४२

१. 'योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते ॥ ४
यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत।
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां तद्राज्यं सुखमेधते ॥ ५
तपोमन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम्।
अस्त्र बाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ १६ महा० शान्ति० अ० ७४

२. 'मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नः त्रैविद्यः कर्मतत्परः।
जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभमोह विवर्जितः ॥
यत्कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥ शुक्रनीतिसार २।७७-७८

३. 'दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति, किमंग पुनर्गृहस्थान्।'
कौ० अर्थ० १।४

पुरोहित की ही उत्तरदायिता थी। प्राचीन भारत की शासन-संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए पुरोहित के इस महत्व को अवश्य दृष्टि में रखना चाहिए।

(४) सभा

पुरों और जनपदों में जिन पौर-जानपद संस्थाओं की सत्ता के निर्देश प्राचीन साहित्य व शिलालेखों आदिसे प्राप्त होते हैं, उनका विवेचन इस अध्याय में पहले किया जा चुका है। पर ये संस्थाएँ जिन पुरों व जनपदों में विद्यमान थीं, उन्हें विविध शक्तिशाली राजाओं ने जीतकर अपने राज्यों में सम्मिलित कर लिया था। ग्राम-संघ, जनपद-संघ आदि के धर्म, व्यवहार व चरित्र आदि को कायम रखने की जो नीति भारत के प्राचीन राजाओं की थी; उसके कारण ये पौर-जानपद संस्थाएँ बाद में भी कायम रहीं, और इन क्षेत्रों के निवासी आंशिक रूप से अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करते रहे। पर प्रश्न यह है, कि जिस ढंग के बड़े राज्य भारतीय इतिहास में बाद में विकसित हो गये थे, अनेक जनपद जिनके अन्तर्गत थे, क्या उनके केन्द्रीय शासन में भी किसी प्रकार की ऐसी सभाओं की सत्ता थी, जिनमें जनता को किसी भी रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, या जिनमें जनता के विविध वर्गों के प्रमुख व्यक्ति उपस्थित होते हों।

इस प्रकार की सभा की सत्ता के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश प्राचीन नीति-ग्रन्थों द्वारा प्राप्त होते हैं। शुक्र नीतिसार से एक ऐसी सभा का विवरण प्राप्त होता है, जिसके सदस्यों को सभासद् या सभ्य कहते थे। राजधानी के मध्य भाग में इस सभा के लिए एक सभाभवन बनाया जाता था।[१] सभा के लिए एक पृथक् दण्डधर होता था, जो सभासदों के सभा में उपस्थित हो जाने पर राजा को उनका नमस्कार निवेदन करता था। राजा के पधार जाने पर सब सभासद् अपने-अपने स्थानों पर बैठ जाते थे।[२] पुरोहित राजा के पधारने के बाद सभा में आता था। उसके प्रवेश करने पर राजा भी अपने आसन से उठ खड़ा होता था, और राजा उससे कुशल प्रश्न आदि पूछता था।[३] सभा में उपस्थित जो अन्य अधिकारी आदि होते थे, उनसे भी राजा कुशल प्रश्न पूछता था। पर इन अधिकारियों के आने पर राजा अपने आसन पर बैठा रहता था, उठता नहीं था। राजा का आसन सभा के मध्य में होता था,

१. शुक्र० १।२१६

२. 'दृष्ट्वागतान् सभा मध्ये राज्ञे दण्डधरः क्रमात्।
निवेद्य तन्नतीः पश्चात् तेषां स्थानानि सूचयेत्।' शुक्र० २।२११

३. 'पुरोगमन मुत्थानं स्वासने सन्निवेशनम्।
कुर्यात् सकुशलप्रश्नं क्रमात् सुस्मित दर्शनम्॥
राजा पुरोहितादीनां त्वन्येषां स्नेह दर्शनम्।
अधिकारिगणादीनां सभास्थस्य निरालसः॥' शुक्र० २।२८०-२८१

जहाँ वह अपने पुत्रों, बन्धु-बान्धवों, भाइयों और मित्रों के साथ बैठता था। अन्य सदस्य राजा के दायें व बायें बैठते थे।[1] सभा में आने से पूर्व राजा अपने मन्त्रियों से मन्त्रणा कर लेता था, और सम्भवतः उसी मन्त्रणा पर सभा की स्वीकृति ले ली जाती थी।[2] शुक्र नीतिसार में जहाँ यह लिखा गया है कि राजा 'स्वमत' (केवल अपने मत) में स्थित न रहकर आठ प्रकृतियों व अधिकारी वर्ग के परामर्श से कार्य करे, वहाँ यह भी प्रतिपादित है कि उसे 'सभासदों' के मत में भी रहना चाहिए।[3] ये सभासद् सभा के सदस्य ही होते थे। पर इस सभा के सदस्य कौन-कौन व्यक्ति होते थे, यह शुक्र-नीतिसार से स्पष्ट नहीं होता। सभा में पुरोहित, अधिकारी वर्ग, मन्त्री व राजा के बन्धु-बान्धव व मित्र उपस्थित होते थे, यही इस नीति-ग्रन्थ से सूचित होता है। यह एक प्रकार से राजा के दरबार को निर्दिष्ट करता है, यही कहा जा सकता है।

महाभारत से भी राजसभा की सत्ता सूचित होती है। सभापर्व में कुरु देश की सभा का वर्णन है, जिसमें प्रधानतया ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के व्यक्ति उपस्थित थे। इन व्यक्तियों के सम्बन्ध में महाभारत में निम्नलिखित विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं:—शास्त्रोंमें पारंगत, क्रियाशील और इन्द्र के समान।[4] जब द्यूत में युधिष्ठिर द्रौपदी को भी हार गया, और कौरवों ने यह दावा किया कि अब द्रौपदी भी उनकी दासी बन गई है, तो द्रौपदी ने सभा के सम्मुख यह प्रश्न प्रस्तुत किया, कि जब युधिष्ठर द्यूत में हार कर स्वयं दास बन गया था, तो क्या दास की स्थिति में उन्हें यह अधिकार था, कि वे किसी व्यक्ति को दांव में रख सकें। भीष्म, कर्ण, दुःशासन आदि को सम्मति के विरुद्ध विदुर ने सभा के सम्मुख यह अपील की, कि उसके सदस्यों को क्रोध, काम, लोभ व भय के वशीभूत न होकर धर्म और सत्य के आधार पर निर्भीक रूप से अपनी सम्मति प्रकट करनी चाहिए। विदुर ने यह भी कहा—'सभा में उपस्थित होकर जो धर्मद्रष्टा व्यक्ति अपनी सम्मति को प्रकट नहीं करता, और इस कारण जो असत्य निर्णय होता है, वह (अपनी सम्मति प्रगट न करने वाला व्यक्ति) उसके आधे फल का भागी होता है। और जो सभा में उपस्थित होकर अपनी सही सम्मति प्रकट न करके अन्यथा भाषण करता है, उसके कारण असत्य निर्णय होने पर वह उसके पूरे फल का

१. 'सुहृद्भिर्भ्रातृभिः सार्धं सभायां पुत्रबान्धवैः।
राजकृत्यं सेनपैश्च सभ्याद्यैश्चिन्तयेत् सदा॥
सभायां प्रत्यगद्दस्य मध्ये राजासनं स्मृतम्।
दक्षसंस्था वाम संस्था विशेयुः पार्श्वं कोष्ठगाः॥' शुक्र० २।३५२-३५३

२. शुक्र० २।३५१

३. शुक्र० २।३

४. 'इमे सभायां उपनीतशास्त्राः क्रियावन्तः सर्वं एवेन्द्रकल्पाः।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम्॥' महा० शान्ति० ८६।४८

भागी बनता है ।[१] इस प्रकार महाभारत में नीति-ग्रन्थों के इस प्रसिद्ध वचन की पुष्टि की गई है—"या तो सभा में जाए ही नहीं (उसका सदस्य ही न बने), और यदि जाए तो वहाँ सोच-समझकर अपनी सम्मति को प्रकट करे । जो व्यक्ति सभा में जाकर चुप रहता है या असत्य बात कहता है, वह पाप का भागी बनता है ।"[२] इससे स्पष्ट है कि महाभारत के समय में भी सभा एक ऐसी संस्था थी, जिसमें न केवल विविध राजकीय विषयों पर विचार-विमर्श होता था, अपितु न्याय-सम्बन्धी निर्णय भी किये जाते थे ।

महाभारत के शान्तिपर्व में 'संसद्' नाम से एक सभा का उल्लेख मिलता है । इसमें सर्वसाधारण जनता के व्यक्ति भी उपस्थित होते थे, इसी कारण इसे 'जनसंसद्' नाम से कहा गया है ।[३] इस जनसंसद् में विचार-विमर्श करते हुए स्वच्छन्द भाषण होते थे, जिनके सम्बन्ध में महाभारत में विशद रूप से विचार किया गया है । युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया—'जब संसद् में कोई मूढ़ व प्रगल्भ व्यक्ति मृदु व विद्वान् व्यक्ति पर तीक्ष्ण रूप से आक्षेप करे, तो उसे क्या करना चाहिए ?'[४] भीष्म ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया—'ऐसे गर्हित व्यक्ति के कथन की उसी ढंग से उपेक्षा करनी चाहिये, जैसे कि रोगी के प्रलाप की की जाती है । ऐसा व्यक्ति जनता में बदनाम हो जाता है, और उसके सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं । ऐसा अल्पमति व्यक्ति जो-कुछ भी कहे, उसको सहना ही ठीक है । उस द्वारा की गई प्रशंसा व निन्दा से क्या बनता व बिगड़ता है । उसका प्रवचन वैसे ही निरर्थक होता है, जैसे जंगल में कौए का बोलना ।'[५] महाभारत के इस विवरण से एक ऐसी सभा का निर्देश मिलता है, जिसमें विभिन्न व्यक्ति कटु भाषणों द्वारा दूसरों पर आक्षेप किया करते थे । यह जनसंसद् राज्य की केन्द्रीय सभा तो सम्भवतः नहीं थी । शायद यह जनपदों की परम्परागत

---

१. 'यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ।
अनृते या फलावाप्तिः तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥
यः पुनर्वितथं ब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ॥
अनृतस्य फलं कृत्स्नं स प्राप्नोतीति निश्चयः ॥' महा० सभा० ६०।६४-६५

२. 'सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वासमञ्जसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बषी ।'

३. 'इदमुक्तो मया कश्चित् सर्वतो जनसंसदि ।' महा० शान्ति० ११४।५

४. 'विद्वान् मूढप्रगल्भेन मृदुस्तीक्ष्णेन भारत ।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिन्दम ॥' महा० शान्ति० ११४।१

५. 'गर्हितं तमुपेक्षेत वाश्यमानमिवातुरम् ।
लोके विद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते ॥४
यत्तद् ब्रूयादल्पमति स्तत्तदस्य सहेत्तदा ॥७
प्रकृत्या हि प्रशंसत्वा निन्दन्वा किं करिष्यति ।
वने काक इवाबुद्धिर्वाश्यमानो निरर्थकम् ॥८' महा० शान्ति० ११४।

सभा को ही सूचित करती है, जिसमें सर्वसाधारण जनता के व्यक्ति भी उपस्थित होते थे। या यह भी सम्भव है, कि महाभारत का यह प्रकरण सब प्रकार की सभाओं में होने वाले विवादों के साथ सम्बन्ध रखता हो।

रामायण में राजा दशरथ की जिस परिषद् का उल्लेख है, उसमें ब्राह्मणों, बलमुख्यों और पौर-जानपदों की उपस्थिति सूचित की गई है। बलमुख्य (सेनापति) क्षत्रियों के प्रतीक हैं। इस प्रकार रामायण के युग की सभा या परिषद् में ब्राह्मण, क्षत्रिय और पुरों व जनपद के प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित होते थे।[1] इस परिषद् पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

चण्डेश्वरकृत राजनीति रत्नाकर[2] में हारीत स्मृति की कतिपय उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, जिनमें चार प्रकार की सभाएँ वर्णित हैं—प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित, मुद्रित और शासित। राजा स्वयं जिस सभा को स्थापित करे, उसे 'प्रतिष्ठित' कहते हैं। ग्राम, पुर आदि में जो सभाएँ चली आ रही होती हैं, उन्हें 'अप्रतिष्ठित' कहा जाता है। राजा के सचिवों व न्यायाधीशों द्वारा प्रमाणित सभाएँ 'मुद्रित' कहाती हैं। राजा के शासन (राजाज्ञा) द्वारा स्थापित सभाओं की संज्ञा 'शासित' होती है। हारीत द्वारा वर्णित इन सभाओं में उन सब प्रकार की सभाओं का समावेश हो गया है, जो प्राचीन काल में विद्यमान थीं। राजा की अपनी सभा जिसमें ब्राह्मण, बल-मुख्य व राज्य के प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित होते थे, 'प्रतिष्ठित' सभा कहाती थी। ग्राम संघ, जनपद संघ, पुर संघ, जाति संघ, श्रेणि संघ (शिल्पियों के गिल्ड) व व्यापारियों के समूह (निगम) आदि 'अप्रतिष्ठित' सभाएँ थीं, क्योंकि वे परम्परागत रूप से विद्यमान थीं। राज्य के उच्च पदाधिकारियों द्वारा प्रमाणित होकर जो सभाएँ कायम होती थीं, उनकी संज्ञा 'मुद्रित' थी। राजा से अनुज्ञा (चार्टर) लेकर स्थापित होने वाली सभाएँ 'शासित' कहाती थीं। हारीत ने उन सब विविध समुदायों व समूहों (Associations) का परिगणन सभाओं के रूप में कर दिया है, जो भारत में प्राचीन काल में विद्यमान थीं।

इस प्रकरण में जो विवेचन किया गया है. उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के प्राचीन राज्यों में केन्द्रीय सभा की सत्ता अवश्य थी। पर इस सभा को वर्तमान अर्थों में पार्लियामेन्ट नहीं कहा जा सकता। इसके सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा नहीं होती थी, और न ही यह उस ढंग से कानून आदि का निर्माण करती थी, जैसे कि वर्तमान समय की विधानसभाएँ करती हैं। मन्त्री या मन्त्रिपरिषद् भी इसके प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। इसका स्वरूप एक राजदरबार के समान होता था, जिसमें राज्य के प्रमुख व्यक्ति (ब्राह्मण, क्षत्रिय व अन्य) और उच्च पदा-

१. रामायण, अयोध्या काण्ड २।१८
२. राजनीतिरत्नाकर, अ० ५

धिकारी सम्मिलित हुआ करते थे। इनके सम्मुख राजकीय विषयों को विचारके लिये प्रस्तुत किया जाता था, और राजा इनकी सम्मति को महत्त्व भी देता था। उसके लिए यह सम्भव व क्रियात्मक नहीं था, कि वह राज्य के प्रमुख पुरुषों की सम्मति की उपेक्षा कर सके। पर इस सभा की स्थिति आधुनिक अर्थों में संवैधानिक नहीं थी। केवल भारत में ही नहीं, अपितु अन्य देशों के राजतन्त्र राज्यों में भी प्राचीन समय में वैसी विधानसभाओं की सत्ता नहीं थी, जैसी कि आजकल है। प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में कानून परम्परागत रूप से ही विद्यमान होते थे। उनका निर्माण करने के लिए विधान-सभाओं की सत्ता नहीं होती थी। राजा द्वारा कतिपय राजाज्ञाएँ (राजशासन) अवश्य जारी किये जाते थे, जिनका निर्धारण वह अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार करता था। कानूनों का निर्माण करने के लिए विधान-सभाएँ उस समय नहीं होती थीं। मन्त्री भी किन्हीं सभाओं के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। मन्त्रियों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी, और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। महाभारत, शुक्रनीतिसार आदि में जिन सभाओं व संसदों का उल्लेख है, वे ऐसे राजदरबार ही हैं जिनमें राज्य के प्रमुख व्यक्ति व राजा के बन्धु-बान्धव उपस्थित होते थे। जिन पौर-जानपद संस्थाओं की सत्ता का इस अध्याय में हमने उल्लेख किया है, वे प्राचीन पुरसंघों व जनपद संघों को सूचित करती हैं, जो विशालकाय राज्यों व साम्राज्यों के विकास के बाद भी भारत के पुरों व जनपदों में परम्परागत रूप से विद्यमान थे। शासन कार्य में इनका महत्त्व अभी विद्यमान था, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर इन्हें प्राचीन भारत की पार्लियामेन्ट के रूप में मानना भी उचित नहीं है।

तेरहवाँ अध्याय

गुप्त साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

(१) गुप्त साम्राज्य

तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में भारत पर विदेशी जातियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे, और यवन, शक, पह्लव व कुशाण लोगों ने इस देश के विविध प्रदेशों पर अपने-अपने राज्य कायम कर लिए थे। इन राज्यों की स्थापना के कारण मागध साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी, और भारतीय इतिहास के रंगमञ्च पर ऐसी राजशक्तियाँ प्रगट हो गई थीं, जो इस देश के निवासियों की दृष्टि में विदेशी थीं। यद्यपि इन जातियों ने भारत के धर्म, भाषा व संस्कृति को अपना लिया था, और शासन के क्षेत्र में भी इस देश की पुरानी परम्पराओं का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया था, फिर भी यहाँ के पुराने शासक-वर्ग व जनता की दृष्टि में ये विजेता व नये शासक विदेशी ही थे। अशोक, सम्प्रति और शालिशुक जैसे मौर्य सम्राटों ने जो क्षात्र धर्म की उपेक्षा कर अपनी शक्ति का प्रयोग 'धम्म विजय' के लिए प्रारम्भ किया था, और जिसके कारण वे स्वयं भी भिक्षुओं या मुनियों का सा जीवन बिताने में गौरव अनुभव करने लगे थे, वह भारत के विचारकों को पसन्द नहीं था। इन राजाओं के प्रति जनता की क्या भावना थी, यह नीतिवाक्यामृत में उद्धृत एक पुरानी उक्ति द्वारा स्पष्ट हो जाता है—'राजा का काम दुष्टों का निग्रह और शिष्ट जनों का परिपालन करना है, सिर मुँडाना या जटा धारण करना नहीं।'[1] इसीलिए अशोक की नीति को मूर्खतापूर्ण समझने का विचार भी इस देश में उत्पन्न हो गया था। अशोक ने अपने शिलालेखों में बड़े गौरव से अपने को 'देवानां प्रियः' कहा है। पर पुराने वैयाकरणों और कोशकारों ने 'देवानां प्रियः' का अर्थ ही मूर्ख कर दिया था।

मगध के सम्राटों द्वारा राजधर्म की उपेक्षा कर देने का परिणाम यह हुआ, कि भारत के बहुत-से पुराने जनपद (गणतन्त्र और राजतन्त्र) फिर से स्वतन्त्र हो गये, और उन्होंने विदेशी राजाओं के विरुद्ध संघर्ष करने में अनुपम वीरता प्रदर्शित की। महाराष्ट्र व आन्ध्र के सातवाहन वंशी राजा और मालव व यौधेय गण इनमें प्रमुख

१. 'राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनञ्च धर्मो न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणं च।'

—१७

थे। इन्हीं के पराक्रम के कारण शक, कुशाण आदि जातियाँ भारत में अपने स्थायी राज्य नहीं स्थापित कर सकीं। कनिष्क के समय में भारत के बड़े भाग पर कुशाणों का आधिपत्य स्थापित हो गया था, और पाटलिपुत्र में भी उनका एक क्षत्रप शासन करने लगा था। पर कनिष्क के उत्तराधिकारियों के समय में भारत की मूल राज-शक्तियाँ फिर प्रबल होने लगीं, और भारशिव व वाकाटक वंश के शक्तिशाली राजाओं ने मध्यदेश में कुशाणों के शासन का अन्त कर अनेक बार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया।

पर भारत में एक बार फिर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना और इस देश की राजनीतिक शक्तियों को एक सूत्र में संगठित करने का प्रधान श्रेय गुप्त वंशी राजाओं को प्राप्त है। चौथी सदी ईस्वी के प्रारम्भ में गुप्त वंश के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, और समुद्रगुप्त (३२८-३७८ ई०) और चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७८-४१४ ई०) जैसे शक्तिशाली सम्राटों के नेतृत्व में मागध साम्राज्य के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार हुआ। इस समय एक बार जो फिर भारत के बड़े भाग में एक विशाल साम्राज्य संगठित हुआ, उसकी शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के वैसे साधन हमें उपलब्ध नहीं हैं जैसे कि मौर्य साम्राज्य के विषय में हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र जैसा कोई ऐसा ग्रन्थ इस युग के सम्बन्ध में नहीं मिलता, जिसकी रचना ही 'नरेन्द्र' के लिए शासन-विधि के रूप में की गई हो। मैगस्थनीज़ जैसा कोई ऐसा विदेशी यात्री भी इस युग में भारत नहीं आया, जिसके यात्रा-विवरण से हमें इस काल की शासन-पद्धति का परिचय प्राप्त हो सके। चीनी यात्री फाइयान इस युग में भारत की यात्रा के लिए अवश्य आया था, पर उसकी यात्रा का प्रयोजन बौद्ध धर्म व साहित्य का अनुशीलन करना ही था। फाइयान पाटलिपुत्र में रहा था, और उसने पेशावर से बंगाल की खाड़ी तक के प्रदेशों की यात्रा भी की थी। पर उसे राज्य, शासन, आर्थिक दशा आदि के सम्बन्ध में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसने अपने यात्रा-विवरण में कहीं-कहीं इस देश के सुशासन व कानूनों की उत्तमता का निर्देश अवश्य किया है, जैसे "राजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। वे राजा की भूमि जोतते हैं, और उस का अंश देते हैं। जहाँ चाहें रहें। राजा न प्राण-दण्ड देता है, न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्था के अनुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्यु-कर्म करने पर दक्षिण करच्छेद कर दिया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतनभोगी होते हैं।" पर इससे अधिक फाइयान के यात्रा-विवरण द्वारा शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात नहीं होतीं।

पर गुप्त-युग की शासन-संस्थाओं के सम्बन्ध में हमें ऐसे ठोस साधन प्राप्त हैं, जिनकी प्रामाणिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। ये साधन शिलालेखों और

सिक्कों के रूप में हैं। इन्हीं के आधार पर हम इस काल की शासनपद्धति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। साथ ही, अनेक ऐसे साहित्यिक व नीतिशास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी हैं, जिन्हें गुप्त युग का माना जाता है। ऐतिहासिकों के अनुसार महाकवि कालिदास का समय गुप्त युग में ही था, और वे सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के नवरत्नों में से एक थे। कालिदास द्वारा विरचित रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि द्वारा इस युग के राजनीतिक आदर्शों व शासनसंस्थाओं का भी कुछ परिचय मिलता है। विशाखदत्त द्वारा विरचित प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस भी इसी युग की कृति है, जिसके भरतवाक्य में विदेशी आक्रान्ताओं के उन प्रचण्ड आक्रमणों की ओर इशारा है, जो समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के समय भारत पर हुए थे, और अपने बड़े भाई के 'बन्धुभृत्य' रूप में चन्द्रगुप्त ने जिन्हें परास्त कर भारत-भूमि की रक्षा की थी।[1] पञ्चतन्त्र जैसा प्रसिद्ध कथाग्रन्थ भी इसी युग की कृति समझा जाता है, जिसमें पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर राजनीति के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। कामन्दक नीतिसार भी सम्भवतः इसी युग की कृति है। पर इस काल की शासन-संस्थाओं के परिचय का मुख्य साधन गुप्त सम्राटों के शिलालेख व सिक्के ही हैं।

सामन्त पद्धति (Feudalism) **का उदय**—गुप्त युग की शासन संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए सबसे महत्त्वपूर्ण बात, जिसे दृष्टि में रखना चाहिए, सामन्त-पद्धति का विकास है। मौर्य-साम्राज्य में सामन्त राजाओं का अस्तित्व नहीं था। साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपद उस युग में अवश्य थे, जिनमें विविध प्रकार की शासन-पद्धतियों की परम्परागत रूप से सत्ता थी। इन जनपदों की आन्तरिक स्वतन्त्रता को भी उस समय कायम रखा गया था। पर गुप्त-युग में इस देश में सामन्त पद्धति का उदय हो गया था, और शासन की दृष्टि से गुप्त-साम्राज्य का स्वरूप इस प्रकार का था कि गुप्त वंशी महाराजाधिराज व सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करते हुए विविध राजा अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते थे। जिस ढंग की सामन्त पद्धति यूरोप के मध्यकालीन इतिहास में पाई जाती है, वैसी ही अब भारत में विकसित होनी प्रारम्भ हो गई थी। इसका कारण सम्भवतः यह था, कि यवन, शक, पल्हव आदि विदेशी जातियों के आक्रमण के समय में भारत में शान्ति और व्यवस्था का अन्त हो गया था, और जन-समाज में एक प्रकार का मात्स्यन्याय प्रादुर्भूत हो गया था। मीननगर के शक महाराजों और कुशाण सम्राटों ने अपने विजितों का शासन करने के लिए अनेक क्षत्रपों की नियुक्ति की थी, जो स्वतन्त्र शासकों की स्थिति रखते थे। पर इनके लिए अपने-अपने प्रदेशों की प्रजा से भक्ति प्राप्त कर सकना सुगम नहीं

१. 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः ।
स श्रीमद् बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥'

था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि विविध क्षेत्रों में ऐसे विभिन्न शक्तिशाली व प्रतापी व्यक्ति प्रकट हो जाएं, जो विदेशी व विजातीय 'दस्युओं' से जनता की रक्षा करने के कार्य को अपने हाथों में ले लें। गुप्त सम्राटों के लिए यह सम्भव नहीं हुआ, कि वे इनका मूलोच्छेद करके अपना एकाधिपत्य भारत में स्थापित कर सकें। उन्होंने इन विविध क्षत्रियों व राजाओं की सत्ता को कायम रखा, और उनसे अधीनता स्वीकार करके ही सन्तोष अनुभव किया। इसी परिस्थिति में उस पद्धति का विकास हुआ, जिसे इतिहास में 'सामन्त पद्धति' कहा जाता है। गुप्तवंश के समय में जो यह पद्धति प्रारम्भ हुई, वह भारत के सम्पूर्ण मध्यकालीन इतिहास में कायम रही।

गुप्तों के शिलालेखों में बहुत-से राजाओं व महाराजाओं का उल्लेख है, जो गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे। इन्हीं को सामन्त और महासामन्त भी कहा गया है। ये राजा (सामन्त) और महाराजा (महासामन्त) अधीनस्थ (Feudatory) शासकों की ही स्थिति रखते थे। गुप्त सम्राट् महाराजाधिराज, परमेश्वर और परम-भट्टारक कहाते थे। गुप्तवंश के प्रथम दो राजाओं के लिए उनके सिक्कों व लेखों में केवल 'महाराजा' शब्द का उपयोग किया गया है, क्योंकि अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकार कर उन्होंने महाराजाधिराज पद प्राप्त नहीं किया था। सातवीं सदी में जब वर्धनवंश का उत्कर्ष हुआ, तो उसके पहले राजा भी केवल महाराज ही थे। पर बाद में अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकार करा लेने के कारण उन्होंने महाराजाधिराज पद प्राप्त कर लिया था।

गुप्त युग के जो बहुत-से शिलालेख इस समय प्राप्त हुए हैं, उनमें अच्छी बड़ी संख्या उन लेखों की है, जिनमें किसी ब्राह्मण या अन्य व्यक्ति को दी गई जागीर व अन्य दान का उल्लेख है। ये लेख दानपत्रों के रूप में हैं। ये लेख केवल गुप्त सम्राटों द्वारा ही नहीं उत्कीर्ण कराये गए थे, अपितु उनके अधीनस्थ विविध राजाओं व महाराजाओं द्वारा किये गए दान का भी उल्लेख करते हैं। महाराज हस्तिन् द्वारा उत्कीर्ण कराया गया एक लेख बड़े महत्त्व का है, जिसमें कि वह जहाँ एक ओर सम्राट् या महाराजाधिराज के प्रति अपनी अधीनता प्रदर्शित करता है, वहाँ दूसरी ओर अपने अधीनस्थ राजाओं व सामन्तों का भी उल्लेख करता है। अनेक महाराजाओं का अभिषेक सम्राट् द्वारा भी किया जाता था। महाराज द्रोणसिंह के एक शिलालेख में सम्राट् द्वारा उसके अभिषिक्त किये जाने का वर्णन है। सम्राट् द्वारा किये जाने वाले इस ढंग के अभिषेक द्वारा सम्राट् अपने अधीनस्थ महाराजा की सत्ता व अधिकार-क्षेत्र को स्वीकार करता था। जो अधीनस्थ राजा व सामन्त विशेष शक्तिशाली या महत्त्व के हों, उन्हें 'सामन्त-चूड़ामणि' जैसी उपाधियाँ भी सम्राट् की ओर से प्रदान की जाती थीं। सम्राट् के अधीन ये राजा व महाराजा प्रायः सम्राट् के दरबार (उपस्थान-भूमि) में उपस्थित होते थे, और उसके प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित किया

करते थे। सम्राट् स्कन्द गुप्त (४५५-४६७ ई०) के एक शिलालेख में बड़े आलंकारिक रूप से यह लिखा गया है कि अभिवादन के लिए झुकते हुए नृपतियों द्वारा वायु के जो झोंके उत्पन्न हुए, उनके कारण सारी उपस्थान भूमि हिल गई। 'जिसके चरण नृपतियों के राज मुकुट में लगाई हुई मणियों के कारण प्रकाशित हो गये हैं', सम्राटों का यह वर्णन संस्कृत के काव्यों में इसी समय में प्रारम्भ हुआ, क्योंकि गुप्त सम्राटों के राजदरबार में बहुत-से राजा व महाराजा सदा उपस्थित रहते थे, और उनके चरणों पर राजमुकुटों से सुशोभित अपने सिरों को झुकाकर उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया करते थे। सम्राट् के अधीनस्थ न केवल राजा व महाराजा ही अपितु विविध गणराज्य और नैगम सभाएँ आदि भी इस युग में अपने सिक्के जारी करते थे। उनकी स्थिति ठीक नहीं थी, जो कि सामन्त पद्धति वाले राज्यों में विविध सामन्तों व अन्य अधीनस्थ राजसत्ताओं की होती है। मध्यकालीन यूरोप में भी पवित्र रोमन सम्राटों की अधीनता में राजाओं व महाराजाओं के अतिरिक्त अनेक नगर-राज्यों व व्यापारिक नगरों की भी स्वतन्त्र सत्ता थी। यही बात भारत में सामन्त पद्धति के विकास के कारण गुप्त सम्राटों के विषय में भी कही जा सकती है।

सामन्त पद्धति के कारण भारत में राजा शब्द का अर्थ भी अब अधिक व्यापक रूप ग्रहण करने लग गया था। राज्य के स्वामी राजा के अतिरिक्त अब अन्य भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हो गए थे, जिन्हें राजा कहा जाता था। सम्राट् के अधीन जितने भी महासामन्त, सामन्त व उपसामन्त थे, वे सब अब राजा कहे जाने लगे थे।

(२) गुप्त-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

साम्राज्य का स्वरूप—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त-सम्राटों का सीधा शासन नहीं था। उनके अधीन अनेक महाराजा, राजा व गणराज्य थे, जो अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र थे। सामन्तों को उनके राज्य व शक्ति के अनुसार महाराजा व राजा आदि पदों से कहते थे। सब सामन्तों की स्थिति भी एक समान नहीं थी। आर्यावर्त या मध्यप्रदेश के सामन्त गुप्त सम्राटों के अधिक प्रभाव में थे। सुदूरवर्ती सामन्त प्रायः स्वतन्त्र स्थिति रखते थे, यद्यपि वे गुप्त-सम्राटों की अधीनता को स्वीकार करते थे। यही दशा गणराज्यों की थी। शासन की दृष्टि से हम गुप्त-साम्राज्य को निम्नलिखित भागों में बांट सकते हैं—(१) गुप्तवंश के सम्राटों के शासन में विद्यमान प्रदेश—ये शासन की सुगमता के लिए भुक्तियों (प्रान्तों व सूबों) में विभक्त थे। प्रत्येक भुक्ति में अनेक 'विषय' व उसके भी विविध उपविभाग होते थे। (२) आर्यावर्त व मध्यप्रदेश के सामन्त—इनकी यद्यपि पृथक् सत्ता थी, पर ये सम्राट् की अधीनता में ही सब कार्य करते थे। (३) गणराज्य—यौधेय, मालव, आर्जुनायन, आभीर, प्रार्जुन, शनकानीक, काक, खर्परिक, मद्र आदि अनेक गणराज्य गुप्तों के

शासन-काल में विद्यमान थे, जो गुप्त-सम्राट् के शासन को स्वीकार करते थे। (४) अधीनस्थ राजा—दक्षिण कोशल, महाकांतार, पिष्टपुर, कोट्टूर, ऐरंड्डपल्ल, देवराष्ट्र, अवमुक्त आदि बहुत-से राज्य इस काल में पृथक् रूप से विद्यमान थे। पर उनके राजाओं ने गुप्त-सम्राटों की शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया था। (५) सीमावर्ती राज्य—आसाम, नेपाल, समतत, कर्तृपुर आदि के सीमावर्ती राज्य प्रायः स्वतन्त्र सत्ता रखते थे। पर ये सब गुप्त-सम्राटों को भेंट-उपहार भेजकर व उनकी आज्ञाओं का पालन कर उन्हें सन्तुष्ट रखते थे। ये सब गुप्त-सम्राटों के दरबार में भी उपस्थित होते थे। (६) अनुकूल मित्र-राज्य—सिंहलद्वीप और भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के कुशाण-राजा गुप्त-सम्राटों को भेंट-उपहार व कन्यादान आदि उपायों से मित्र बनाये रखने के लिए उत्सुक रहते थे। यद्यपि उनके राज्य गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे, तथापि वे गुप्त-सम्राटों को एक प्रकार से अपना अधिपति मानते थे। इन्हें हम अनुकूल मित्र-राज्य कह सकते हैं।

केन्द्रीय शासन—गुप्त-साम्राज्य का शासन सम्राट् में केन्द्रित था। मौर्यों के समान गुप्तों ने भी अपनी वैयक्तिक शक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। उसका शासन भी वे स्वयं ही 'एकराट्' रूप में करते थे। ये गुप्त-राजा अपने को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम भागवत', 'परम दैवत', 'सम्राट्', 'चक्रवर्ती' 'परम भट्टारक' आदि विरुदों से विभूषित करते थे। विविध देवताओं और लोकपालों के अंशों से राजा शक्ति प्राप्त करता है, यह विचार उस समय बल पकड़ गया था। समुद्रगुप्त को एक शिलालेख में 'लोकधाम्नो देवस्य' भी कहा गया है। इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त 'लोक-नियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्य रूप था, वह संसार में रहने वाला देवता' ही था। राजाओं के प्रति यह दैवी भावना इस युग की स्मृतियों से भी प्रकट होती है। राजा देवताओं के अंश से बना होने के कारण दैवी होता है, यह भाव याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियों में विद्यमान है। कौटलीय अर्थशास्त्र के समय में यह विचार था अवश्य, पर उसका प्रयोग गुप्तचर लोग सर्व-साधारण लोगों में राजा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही करते थे। पर गुप्त-काल तक यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त हो गया था, और शिलालेखों तक में उसका उपयोग होने लगा था।

सम्राट् को शासन-कार्य में सहायता देने के लिये मन्त्री या सचिव होते थे, जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं थी। नारदस्मृति ने राज्य की एक सभा का उल्लेख किया है, जिसके सभासद् धर्म-शास्त्र में कुशल, अर्थज्ञान में प्रवीण, कुलीन, सत्यवादी और शत्रु व मित्र को एक दृष्टि से देखने वाले होने चाहियें। राजा अपनी राजसभा के इन सभासदों के साथ राज्यकार्य की चिन्ता करता था, और उनके परामर्श के अनुसार कार्य करता था। देश का कानून इस काल में भी परम्परागत धर्म, चरित्र

और व्यवहार पर आश्रित था। जनता के कल्याण और लोकरंजन को ही राजा लोग अपना उद्देश्य मानते थे। इसका परिणाम यह था, कि परमप्रतापी गुप्त-सम्राट् भी स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं हो सकते थे।

साम्राज्य के मुख्य-मुख्य पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों को 'कुमारामात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघरानेके भी होते थे और दूसरे लोग भी। साम्राज्य के विविध अंगों—भुक्ति, विषय आदि का शासन करने के लिए जहाँ इनकी नियुक्ति होती थी, वहाँ सेना, न्याय आदि के उच्च पदों पर भी ये कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा में होते थे, और शासन-सूत्र का संचालन इन्हीं के हाथों में रहता था।

केन्द्रीय शासन के विविध विभागों को 'अधिकरण' कहते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा (सील) होती थी। गुप्त-काल के विविध शिलालेखों व मुद्राओं आदि से निम्नलिखित अधिकरणों और प्रधान राज-कर्मचारियों के विषय में परिचय मिलता है—

(१) महासेनापति—गुप्त-सम्राट् स्वयं कुशल सेनानायक और योद्धा थे। वे दिग्विजयों व विजय-यात्राओं के अवसर पर स्वयं सेना का संचालन करते थे। पर उनके अधीन महासेनापति भी होते थे, जो साम्राज्य के विविध भागों में, विशेषतया सीमान्त प्रदेशों में, सैन्यसंचालन के लिये नियत रहते थे। सेना के ये सबसे बड़े पदाधिकारी 'महासेनापति' कहाते थे।

(२) महादण्डनायक—महासेनापति के अधीन अनेक महादण्डनायक होते थे, जो युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। गुप्त-काल की सेना के तीन प्रधान विभाग होते थे—पदाति, घुड़सवार और हाथी। महादंडनायकों के अधीन महाश्वपति, अश्वपति, महापीलुपति, पीलुपति आदि अनेक सेनानायक रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध के लिये परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिंदिपाल, नाराच आदि अनेकविध अस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था।

(३) रणभांडारिक—सेना के लिये सब प्रकार की सामग्री (अस्त्र-शस्त्र, भोजन आदि) को जुटाने का विभाग रणभांडारिक के अधीन होता था।

(४) महाबलाधिकृत—सेना, छावनी और व्यूह-रचना का विभाग महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत के हाथ में होता था। उसके अधीन अनेक बलाधिकृत रहते थे।

(५) दंडपाशिक—पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दंडपाशिक कहलाता था। इसके नीचे खुफिया विभाग के अधिकारी 'चौरोद्धारणिक', 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे। पुलिस के साधारण सिपाही को भट कहते थे।

(६) महासांधिविग्रहिक—इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यों, सामन्तों और गणराज्यों के साथ संधि या विग्रह की नीति का अनुसरण करना होता था। यह सम्राट् का अत्यन्त विश्वस्त कर्मचारी होता था, जो साम्राज्य की नीति का निर्धारण करता था। किन देशों पर आक्रमण किया जाय, अधीनस्थ राजाओं व सामन्तों के प्रति क्या व्यवहार किया जाय, ये सब बातें इसी के द्वारा तय होती थीं। इसे 'सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत' भी कहते थे।

(७) विनय-स्थिति-स्थापक—मौर्यकाल में जो कार्य धर्म-महामात्र करते थे, वही गुप्त-काल में विनय-स्थिति-स्थापक करते थे। देश में धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उन्नत रखना, और विविध सम्प्रदायों में मेल-जोल रखना इन्हीं अमात्यों का कार्य था।

(८) भांडागाराधिकृत—यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

(९) महाक्षपटलिक—राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि के सब लेखे भी इसी अमात्य द्वारा रखे जाते थे।

(१०) सर्वाध्यक्ष—यह सम्भवतः साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

इन मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त, राज्य-कर को वसूल करने का विभाग 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। इस अधिकरण के अधीन शाल्किक (भूमिकर वसूल करने वाला), गौल्मिक (जंगलों से विविध आमदनी प्राप्त करने वाला), तलवाटक व गोप (ग्रामों के विविध कर्मचारी) आदि अनेक राजपुरुष होते थे।

राजप्रासाद का विभाग बहुत विशाल होता था। महाप्रतीहार और प्रतीहार नाम के अनेक कर्मचारी उसके विविध कार्यों को सँभालते थे। सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी को 'रहसि नियुक्त' कहते थे। अन्य अमात्यों व अध्यक्षों के भी अपने-अपने 'रहसि नियुक्त' रहते थे।

युवराज-भट्टारक और युवराज के पदों पर राजकुल के व्यक्ति ही नियत किये जाते थे। सम्राट् का बड़ा लड़का 'युवराज-भट्टारक' और अन्य लड़के 'युवराज' कहाते थे। शासन में इन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण पद दिये जाते थे। यदि कोई युवराज (राजपुत्र) कुमारामात्य के रूप में कार्य करे, तो वह 'युवराज कुमारामात्य' कहाता था। सम्राट् के निजी स्टाफ में नियुक्त कुमारामात्य 'परमभट्टारकपादीय कुमारामात्य' कहाते थे। इसी प्रकार युवराज-भट्टारक के स्टाफ के बड़े पदाधिकारी 'युवराज-भट्टारकपादीय कुमारामात्य' कहे जाते थे। राजा के विविध पुत्र प्रान्तीय शासक व इसी प्रकार के अन्य ऊँचे राजपदों पर नियुक्त होकर शासन-कार्य में सम्राट् की सहायता करते थे।

विविध राजकर्मचारियों के नाम गुप्तकाल में बिलकुल नये हो गये थे। मौर्य-काल में सम्राट् को केवल 'राजा' कहते थे। बौद्ध-धर्म के अनुयायी अशोक सदृश राजा अपने साथ 'देवानां प्रिय: प्रियदर्शी' विशेषरण लगाते थे। पर गुप्त सम्राट् 'महा-राजाधिराज' कहलाते थे, और अपने धर्म के अनुसार 'परम भागवत' या 'परम माहे-श्वर' या 'परम सौगत' विशेषरण का प्रयोग करते थे।

पुराने मौर्यकालीन 'तीर्थों' का स्थान अब 'अधिकरणों' ने ले लिया था। उनके प्रधान कर्मचारी अब 'अधिकृत' कहाते थे।

प्रान्तीय शासन—विशाल गुप्त साम्राज्य अनेक राष्ट्रों व देशों में विभक्त था। साम्राज्य में कुल कितने देश व राष्ट्र थे, इसकी ठीक संख्या ज्ञात नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र में अनेक 'भुक्तियाँ' और प्रत्येक 'भुक्ति' में अनेक 'विषय' होते थे। भुक्ति को हम वर्त-मान समय की कमिश्नरी के समान समझ सकते हैं। गुप्तकालीन शिलालेखों में तीर-भुक्ति (तिरहुत), पुण्ड्रवर्धन भुक्ति (दीनाजपुर, राजशाही आदि), मगध भुक्ति आदि विविध भुक्तियों का उल्लेख आता है। 'विषय' वर्तमान समय के ज़िलों के समान थे। प्राचीन काल के महाजनपद और जनपद अब नष्ट हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक मागध-साम्राज्य के अधीन रहने के कारण अपनी पृथक् सत्ता की स्मृति अब उनमें बहुत कुछ मन्द पड़ गई थी। अब उनका स्थान भुक्तियों ने ले लिया था, जिनका निर्माण शासन की सुहूलियत को दृष्टि में रखकर किया जाता था।

देश या राष्ट्र के शासक के रूप में प्रायः राजकुल के मनुष्य नियत होते थे। इन्हें 'युवराज कुमारामात्य' कहते थे। इनके अपने-अपने महासेनापति, महादंडनायक आदि प्रधान कर्मचारी भी होते थे। युवराज कुमारामात्यों के अधीन भुक्तियों का शासन करने के लिए 'उपरिक' नियत किये जाते थे। उपरिकों की नियुक्ति सीधी सम्राट् द्वारा होती थी। इस पद पर राजकुल के कुमार भी नियत होते थे। प्रत्येक भुक्ति अनेक 'विषयों' में विभक्त होती थी। विषय के शासक 'विषयपति' कहाते थे। इनकी नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा की जाती थी।

गुप्तकाल के जो लेख मिले हैं, उनसे सुराष्ट्र, मालवा, मन्दसौर और कौशांबी—चार राष्ट्रों का परिचय मिलता है। सुराष्ट्र का राष्ट्रिक (राष्ट्र का शासक) समुद्रगुप्त के समय में पर्णदत्त था। मन्दसौर का शासन बन्धुवर्मा के हाथ में था। इसमें सन्देह नहीं, कि विशाल गुप्त-साम्राज्य में अन्य बहुत-से राष्ट्र भी रहे होंगे, पर उनका उल्लेख इस काल के शिलालेखों में नहीं हुआ है।

भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। दामोदर गुप्त के समय में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का शासक 'उपरिकर महाराज राजपुत्र देवपुत्र देवभट्टारक' था। वह राजकुल का था। उससे पूर्व इस पद पर चिरतिदत्त रह चुका था, जो कि राजकुल का नहीं था। इसी तरह चन्द्रगुप्त द्वितीय

विक्रमादित्य के शासनकाल में तीर भुक्ति का शासक सम्राट् का पुत्र गोविन्दगुप्त था। इन उपरिक महाराजाओं की बहुत-सी मोहरें इस समय उपलब्ध होती हैं।

विषय (ज़िले) के शासक विषयपति को अपने कार्य में परामर्श देने के लिए एक सभा होती थी, जिसके सभासद 'विषय-महत्तर' (ज़िले के बड़े लोग) कहाते थे। इनकी संख्या तीस के लगभग होती थी। नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह (व्यापारियों का मुखिया), प्रथम कुलिक (शिल्पियों का मुखिया) और प्रथम कायस्थ (लेखक-श्रेणी का मुखिया) इस विषय-सभा में अवश्य रहते थे। इनके अतिरिक्त जिले में रहने वाली जनता के अन्य मुख्य लोग भी इस सभा में 'महत्तर' के रूप में रहते थे। सम्भवतः, इन महत्तरों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती थी। विषयपति अपने प्रदेश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिए नियुक्त कर लेता था। इन महत्तरों के कारण ज़िले के शासन में सर्वसाधारण जनता का काफी हाथ रहता था। विषयपति को यह भलीभाँति मालूम होता रहता था, कि उसके इलाके की जनता क्या सोचती और क्या चाहती है।

विषय के शासक कुमारामात्यों (विषयपतियों) का गुप्त-साम्राज्य के शासन में बड़ा महत्त्व था। अपने प्रदेश की सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के लिए वे ही उत्तरदायी थे। उनके अधीन राजकीय करों को एकत्र करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक नामों से कहा जाता था। मौर्यकाल में भी ज़िले के इन कर्मचारियों को 'युक्त' ही कहते थे। गुप्तकाल में बड़े पदाधिकारियों के नाम बदल गये थे, पर छोटे राजपुरुषों के अब भी वही नाम थे, जो कम-से-कम सात सदियों से भारत में प्रयुक्त होते आ रहे थे। विषयपति के अधीन दंडपाशिक (पुलिस के कर्मचारी), चोरोद्धरणिक (खुफिया पुलिस), आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दंडनायक (ज़िले की सेना के अधिकारी) रहते थे।

'विषय' में अनेक शहर और ग्राम होते थे। शहरों के शासन के लिए 'पुरपाल' नाम का कर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति कुमारामात्य की मानी जाती थी। पुरपाल केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नियुक्त होते थे। विषय के महत्तर इसे भी शासन-कार्य में परामर्श देते थे। पुरों की निगम-सभायें अभी तक भी विद्यमान थीं, और उनके कारण जनता अपने बहुत-से मामलों की व्यवस्था स्वयं ही करती थी। व्यापारियों और शिल्पियों के संघ इस काल में भी विद्यमान थे।

ग्रामों के शासन में पंचायत का बड़ा हाथ रहता था। इस युग में पंचायत को 'पंच-मंडली' कहते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अन्यतम सेनापति अम्रकार्दव ने एक ग्राम की पंच-मंडली को २५ दीनारें एक विशेष प्रयोजन के लिए दी थीं। इसका उल्लेख साँची के एक शिलालेख में किया गया है। गुप्तों से पूर्व ग्राम की सभा को पंच-मंडली नहीं कहा जाता था। पर इस युग में भारत की उस पंचायत-

प्रणाली का पूरी तरह प्रारम्भ हो चुका था, जो सैकड़ों साल बीत जाने पर भी आंशिक रूप में अब तक भी सुरक्षित है।

राजकीय कर—गुप्तकाल के लेखों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि इस युग में राजकीय आय के निम्नलिखित साधन थे—

(१) **भागकर**—खेती में प्रयुक्त होनेवाली जमीन से पैदावार का निश्चित भाग राज्यकर के रूप में लिया जाता था। इस भाग की मात्रा १८ फी सदी से २५ फी सदी तक होती थी। यह भागकर (मालगुजारी) प्रायः पैदावार की शकल में ही लिया जाता था। यदि वर्षा न होने या किसी अन्य कारण से फसल अच्छी न हो, तो भागकर की मात्रा स्वयं कम हो जाती थी, क्योंकि किसानों को पैदा हुए अन्न का निश्चित हिस्सा ही मालगुजारी के रूप में देना होता था। भागकर का दूसरा नाम 'उद्रग' भी था।

(२) **भोगकर**—मौर्यकाल में जिस चुंगी को शुल्क संज्ञा से कहा जाता था, उसी को गुप्तकाल में भोगकर कहते थे।

(३) **भूतोवात-प्रत्याय**—बाहर से अपने देश में आने वाले और अपने देश में उत्पन्न होने वाले विविध पदार्थों पर जो कर लगता था, उसे भूतोवात-प्रत्याय कहते थे। गुप्तकालीन लेखों में स्थूलरूप से १८ प्रकार के करों का निदश किया गया है। पर इनका विवरण नहीं दिया गया। पृथक् रूप से केवल तीन करों का ही उल्लेख किया गया है। इस काल की स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि परम्परागत रूप से जो विविध कर मौर्य-युग से चले आते थे, वे गुप्तकाल में भी वसूल किये जाते थे, यद्यपि उनके नाम और दर आदि में कुछ-न-कुछ अन्तर इस समय में अवश्य आ गया था।

अधीनस्थ राज्यों का शासन—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत जो अनेक अधीनस्थ राज्य थे, उन पर सम्राट् के शासन का ढंग यह था, कि छोटे सामन्त 'विषयपति कुमारामात्यों' के और बड़े सामन्त भुक्ति के शासक 'उपरिक महाराज कुमारामात्यों' के अधीन होते थे। अपने इन कुमारामात्यों द्वारा गुप्त सम्राट् विविध सामन्तों व अधीन राजाओं पर अपना नियन्त्रण व निरीक्षण रखते थे। पर अनेक बड़े महासामन्त ऐसे भी थे, जिनके राज्य बहुत विशाल थे, और जिनके अपने सन्धिविग्रहक, भौगिक, विषयपति और उपरिक आदि पदाधिकारी भी होते थे। महाराजा हस्तिन् इसी प्रकार का महासामन्त था।

इस काल में भारत में सामन्तपद्धति (फ्यूडलिज़म) का भी विकास हो गया था। बड़े सामन्तों के अधीन छोटे सामन्त और उनके भी अधीन और छोटे सामन्त होते थे। सम्राट् बुधगुप्त के अधीन महाराजा सुरश्मिचन्द्र एक बड़ा सामन्त था, जिसके अधीनस्थ एक अन्य सामन्त मातृविष्णु था। गुप्त सम्राटों के अधीन परि-

ग्राजक, उच्छकल्प और वर्मन आदि विविध वंशों के शक्तिशाली सामन्त महाराज अपने-अपने राज्यों में शासन करते थे। इनकी अपनी सेनाएँ भी होती थीं। ये अपना राजकीय कर स्वयं वसूल करते थे, और अपने आन्तरिक मामलों में प्रायः स्वतन्त्र थे। साम्राज्य के सांधिविग्रहिक के निरीक्षण में ये महाराज अपने शासन का स्वयं संचालन करते थे। अनेक सामन्त महाराज ऐसे भी थे, जिन पर सम्राट् का नियन्त्रण अधिक कठोर था, और जिन्हें राजकीय कर को वसूल करने का भी पूरा अधिकार नहीं था।

मौर्यकाल में यह सामन्तपद्धति विकसित नहीं हुई थी। उस काल में पुराने जनपदों की पृथक् सत्ता की स्मृति और सत्ता विद्यमान थी, पर इन जनपदों में अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार के अक्षुण्ण रहते हुए भी उनके पृथक् राजा और पृथक् सेनायें नहीं थीं। गुप्तकाल में बड़े और छोटे सब प्रकार के सामन्त थे, जो अपनी पृथक् सेनायें रखते थे। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया था, पर इनकी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट नहीं किया था।

शक, यवन, कुशाण आदि म्लेच्छों के आक्रमणों से भारत में जो अव्यवस्था और अशान्ति उत्पन्न हो गई थी, उसी ने इस पद्धति को जन्म दिया था। पुराने मागध-साम्राज्य के उच्च महामात्रों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया, और वे वंशक्रमानुगत रूप से अपने-अपने प्रदेश में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे। अव्यवस्था के युग में अनेक महत्त्वाकांक्षी शक्तिशाली व्यक्तियों ने भी अपने पृथक् राज्य बना लिये थे। गुप्त-सम्राटों ने इन सब राजा-महाराजाओं का अन्त नहीं किया। यही कारण है, कि उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये न केवल पुनः स्वतन्त्र हो गये, पर परस्पर युद्धों और विजययात्राओं द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार में भी तत्पर हो गये। इसी का यह परिणाम हुआ, कि सारे उत्तरी भारत में अव्यवस्था छा गई, और एक प्रकार के 'मात्स्यन्याय' का प्रारम्भ हो गया।

मौर्यों की शक्ति शिथिल होने पर पुराने जनपद पुनः स्वतन्त्र हो गये थे। पर गुप्तों के निर्बल पड़ने पर जनपद स्वतन्त्र नहीं हुए, अपितु सामन्त महाराजा स्वतन्त्र हुए, जो अपनी-अपनी सेनाओं के साथ विजययात्राओं के लिये प्रयत्नशील रहते थे। इसी लिए तिब्बती लामा तारानाथ को यह लिखने का अवकाश मिला, कि इस काल में 'हर एक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी-अपनी जगह राजा बन बैठा।' सामन्त महाराजाओं के आपस के युद्धों ने सचमुच ही मात्स्यन्याय की अवस्था उत्पन्न कर दी थी। गुप्त-काल की सामन्त-पद्धति का ही यह परिणाम था, कि भारत में यशोधर्मा और हर्षवर्धन जैसे 'आसमुद्रक्षितीश' तो बाद में भी हुए, पर वे स्थिर रूप से किसी विशाल साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सके। गुप्तों के साथ ही भारत-भर में एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गई। सामन्त-पद्धति का यह

स्वाभाविक परिणाम हुआ।

गुप्त-साम्राज्य के अधीन जो यौधेय, कुलिन्द, मालव, आर्जुनायन आदि अनेक गणराज्य थे, उनमें भी इस युग में स्वतन्त्र शासन की परम्परा का ह्रास हो रहा था। कुछ विशेष शक्तिशाली कुलों में इन गणराज्यों की राजशक्ति केन्द्रित होती जा रही थी। ये कुलीन लोग अपने को 'महाराज' और 'महासेनापति' कहते थे। अपने युग की प्रवृत्ति के प्रभाव से गणराज्य भी नहीं बच सके, और धीरे-धीरे वे भी ऐसे महाराजाओं के अधीन हो गए, जो सामन्तों की-सी स्थिति रखते थे। वस्तुतः गुप्त साम्राज्य के समय में ही भारत में गणराज्यों का अन्त हो गया था, और उसके अधीन जिन गणराज्यों की सत्ता थी, उनमें भी ऐसे व्यक्तियों के शासन का प्रारम्भ हो गया था, जिनकी स्थिति सामन्तों के सदृश थी। छठी सदी के बाद भारत के इतिहास में किन्हीं भी गणराज्यों की सत्ता सूचित नहीं होती। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में न गणराज्य रहे थे, और न कोई ऐसी शासन-संस्थाएँ, जो राजाओं की निरंकुशता व स्वेच्छाचारिता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखतीं। यही दशा इस युग के यूरोपियन देशों में भी थी।

चौदहवाँ अध्याय

मध्यकालीन भारत की शासन-संस्थाएं

(१) भारतीय इतिहास का मध्यकाल

छटी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य का क्षय हुआ, और बारहवीं सदी के अन्त तक उत्तरी भारत के बड़े भाग पर तुर्क-अफगान आक्रान्ताओं का शासन स्थापित हो गया। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक की छः शताब्दियों को भारत के इतिहास में मध्ययुग कहा जा सकता है। इन सदियों में भारत में कोई ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं थी, जो देश के बड़े भाग पर अपना अधिपत्य स्थापित कर एक ऐसे साम्राज्य की नींव डालने में समर्थ होती, जिससे यह देश एक राजनीतिक सूत्र में संगठित रहता। आचार्य चाणक्य से प्रेरणा पाकर मौर्य चन्द्रगुप्त ने हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण इस आर्य भूमि पर जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, और जो गुप्त सम्राटों के प्रताप के कारण हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे वाह्लीक देश तक विस्तृत हो गया था, उसका अब अन्त हो गया था। उसका स्थान अब बहुत-से ऐसे राजवंशों ने ले लिया था जिनके राजा निरन्तर आपस में लड़ते रहते थे, और जो अनेक बार दूर-दूर तक विजययात्राएँ करके भी किसी स्थिर साम्राज्य की नींव डालने में असमर्थ रहते थे। सातवीं सदी के पूर्वार्ध में स्थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन (६०६-६४६ ई०) ने उत्तरी भारत में, और चालुक्य पुलकेशी द्वितीय ने दक्षिणापथ में विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया। पर उनके साम्राज्य देर तक स्थायी नहीं रहे। आठवीं सदी में उत्तरी भारत में पाल, गुर्जर-प्रतीहार, कर्कोटक आदि राजवंशों के, और दक्षिणी भारत में राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव, गंग, चोल आदि राजवंशों के अपने-अपने विभिन्न राज्य थे। इन राजवंशों में कभी कोई प्रतापी राजा दूर-दूर तक विजययात्राएँ कर अपनी शक्ति का विस्तार कर लेता, और एक विस्तृत साम्राज्य का निर्माण कर लेता। पर इन दिग्विजयों के कारण किसी स्थायी साम्राज्य की नींव नहीं पड़ती थी। दिग्विजयी राजा अन्य राजाओं से अधीनता स्वीकार कर व उसके चिह्न-स्वरूप उपहार भेंट आदि ग्रहण करके ही सन्तुष्ट हो जाते थे। यही दशा नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में रही। यद्यपि इस काल में कभी किसी राज-

वंश का उत्कर्ष हुआ, और पुराने राजवंशों का स्थान नये राजवंश लेते रहे, पर राजनीतिक दशा में कोई अन्तर नहीं आया।

संसार के अन्य देशों के समान भारत के इतिहास में भी मध्य युग अन्धकार का काल था। इसी कारण इस काल में दण्डनीति या राजनीतिशास्त्र विषयक किन्हीं ऐसे ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ, जिनके राजनीतिक विचारों में कोई नवीनता या मौलिकता हो। कौटलीय अर्थशास्त्र और शान्तिपर्व (महाभारत) जैसे कोई भी ग्रन्थ इस काल में नहीं बन सके। इस युग में जो भी स्मृतियाँ व नीति-ग्रन्थ लिखे गए, उनमें पुराने विचारों को ही दोहराया गया है। सामाजिक दृष्टि से इस युग में संकीर्णता उत्पन्न हुई, जिसके कारण जातिभेद ने उग्ररूप धारण कर लिया। इस काल में जिन स्मृतियों का निर्माण हुआ, उनमें जातिभेद का अत्यन्त संकीर्ण रूप विद्यमान है। शासन-संस्थाओं की दृष्टि से भी इस युग में कोई नई प्रगति नहीं हुई। इस काल की प्रधान संस्था सामन्त-पद्धति ही थी, जिसके कारण देश में राजनीतिक एकता का सर्वथा अभाव रहा। राजा (चाहे वे दिग्विजयी सम्राट् हों और चाहे स्थानीय सामन्त) पूर्णतया निरंकुश व स्वेच्छाचारी थे। केन्द्रीय शासन में किन्हीं भी ऐसी सभाओं का अभाव था, जिनमें सर्वसाधारण जनता का मत प्रकट हो सकता हो। पर इस काल में भी ग्राम-संस्थाओं के रूप में जनता की स्वतन्त्रता अनेक अंशों में सुरक्षित थी।

जिस ढंग से विशद रूप से हमने भारत की प्राचीन शासन-संस्थाओं का निरूपण किया है, इस युग के सम्बन्ध में उस प्रकार विवेचन कर सकना सम्भव नहीं है। इसके लिए जहाँ ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है, वहाँ साथ ही इस युग में ऐसी शासन-संस्थाओं की सत्ता भी नहीं थी, जिनका निरूपण करना उपयोगी हो। हम इस अध्याय में बहुत संक्षेप के साथ इस काल की शासन-पद्धति का विवेचन करेंगे। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि प्राचीन गणराज्यों का अब सर्वथा लोप हो गया था, और भारत में केवल ऐसे राज्यों की सत्ता थी, जिनके राजा अपने बाहुबल के आधार पर ही राजसिंहासन पर आरूढ़ रह सकते थे। ये राजा किसी सभा या अन्य संस्था के अधीन होकर शासन-कार्य का सम्पादन करें, यह सम्भव ही नहीं था। इन पर यदि किसी प्रकार का नियन्त्रण था, तो केवल उन लोगों का था जो इनकी अपनी जाति या कुल के थे, और जिनके सहयोग से ही इन्होंने अपना राज्य स्थापित किया था।

(२) शासन-व्यवस्था

मध्य युग में भारत बहुत से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था, जिनकी सीमायें राजा के वैयक्तिक शौर्य और शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थीं। इन राज्यों की शासन-व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इस विषय पर विचार करते हुए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(१) इस समय भारत के विविध राज्यों में सामन्तपद्धति का विकास हो गया था। महाराजाधिराज की अधीनता में बहुत से छोटे बड़े सामन्त राजा होते थे, जो अपने-अपने क्षेत्र में पृथक् रूप से शासन करते थे। इन सामन्त राजाओं की अपनी सेना होती थी, इनका अपना राजकोष होता था, और अपने प्रदेश में इनकी स्थिति स्वतन्त्र शासक के सदृश रहती थी। यदि महाराजाधिराज निर्बल हो, तो ऐसे सुवर्णीय अवसर का लाभ उठाकर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाने में ये जरा भी संकोच नहीं करते थे, और स्वयं विजययात्रा के लिए निकल पड़ते थे। इस युग की सामन्तपद्धति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पालवंशी सम्राट् धर्मपाल (७६६–८०६) ने जब कन्नौज के राजा इन्द्रायुध या इन्द्रराज को परास्त किया, तो उसने इस राज्य को सीधा अपने शासन में नहीं लिया, अपितु आयुध वंश के ही एक कुमार चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया। चक्रायुध की स्थिति पाल-सम्राट् धर्मपाल के 'महासामन्त' की थी, और उसकी अधीनता में कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गांधार, कीर, भोज, मत्स्य और मद्र आदि के राजा सामन्त की स्थिति में अपने-अपने प्रदेशों का शासन करते थे। स्वयं धर्मपाल इस बात के लिए उत्सुक था, कि कन्नौज के अधीनस्थ सामन्तराजा वहाँ के महासामन्त चक्रायुध के आधिपत्य को स्वीकार करें। इस युग के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार "सामन्तराजाओं को काँपते हुए राजमुकुटों सहित आदर से झुककर उसे (चक्रायुध को) स्वीकार करना पड़ा। पंचाल के वृद्धों ने उसके लिए सुवर्ण के अभिषेक-घट खुशी से पकड़े।" यह महाप्रतापी चक्रायुध जिसकी अधीनता में इतने प्रदेश थे, स्वतन्त्र राजा न होकर धर्मपाल का महा-सामन्त मात्र था। सामन्तपद्धति (फ्यूडल सिस्टम) का सबसे बड़ा दोष यही होता है, कि उसके कारण राज्यलक्ष्मी किसी एक राजवंश में स्थिर नहीं रहने पाती, और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को बल मिलता रहता है। इसके कारण केन्द्रीय राजशक्ति कभी इतनी सबल नहीं होने पाती, कि देश में स्थायी शांति रह सके।

जब कौटलीय अर्थशास्त्र, राजधर्मपर्व (शांति पर्व, महाभारत) आदि राज-नीतिसम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये, तब भारत में सामन्तपद्धति नहीं थी। इस पद्धति के विकसित हो जाने पर किसी आचार्य ने राजनीति-विषयक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसमें इस पद्धति पर विशदरूप से प्रकाश डाला गया हो। पर मध्यकाल में विरचित युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ के लेखक ने राजा का लक्षण करते हुए यह प्रश्न किया, कि यह क्या बात है जो चक्रवर्ती सम्राट् भी राजा कहाता है, और किसी ग्राम या जागीर के स्वामी की भी यही संज्ञा होती है। यह प्रश्न निःसंदेह महत्त्व का था, क्योंकि सार्व-भौम सम्राट् और ग्रामाधिपति की स्थिति में बहुत अन्तर होता है। नीतिकार ने इस प्रश्न का यही उत्तर दिया, कि जो कोई भी अपने क्षेत्र में अपने राजशासन को स्वी-कार कराने में समर्थ हो, उसी को राजा कहा जाना चाहिए। राजा का यह लक्षण

सामन्तपद्धति के राजा पर पूरी तरह से चरितार्थ होता है।

(२) प्राचीन युग के जनपदों का इस काल में अन्त हो चुका था। यद्यपि मौर्य-साम्राज्य अत्यन्त विशाल था, पर जनपदों की स्थानीय स्वतन्त्रता उसमें कायम थी। इसीलिए तक्षशिला और पाटलिपुत्र जैसे नगरों के शासन में वहाँ की पौरसभा का महत्त्वपूर्ण स्थान था, और विविध जनपदों में उनके जनपद-संघ व देशसंघ पर्याप्त महत्त्व रखती थीं। सामन्तपद्धति के विकास के अनन्तर यह स्थिति सम्भव नहीं रह गई। इस पद्धति में राज्य-शासन का आधार पुर या जनपद के स्थान पर वह राजवंश हो गया, जिसका नृपति एक विशेष प्रदेश का शासक होता था। जिस प्रदेश पर चन्देलों या कलचूरियों का आधिपत्य था, उसका शासन वहाँ के निवासियों की जानपद-सभा (जिसमें उस प्रदेश के ग्रामों के ग्रामणी सम्मिलित होते हों) के हाथ में न रहकर चन्देल या कलचूरी-कुल के लोगों के हाथों में आ गया था। इस युग में एक ऐसी विशिष्ट श्रेणि राजशक्ति का उपभोग करती थी, जिसका सम्बन्ध राज्य के राजवंश के साथ होता था। चन्देल, कलचूरी, गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चालुक्य, गंग, परमार आदि जहाँ राजवंशों के नाम हैं, वहाँ साथ ही वे एक विशिष्ट जाति या कुल का भी बोध कराते हैं। गुर्जरप्रतीहार-राज्य की राजशक्ति उन गुर्जरप्रतीहार लोगों में निहित थी, जिन्होंने अपने नेता के नेतृत्व में कन्नौज को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित किया था। यही बात चन्देल, चौहान आदि अन्य वर्गों के विषय में भी कही जा सकती है। भारतीय इतिहास में यह एक नई बात थी, जो सामन्तपद्धति की परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न हुई थी। मौर्य, नन्द, शुङ्ग आदि केवल राजवंशों के नाम थे। वे किसी शासक जाति को सूचित नहीं करते थे। पर मध्यकाल में जो बहुत से छोटे-बड़े राज्य भारत में विद्यमान थे, उनमें राजशक्ति उस जाति में निहित रहती थी, जिसने बाहुबल द्वारा अपने राज्य की स्थापना की थी। इस प्रकार के राज्यों में यह सम्भव नहीं था, कि शासनकार्य में राजा की सहायता करने के लिए किसी राजसभा की सत्ता होती। राजा अपने कुल के प्रमुख पुरुषों की सहायता से राज्य का शासन करता था, और राजदरबार में बैठकर राजकार्य का चिन्तन करता था। वस्तुतः, यह युग ऐसे राजाओं का था, जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। इसी कारण यदि राजा योग्य होता, तो वह प्रजा के हित और कल्याण का सम्पादन करता था। यदि वह अयोग्य और नृशंस होता, तो प्रजा को पीड़ित करता था। कल्हण की राजतरङ्गिणी में काश्मीर के राजाओं का जो वृत्तान्त दिया गया है, वह इस युग की राज्य-संस्था पर उत्तम प्रकाश डालता है। काश्मीर का उन्मत्तावन्ती राजा गर्भवती स्त्रियों के पेट को चीरकर बच्चे निकालने और कर्मकरों के अंग कटवाने में अपूर्व आनन्द अनुभव करता था। जब राजकर्मचारी उसके पिता पर शस्त्र प्रहार करने में तत्पर थे, तो इस दृश्य को देखकर वह अट्टहास कर रहा था। क्योंकि वह राजा पागल (उन्मत्त) था,

—१८

अतः वह प्रजा पर मनमाने अत्याचार कर सकता था। काश्मीर के एक राजा ने दुर्भिक्ष पड़ने पर सारा चावल अपने कब्जे में कर लिया, और उसे मनमानी कीमत पर बेचना शुरू किया। स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन में ये बातें अस्वाभाविक नहीं होतीं। यदि राजा दयालु हो, तो प्रजा का सौभाग्य है। यदि वह नृशंस और अत्याचारी हो, तो प्रजा उसका क्या बिगाड़ सकती है। ऐसे समय में केवल यही बात सम्भव होती है, कि राजा की अयोग्यता से लाभ उठाकर सामन्त लोग उसके विरुद्ध विद्रोह कर दें। मध्य-युग में काश्मीर में यही सब होता रहा। कोई आश्चर्य नहीं, कि इस युग के अन्य राजवंशों के राजाओं की भी यही दशा हो। खेद यही है, कि कल्हण के समान किसी अन्य ऐतिहासिक ने इस युग के भारतीय राजवंशों का इतिहास नहीं लिखा।

(३) सामन्तपद्धति के कारण यह सम्भव नहीं रहता, कि राजशक्ति के धारण करनेवाले लोग प्रजा के हित और कल्याण पर ध्यान दे सकें। उनकी सब शक्ति इसी काम में लग जाती है, कि परस्पर युद्ध करके अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करते रहें। सर्वसाधारण जनता की दृष्टि से यह पद्धति अराजकता को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में शक्ति और व्यवस्था को स्थापित रखने, जनता का हित और कल्याण सम्पादित करने और परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक उन्नति करने की उत्तरदायिता उन ग्राम-सभाओं पर आ गई, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थीं। वैदिक, उत्तर-वैदिक, बौद्ध, मौर्य व बाद के युगों में भी ये ग्रामसंस्थाएँ अच्छी उन्नत दशा में थीं। पर मध्यकाल में उनका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया, और राजवंशों की अराजकता और जनसाधारण के हितों के प्रति उनकी उपेक्षावृत्ति को दृष्टि में रखकर इन ग्रामसंस्थाओं ने ऐसे बहुत से कार्य अपने हाथों में ले लिए, जो साधारणतया राजाओं की उत्तरदायिता होते हैं। इस युग में ग्राम-संस्थाओं का जिस रूप में विकास हुआ, उसका भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। हम अगले प्रकरण में इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। मध्यकाल में विकसित हुई ग्रामसंस्थायें अफगान और मुगलकाल में भी कायम रहीं, और ब्रिटिश शासन भी उनका अन्त करने में समर्थ नहीं हुआ। यद्यपि मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था, पर ग्रामसंस्थाओं के रूप में इस युग में भी ऐसी संस्थायें विद्यमान थीं, जिनके द्वारा जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की व्यवस्था स्वयं किया करती थी। इस विषय में सर चार्ल्स मेटकाफ का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—"ग्रामसंस्थायें छोटे-छोटे लोकतन्त्र राज्यों का नाम था, जो अपने आप में पूर्ण थीं। उन्हें जो कुछ भी चाहिए था, वह उनके अपने अन्दर मौजूद था। अपने से बाहर के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कम था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जहाँ अन्य कोई नहीं बचा, वहाँ वे बची रहीं। एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश आया। एक क्रान्ति के बाद दूसरी क्रान्ति हुई—पर ग्रामसंस्थायें पूर्ववत् वहीं कायम रहीं। मरा

सम्मति में ये ग्रामसंस्थायें ही, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की तरह है, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक समर्थ रहीं। इन्हीं के कारण सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की रक्षा होती रही। भारतीयों को जो कुछ प्रसन्नता व स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उसमें ये ही सबसे अधिक सहायक हैं।"

(३) ग्राम-संस्थायें

मध्यकालीन अव्यवस्था और अराजकता से सर्वसाधारण जनता की रक्षा करने के लिये जिन ग्रामसंस्थाओं ने इतना महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, उनके सम्बन्ध में अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इस युग के बहुत से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे इन ग्राम-संस्थाओं के विषय में अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। विशेषतया, दक्षिणी भारत से उपलब्ध हुए उत्कीर्ण लेख इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं।

ग्रामसभा—प्रत्येक ग्राम की एक सभा या महासभा होती थी, जो अपने क्षेत्र में शासन का सब कार्य सँभालती थी। स्थान और काल के भेद से ग्राम-सभाओं के संगठन भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। कुछ ग्रामों की ग्राम-सभाओं में वहाँ के सब बालिग (वयस्क) पुरुष सदस्य-रूप से सम्मिलित होते थे। कुछ ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सब वयस्क पुरुषों को ग्रामसभा की सदस्यता का अधिकार नहीं होता था। दक्षिणी भारत के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार एक ग्राम के वयस्क पुरुषों की संख्या ४०० थी, पर उसकी सभा के सदस्य केवल ३०० पुरुष थे। एक अन्य ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या ५१२ लिखी गई है। एक अन्य लेख में एक ऐसे ग्राम का उल्लेख है, जिसकी सभा की सदस्य-संख्या १००० थी। ग्रामसभा का अधिवेशन या तो मन्दिर में होता था, या किसी वृक्ष की छाया में। कतिपय ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सभा के लिये पृथक् भवन भी विद्यमान थे।

समितियाँ—ग्राम के शासन का सब अधिकार ग्रामसभा के हाथों में होता था, जिसके अधिवेशनों की अध्यक्षता ग्रामणी नामक कर्मचारी करता था। पर शासन-कार्य की सुविधा के लिये अनेक समितियों का भी निर्माण किया जाता था, जिन्हें विविध प्रकार के कार्य सुपुर्द रहते थे। ये समितियाँ निम्नलिखित थीं—(१) वर्ष भर के लिये नियुक्त समिति, या वर्ष भर तक शासन-कार्य का नियन्त्रण व निरीक्षण करने वाली समिति, (२) दान की व्यवस्था करने वाली समिति, (३) जलाशय की व्यवस्था करने वाली समिति, (४) उद्यानों का प्रबन्ध करने वाली समिति, (५) न्याय की व्यवस्था करने वाली समिति, (६) सुवर्ण व कोश की व्यवस्थापिका समिति, (७) ग्राम के विविध विभागों का निरीक्षण करने वाली समिति, (८) खेतों व मैदानों की व्यवस्था व निरीक्षण करने वाली समिति, (९) मन्दिरों का प्रबन्ध करने वाली समिति,

(१०) साधु व विरक्त लोगों की व्यवस्था करने वाली समिति। इन दस समितियों के क्या कार्य होते थे, यह बात इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इन विविध समितियों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इस विषय में दक्षिणी भारत के एक लेख से बहुत उपयोगी सूचना प्राप्त हुई है। इस लेख में एक ग्राम के सम्बन्ध में यह लिखा गया है, कि ग्राम तीस भागों में विभक्त था। प्रत्येक भाग के सब वयस्क पुरुष एकत्र होकर उन व्यक्तियों की सूची तैयार करते थे, जो समितियों के सदस्य बनने के लिने उपयुक्त हों। समिति की सदस्यता के लिये यह आवश्यक था, कि सदस्यों की न्यूनतम आयु ३५ वर्ष और अधिकतम आयु ७० वर्ष की हो। जो पुरुष शिक्षित हों, ईमानदार हों और कुछ सम्पत्ति भी रखते हों, वे ही समितियों की सदस्यता के अधिकारी माने जाते थे। कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने किसी समिति के सदस्य-रूप में खर्च किये धन का सही हिसाब न दिया हो, या जिस पर कोई अपराध साबित हो चुका हो, भविष्य के लिए समितियों की सदस्यता का अधिकारी नहीं समझा जाता था, और उसका नाम उस सूची में शामिल नहीं किया जाता था, जो ग्राम के विविध भागों द्वारा तैयार की जाती थी। जब यह सूची तैयार हो जाती थी, तो लाटरी डालकर एक पुरुष का नाम निकाला जाता था। इस प्रकार ग्राम के तीस भागों से तीस नाम निकलते थे, और विविध समितियों के सदस्य रूप से इन्हीं की नियुक्ति की जाती थी। तीस पुरुषों में से किसे किस समिति का सदस्य बनाया जाय, इस बात का निर्णय उनकी योग्यता और अनुभव के आधार पर किया जाता था। विविध समितियाँ किस ढंग से अपने-अपने कार्य करें, इसके नियम भी विशद रूप से बनाये गये थे। ग्राम के सब योग्य वयस्क पुरुषों को समितियों की सदस्यता का अवसर मिल सके, इसके लिये यह नियम बनाया गया था, कि केवल उन्हीं पुरुषों को सदस्यता के लिये उपयुक्त व्यक्तियों की सूची में शामिल किया जाय, जो पिछले तीन वर्षों में कभी किसी समिति के सदस्य न रहे हों। इसमें सन्देह नहीं, कि ग्राम सम्बन्धी संस्था की विविध समितियों के सदस्यों की नियुक्ति का यह ढंग बहुत ही उत्तम और निराला था।

ग्रामसंस्थाओं के कार्य—ग्रामसंस्थाओं का स्वरूप छोटे-छोटे राज्यों के समान था। इसीलिए वे प्रायः उन सब कार्यों को करती थीं, जो राज्य किया करते हैं। ग्राम-संस्था की जो अपनी सम्पत्ति हो, उसे बेचना व अमानत रखकर रुपया प्राप्त करना, ग्राम के क्षेत्र में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के झगड़ों व अभियोगों का फैसला करना, मण्डी व बाजार का प्रबन्ध करना, टैक्स वसूल करना, ग्राम के लाभ के लिए नये कर लगाना, ग्रामवासियों से ग्राम के हित के लिए काम लेना, जलाशयों, उद्यानों, खेतों, चरागाहों व मैदानों की देख-रेख करना और मार्गों को ठीक हालत में रखना—इस प्रकार के कार्य थे, जो ग्रामसंस्थाओं के सुपुर्द थे। यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष

उद्देश्य से कुछ धन जमा कराना चाहे, तो वह ग्रामसभा के पास जमा करा सकता था, और ग्रामसभा का यह कर्तव्य होता था, कि वह उसकी समुचित रूप से व्यवस्था करे, और धन जमा करने वाले मनुष्य की इच्छा के अनुसार उसके सूद को व उस धन को खर्च करे। दान-पुण्य की रकमें प्रायः इस ढंग से ग्रामसभाओं के पास जमा की जाती थीं। दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय ग्रामसभाओं की उत्तर-दायिता बहुत बढ़ जाती थी, और वे इस बात की व्यवस्था करती थीं, कि गरीब लोग भूखे न मरने पाएं। इसके लिए यदि वे आवश्यक समझें, तो रुपया उधार भी लेती थीं, या अपनी सम्पत्ति को बेच कर व उसकी जमानत पर कर्ज़ लेकर खर्च चलाती थीं। शिक्षा आदि के लिए धन खर्च करना भी उनका महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। शत्रुओं व डाकुओं से ग्राम की रक्षा करना भी ग्रामसंस्थाओं का काम था, और जो लोग इसमें विशेष पराक्रम प्रदर्शित करते थे, उनका वे अनेक प्रकार से सम्मान भी करती थीं। विशालयदेव नाम के एक वीर पुरुष ने अपने ग्राम के मन्दिर से मुस्लिम आक्रान्ताओं को निकालकर बाहर किया था। इस वीर कृत्य के उपलक्ष्य में ग्रामसभा ने यह व्यवस्था की थी, कि प्रत्येक किसान अपनी उपज का एक निश्चित भाग नियमित रूप से विशालयदेव को प्रदान किया करे। जो ग्रामवासी देश की रक्षा या इसी प्रकार के किसी अन्य उत्कृष्ट कार्य के लिए अपने जीवन की आहुति दे देते थे, उनके परिवार को ग्रामसभा की ओर से ऐसी भूमि प्रदान कर दी जाती थी, जिस पर कोई लगान नहीं लगता था। यदि कोई आदमी ग्राम के विरुद्ध आचरण करे, कोई ऐसा कार्य करे जिससे ग्राम को हानि पहुँचती हो, तो उसे 'ग्रामद्रोही' करार करके दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड प्रायः इस प्रकार का होता था, कि वह अन्य ग्रामवासियों की दृष्टि में गिर जाय और पश्चात्ताप का अनुभव करे। इस प्रकार का एक दण्ड यह था, कि ग्रामद्रोही को भगवान् शिव की मूर्ति को स्पर्श करने का अधिकार नहीं रहता था। ग्राम के क्षेत्र से राज्य के लिए वसूल किये जाने वाले करों को एकत्र करना ग्रामसंस्था का ही कार्य था। ग्रामसभा के अधिकारियों का यह कर्तव्य होता था, कि वे राजकीय करों को वसूल करें, उनका सही-सही हिसाब रखें, और एकत्र धन को राजकोश में पहुँचा दें। यदि कोई अपने इस कर्तव्य में शिथिलता प्रदर्शित करता था, तो वह दण्डनीय होता था।

(४) शासन-व्यवस्था का स्वरूप

दक्षिणी भारत—मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों के शासन का क्या स्वरूप था, इस विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास कौटलीय अर्थशास्त्र सदृश कोई उत्कृष्ट साधन विद्यमान नहीं है। फिर भी दक्षिणी भारत में, विशेषतया चोलमण्डल में बहुत से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इस युग

की शासन-व्यवस्था की कुछ झाँकी ली जा सकती है। ग्राम-संस्थाओं का जो परिचय हमने ऊपर के प्रकरण में दिया है, वह इन उत्कीर्ण लेखों के ही आधार पर है। अब हम उत्कीर्ण लेखों के आधार पर ही चोल-राज्य के शासन के सम्बन्ध में कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करेंगे। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि चोल-राज्य की शासन-व्यवस्था के सदृश ही इस युग के परमार, गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट आदि राज्यों का भी शासन हो, यह आवश्यक नहीं है। चोल-राज्य भारतीय इतिहास की प्रधान धारा से प्रायः पृथक् रहा, यह ध्यान में रखना चाहिये।

चोल-राज्य में शासन की इकाई ग्राम होते थे, जो छोटे-छोटे राज्यों के सदृश थे, और जो अपना शासन स्वयं करते थे। कतिपय ग्राम मिलकर एक समूह का निर्माण करते थे, जिन्हें 'कुर्रम्' कहा जाता था। कुर्रमों का समूह 'नाडु' और नाडुओं के समूह को 'कोट्टम्' या 'वलनाडु' कहते थे। कोट्टम् को हम आजकल का जिला समझ सकते हैं। इसी प्रकार नाडु को तहसील और कुर्रम् को परगना कहा जा सकता है। कतिपय कोट्टम् या वलनाडु मिलकर 'मण्डलम्' का निर्माण करते थे। 'चोल-मण्डलम्' इसी प्रकार का एक मण्डल था। पर चोलवंश के राजाओं के उत्कर्ष-काल में चोल-साम्राज्य में 'चोल-मण्डलम्' के अतिरिक्त अन्य प्रदेश भी सम्मिलित थे, जो दो प्रकार के थे, विजित और सामन्तवर्गीय। राजराज प्रथम और राजेन्द्र सदृश प्रतापी सम्राटों ने चोल-साम्राज्य को बहुत अधिक विस्तृत कर लिया था। इन द्वारा विजय किये हुए अनेक प्रदेशों में अपने पृथक् राजवंशों का शासन था, जिनकी स्थिति अब सामन्तराजाओं के सदृश हो गई थी। पाण्ड्य, केरल आदि के ये सामन्त-राज्य चोलमण्डलम् के समान कोट्टम्, नाडु आदि में विभक्त थे, और इनके शासन का प्रकार भी प्रायः चोलमण्डलम् के ही सदृश था। पर राजराज प्रथम (दसवीं सदी) के साम्राज्यविस्तार से पूर्व भी अनेक चोलराजाओं ने चोलमण्डलम् के समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया था, और अनेक ऐसे प्रदेश (जिनमें तामिल भाषा का ही प्रचार था) भी उनके राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, जो चोलमण्डलम् के दायरे से बाहर के थे। ये प्रदेश चोलों के 'विजित' थे, और इन्हें भी पृथक् मण्डलों में विभक्त कर दिया गया था। इनका शासन करने के लिए जो शासक चोलराजा की ओर से नियुक्त किए जाते थे, वे प्रायः राजकुल के ही होते थे। 'विजित' द्वारा निर्मित मण्डल भी कोट्टम्, नाडु, कुर्रम् आदि उपविभागों में विभक्त थे, और उनके शासन में भी स्थानीय सभाओं और संस्थाओं का पर्याप्त स्थान था। जिन सामन्त-राजाओं ने चोल सम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार किया था, वे उसे नियमित रूप से वार्षिक कर, भेंट-उपहार आदि प्रदान कर सन्तुष्ट रखते थे। पर चोल-सम्राट् के प्रति उनकी भक्ति का आधार केवल उसकी अपनी शक्ति ही होती थी। यही कारण है, कि सम्राट् की शक्ति के निर्बल होते ही ये सामन्त राजा विद्रोह कर पुनः स्वतन्त्र हो जाने के लिए

तत्पर हो जाते थे।

ग्राम के शासन के लिए जिस प्रकार की ग्रामसभाएँ थीं, वैसी ही कुछ सभाओं की सत्ता कुर्रम्, नाडु आदि में भी थी। नाडु की सभा को नाट्टर कहते थे। दक्षिणी भारत में उपलब्ध हुए अनेक उत्कीर्ण लेखों में नाडु की सभाओं का उल्लेख है। एक लेख के अनुसार एक नाडु की नाट्टरसभा ने दो आदमियों की नियुक्ति इस प्रयोजन से की, कि वे नाडु में विक्रयार्थ आने वाले पान के पत्तों पर दलाली वसूल किया करें और इस प्रकार उन्हें जो आमदनी हो, उससे नाडु के मन्दिर के लिए काम में आने वाले पान प्रदान किया करें। इस काम में कोई प्रमाद न हो, इसकी उत्तरदायिता नाडु के 'पाँच सौ निर्दोष पुरुषों' के ऊपर रखी गई। ये पाँच सौ निर्दोष पुरुष सम्भवतः नाडु के अन्तर्गत विविध कुर्रमों और ग्रामों के प्रतिनिधि थे, और इनकी सभा को अपने क्षेत्र के शासन में अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त थे। कुछ उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से यह भी सूचित होता है, कि नाडु व अन्य विभागों की सभाओं को न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे, और वे अपने क्षेत्र के सार्वजनिक हित के कार्यों में भी अपना कर्तृत्व प्रदर्शित करती थीं। यदि किसी नदी पर बाँध बाँधने की आवश्यकता हो, सड़क का निर्माण करना हो, या इसी ढंग का कोई अन्य काम हो, तो नाडु की सभा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव से ऐसे कार्य के लिए कर वसूल करने का अधिकार रखती थी।

ग्राम, नाडु आदि की स्थानीय सभाओं के कारण सर्वसाधारण जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों की व्यवस्था स्वयं कर सके। इन सभाओं की सत्ता के कारण जनता की स्वतन्त्रता बहुत अंश तक सुरक्षित बनी हुई थी। पर जहाँ तक राज्य के केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है, राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते थे। पर राज्यचक्र एक आदमी द्वारा संचालित नहीं हो सकता, इसलिए राजा को अपनी सहायता के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करनी होती थी, और वह उन्हीं के परामर्श के अनुसार कार्य की व्यवस्था करता था। चोल-राज्य में उस समय तक कोई राजाज्ञा जारी नहीं की जा सकती थी, जब तक उस पर ओलैनायकम् (मुख्य सचिव) के हस्ताक्षर न हो जाएं। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि प्रत्येक राजाज्ञा की अन्तिम उत्तरदायिता राजा के अतिरिक्त उसके मुख्य सचिव पर भी होती थी।

उत्तरी भारत—गुप्त-साम्राज्य के समान उत्तरी भारत के पाल आदि वंशों के राज्य भी भुक्ति, विषय, मण्डल, भोग और ग्रामों में विभक्त थे। भुक्ति के शासक की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, और विषय आदि के शासकों को भुक्ति का शासक नियुक्त करता था। विषयपति (विषय का शासक) को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए एक राजसभा की सत्ता होती थी, जिसके सम्बन्ध में एक उत्कीर्ण लेख से

अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इस विषयसभा में निम्नलिखित सदस्य होते थे—(१) नगरश्रेष्ठी—विषय के प्रधान नगर का मुख्य सेठ या जगत्सेठ, (२) सार्थवाह—जो विषय के अन्तर्गत विविध व्यापारी संगठनों का प्रतिनिधित्व करता था, (३) प्रथम कुलिक—जो विविध शिल्पिश्रेणियों का प्रतिनिधि होता था, (४) प्रथम कायस्थ—जो सरकारी कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करता था। पालवंश के राजाओं के अनेक ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनमें इस युग के विवध राजकर्मचारियों के नाम दिये गए हैं। पालवंशी राजा धर्मपाल के खालिमपुर के ताम्रपत्र में राजा द्वारा दान की गई एक जागीर का उल्लेख है, जिसकी सूचना निम्नलिखित कर्मचारियों को दी गई है—(१) राजा—अधीनस्थ सामन्तराजा, (२) राजपुत्र—सामन्तराजाओं के युवराज, (३) राजामात्य, (४) राजनक—विविध जागीरदार, (५) सेनापति, (६) विषयपति—विषय नामक विभाग या जिले का शासक, (७) भोगपति—विषय के उपविभाग 'भोग' का शासक, (८) षष्ठाधिकृत—किसानों द्वारा वसूल किए जाने वाले षड्भाग का प्रधान अधिकारी, (९) दण्डशक्ति—सम्भवतः, पुलिस विभाग का अधिकारी, (१०) दण्ड पाशक—पुलिस विभाग का ही अन्य अधिकारी, (११) चौरोद्धारणिक-चोरों को पकड़ने के लिए नियुक्त पुलिस अधिकारी, (१२) दौसाध साधनिक—सम्भवतः, ग्रामों का व्यवस्थापक, (१३) दूत, (१४) खोल, (१५) गमागमिक, (१६) अभित्वरमान, (१७) हस्तिअश्वगोमहिष-आजविक अध्यक्ष, (१८) नौकाध्यक्ष, (१९) बलाध्यक्ष, (२०) तटिक—नदी पार उतरने के स्थानों का अधिकारी, (२१) शौल्किक—शुल्क वसूल करने वाला अधिकारी, (२२) गौल्मिक, (२३) तदायुक्त, (२४) विनियुक्त, (२५) ज्येष्ठ कायस्थ, (२६) महामहत्तर, (२७) महत्तर, (२८) दशग्रामिक, (२९) करण—हिसाब रखने वाला।

खालिमपुर के ताम्रपत्र में जिन कर्मचारियों का नाम आया है, उनमें से सब का ठीक-ठीक अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि ये सब राजकर्मचारी थे, और जागीर के दान की सूचना के लिए ही इनका उल्लेख ताम्रपत्र में किया गया है। सेन आदि अन्य राजवंशों के उत्कीर्ण लेखों में भी इसी प्रकार से अनेक राजकर्मचारियों के नाम दिये गए हैं, जिनसे मध्ययुग के उत्तरी भारत के राजकर्मचारी तन्त्र का कुछ धुंधला-सा आभास मिल जाता है।

इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है, कि दक्षिणी भारत के समान उत्तरी भारत में भी ग्राम सभाओं की सत्ता थी, और ग्रामों की जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की व्यवस्था अपनी ग्रामसभा द्वारा किया करती थी। इसी कारण विविध राजवंशों में निरन्तर युद्ध जारी रहते हुए भी सर्वसाधारण लोगों पर उनका विशेष प्रभाव नहीं होता था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

शिल्पियों और व्यापारियों के संगठन

(१) बौद्ध युग से पूर्व का काल

भारत की प्राचीन शासन संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए शिल्पियों और व्यापारियों के संगठनों का विवेचन करना भी आवश्यक है। इसका कारण यह है, कि इन संगठनों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को राज्य द्वारा मान्य समझा जाता था, और इन्हें अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों के बारे में कानून व नियम बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने और उनका अतिक्रमण करने पर दण्ड देने के अधिकार प्राप्त थे। इन विविध प्रकार के आर्थिक संगठनों के लिए प्राचीन समय में 'समूह (Association) शब्द प्रयुक्त होता था। शिल्पियों के 'समूह' को 'श्रेणि' कहते थे, और व्यापारियों के 'समूह' को 'निगम' या 'पूग'। श्रेणियों और निगमों के अपने संगठन विद्यमान थे, जिनके मुख्यों (श्रेणि-मुख्यों और नैगमों) को राज्य या जनपद की शासन संस्थाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

उत्तर-वैदिक युग में ही विविध शिल्पों का अनुसरण करने वाले सर्वसाधारण जनता के व्यक्ति अपने संगठन बनाकर आर्थिक उत्पादन में तत्पर हो गये थे। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि शिल्पियों के लिए पूर्णतया स्वच्छन्द रूप से कार्य कर सकना सम्भव नहीं था। संगठित होकर ही वे अपने कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित कर सकते थे। समाज के संगठन का विकास प्रदर्शित करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में पहले ब्रह्म और क्षत्र के निर्माण का प्रतिपादन कर 'विशः' के सम्बन्ध में लिखा है, कि क्योंकि अकेले ब्रह्म और क्षत्र से काम चल नहीं सकता था, अतः 'विशः' की उत्पत्ति की गई। ये 'विशः' गणों में संगठित होकर ही अपने-अपने कार्य करते हैं।[1] शङ्कराचार्य ने उपनिषद् के इस वाक्य पर टीका करते हुए लिखा है कि 'कार्य के साधन और धन के उपार्जन के लिए 'विशः' को उत्पन्न किया गया। ये विशः कौन हैं ? विशः 'गणप्राय' ही हैं, क्योंकि वे संहत (समूहों में संगठित) होकर ही वित्त के उपार्जन में समर्थ होते हैं, अकेले-अकेले नहीं। इसीलिए उनमें गणों की सत्ता होती है।[2] इससे

१. 'स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत, यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते।' बृह० १।४।१२

२. 'क्षात्रसृष्टोऽपि स नैव व्यभवत्, कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवत् वित्तोपार्जयितुरभावात्। स विशमसृ-

स्पष्ट है, कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी सर्वसाधारण विशः या जनता के शिल्पियों व व्यापारियों आदि ने गणों या समूहों में संगठित होकर आर्थिक उत्पादन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

यही कारण है, कि रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में शिल्पियों की श्रेणियों व व्यापारियों के निगमों का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। जब राम वनवास समाप्त कर अयोध्या वापस आये, तो उनके स्वागत के लिए 'श्रेणि-मुख्य' भी उपस्थित हुए। इस प्रसंग में श्रेणिमुख्यों के साथ नैगमों का भी उल्लेख किया गया है, जो स्पष्ट रूप से शिल्पियों और व्यापारियों के संगठनों के सूचक हैं। शान्ति-पर्व में 'श्रेणि-मुख्यों' का इस प्रसंग में उल्लेख किया गया है, कि राजा उनमें शत्रुओं द्वारा भेदनीति का प्रयोग न करने दे।[1] अन्यत्र एक स्थान पर श्रेणिमुख्यों के अपजाप (भेदनीतिमूलक षड्यन्त्र) से अमात्यों की रक्षा करने का उपदेश दिया गया है।[2] इन निर्देशों से सूचित होता है कि महाभारत के काल में शिल्पियों के गण भली भाँति संगठित थे, और उनके 'मुख्यों' के अपजाप राजकीय कर्मचारियों को पथभ्रष्ट कर सकते थे। वन पर्व की एक कथा के अनुसार जब राजा दुर्योधन गन्धर्वों द्वारा परास्त हो गया, तो उसे अपनी राजधानी को वापस लौटने में इस कारण संकोच हुआ कि 'ब्राह्मण और श्रेणिमुख्य' मुझे क्या कहेंगे, और मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा।[3] एक अन्य स्थान पर महाभारत में 'श्रेणिबल' का उल्लेख किया गया है। राजा किन विविध प्रकार के बलों पर निर्भर रहे, और किन बलों का साहाय्य प्राप्त करे, इसका निरूपण करते हुए अटवीबल, मित्रबल, भृतबल और मौलबल के साथ-साथ श्रेणिबल का भी परिगणन किया गया है।[4] इससे यह सूचित होता है, कि शिल्पियों की श्रेणियाँ सैनिक भी रखती थीं, और उनके अनुकूल होने पर राजा उन सैनिकों की सहायता का भरोसा कर सकता था। महाभारत-युग की श्रेणियों के भी अपने पृथक् धर्म वा कानून होते थे, इसका निर्देश शान्तिपर्व में यह कह कर किया गया है कि जो व्यक्ति

जत कर्म्मसाधनवित्तोपार्जनाय। कः पुनरसौ विट्? यान्येतानि देवजातानि...गणशः गणं-गणं आख्यायन्ते कथ्यन्ते गणप्राया हि विशः। प्रायेन संहता हि वित्तोपार्जनसमर्था: नैकैकशः।'

१. 'अग्निदैर्गरदश्चैव प्रतिरूपककारकैः।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधेश्छेदनेन च॥' महा० शान्ति० ५८।५२

२. 'श्रेणि मुख्योपजापषु वल्लभानुनयेषु च।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसङ्घातयोरपि॥' महा० शान्ति० १०४।६४।

३. 'ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम्॥' महा० वन० २४८।१६।

४. तथा मित्र बलं राजन् मौलं चैव विशिष्यते।
श्रेणिबलं भृतं चैव तुल्ये एवेति मे मतिः॥ महा० आश्रमवासिक पर्व ७।८

अपनी 'श्रेणि' के धर्म का अतिक्रमण करता है, उसका कोई भी धर्म नहीं होता।[1] महाभारत के यह निर्देश इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देते, कि इस कथा के युग में शिल्पी लोग श्रेणियों में भली भाँति संगठित थे।

(२) बौद्ध युग के आर्थिक संगठन

पर शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों के निगमों के सम्बन्ध में अधिक परिचय हमें बौद्ध साहित्य द्वारा प्राप्त होता है। जातक कथाएँ इस सम्बन्ध में बहुत उपयोगी हैं। निग्रोध जातक में एक भाण्डागारिक का वर्णन है, जिसे सब 'श्रेणियों' के आदर के योग्य कहा गया है।[2] उरग जातक में एक 'श्रेणिप्रमुख' और दो राजकीय अमात्यों के झगड़ों का उल्लेख है।[3] डॉ० फिक ने बौद्ध युग के आर्थिक संगठनों पर विशद रूप से विचार करके यह प्रतिपादित किया है,[4] कि तीन कारण हैं जिनसे हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि बौद्ध काल में शिल्पी व व्यापारी संगठनों में संगठित हो चुके थे।

(१) बौद्धकाल में विविध व्यवसाय वंशक्रमानुगत हो चुके थे। पिता की मृत्यु के बाद उसका पुत्र उसी के व्यवसाय को करता था। कुमारावस्था से ही लोग अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय को सीखना प्रारम्भ कर देते थे। समय के बीतने के साथ-साथ पिता व अन्य गुरुजनों की देखरेख में वे व्यवसाय में अधिकाधिक प्रवीणता प्राप्त करते जाते थे। अपने व्यवसाय की बारीकियों से उनका अच्छा परिचय हो जाता था। इसीलिए जब पिता की मृत्यु होती थी, तो उसकी सन्तान अपने पारिवारिक व्यवसाय को भलीभाँति सम्भाल लेती थी। बौद्ध साहित्य में ऐसे निर्देशों का अभाव है, जिनसे कि यह सूचित होता हो कि किसी व्यक्ति ने अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय को छोड़कर किसी अन्य व्यवसाय को अपनाया हो। इसके विपरीत इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं है, कि लोग प्रायः अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे।

(२) बौद्ध काल में किसी व्यवसाय का अनुसरण करने वाले लोग एक निश्चित स्थान व क्षेत्र में बस कर अपने व्यवसाय का अनुसरण करने की प्रवृत्ति रखते थे। नगरों में भिन्न-भिन्न वीथियों (गलियों) में विभिन्न व्यवसायी बसे हुए रहते थे। उदाहरण के लिए हाथी दाँत का काम करने वालों की अपनी गली होती

१. 'जाति श्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते॥' महा० शान्ति० ३५।१९

२. Cowell: The Jataka Vol. IV, p. 22

३. Ibid Vol. II, p. 19

४. Fick: Social Oraganisation, translated by S. K. Maitra, chapter x.

थी, जिसे 'दन्तकारवीथि' कहते थे।[1] इसी प्रकार कुम्हारों, लुहारों आदि की भी अपनी-अपनी पृथक् वीथियाँ होती थीं। नगरों के अन्दर की वीथियों के अतिरिक्त विविध व्यवसायी नगरों से बाहर उपनगरों में भी निवास करते थे। कुलीन चित्त जातक में लिखा है, कि वाराणसी के समीप ही एक 'वड्ढकिगाम' था, जिसमें बढ़ई लोगों के ५०० कुलों का निवास था।[2] इसी प्रकार एक अन्य 'महावड्ढकिगाम' का उल्लेख है, जिसमें एक हजार वर्धकि परिवारों का निवास था।[3] वाराणसी के समीप ही एक अन्य ग्राम का वर्णन मिलता है, जिसमें केवल कुम्हारों के कुल ही निवास करते थे।[4] केवल बड़े नगरों के समीप ही नहीं, अपितु देहाती क्षेत्रों में भी ऐसे ग्राम विद्यमान थे, जिसमें किसी एक व्यवसाय का अनुसरण करने वाले लोगों का ही निवास होता था। सूचिजातक में कुम्हारों के दो ग्रामों का वर्णन है, जिनमें एक-एक हजार कुम्हार-परिवारों का निवास था।[5]

(३) शिल्पियों की श्रेणियों के मुख्यों को 'प्रमुख' या 'जेट्ठक' कहते थे। जातक-कथाओं में 'कम्मार जेट्ठक',[6] 'मालाकार जेट्ठक'[7] आदि शब्दों की सत्ता से यह बात भलीभाँति सूचित हो जाती है। जेट्ठक के अधीन संगठित श्रेणियों में अधिक-से-अधिक कितने शिल्पी सम्मिलित हो सकते थे, इस सम्बन्ध में एक निर्देश समुद्द वणिज जातक से मिलता है, जिसके अनुसार एक ग्राम में वर्धकियों के एक हजार परिवार निवास करते थे, जिनमें से पाँच-पाँच सौ परिवारों का एक-एक जेट्ठक था। इस प्रकार इस गाँव में दो वर्धकि-श्रेणियाँ थीं, जिनके दो पृथक्-पृथक् जेट्ठक थे।[8] समाज में इन जेट्ठकों की प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। राजदरबार में भी उन्हें सम्मान प्राप्त होता था। सूचिजातक में लिखा है कि एक सौ कम्मारों का जेट्ठक राजदरबार में बहुत सम्मानित था। वह बहुत समृद्ध तथा ऐश्वर्यशाली भी था।[9] अन्यत्र जातक कथा में यह लिखा है कि एक राजा ने कम्मार जेट्ठक को अपने पास बुलाया, और उसे सुवर्ण की एक सुवर्ण प्रतिमा बनाने का कार्य दिया।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर डॉ० फिक ने यह परिणाम निकाला है कि बौद्धकाल के व्यवसायी प्रायः उसी प्रकार से श्रेणियों में संगठित थे, जैसे कि

१. Cowell : The Jataka Vol. I, p. 176
२. Ibid Vol. II, p. 18
३. Ibid Vol. IV, p. 159
४. Ibid Vol. III, p. 281
५. Ibid Vol. III, p. 178
६. Ibid Vol. III, p. 281
७. *Ibid Vol. III, p. 405*
८. *Ibid Vol. IV, p. 161*
९. Ibid Vol. III, p. 178

मध्यकालीन यूरोप के व्यवसायी 'गिल्डों' (Guilds) में संगठित होते थे। इस युग में भाण्डागारिक नाम का एक राजपदाधिकारी भी होता था, जिसका कार्य इन शिल्पी व व्यावसायिक श्रेणियों के साथ सम्बन्ध रखने वाले वादों का निर्णय करना होता था।

बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर अठारह श्रेणियों का उल्लेख किया गया है,[1] जिससे प्रतीत होता है कि इस काल में मुख्यतया अठारह प्रकार के शिल्पी श्रेणियों में संगठित हो चुके थे। पर अठारह की इस संख्या में किन-किन शिल्पों व व्यवसायों का समावेश था, यह बौद्ध साहित्य से सूचित नहीं होता। पर जातक कथाओं में वर्धकि (बढ़ई), धातुकार, चर्मकार, दन्तकार, मालाकार, चित्रकार, सार्थ-वाह आदि के श्रेणियों में संगठित होने के निर्देश अवश्य प्राप्त होते हैं। बौद्ध साहित्य में उपलब्ध इन निर्देशों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि बौद्ध युग तक भारत में शिल्पियों व व्यवसायियों की श्रेणियाँ भलीभाँति संगठित हो चुकी थीं, और समाज में उनका स्थान महत्त्व का था। बौद्ध युग की श्रेणियों का अपने सदस्यों के जीवन पर कितना अधिक नियन्त्रण था, यह विनय पिटक के इस निर्देश द्वारा सूचित होता है, कि कतिपय दशाओं में श्रेणि के सदस्यों और उनकी पत्नियों के विवादों का निर्णय भी श्रेणि द्वारा किया जाता था। विनय पिटक में ही एक अन्य स्थान पर यह लिखा गया है, कि चौर-कर्म करने वाली (चोरी) स्त्री को तब तक भिक्षुणी न बनाया जा सके, जब तक कि राजा, संघ, गण, पूग या श्रेणि से इसके लिए अनुमति न ले ली जाए। ऐसी जो स्त्री किसी राजा द्वारा शासित राज्य में निवास करती थी, उसके लिये राजा से, और संघराज्य व गणराज्य के क्षेत्र में निवास करने वाली स्त्री के लिए संघशासन या गणशासन से, और पूग या श्रेणि के साथ सम्बन्ध रखने वाली ऐसी स्त्री के लिए पूग या श्रेणि से भिक्षुणी बनने के लिए अनु-मति प्राप्त करना आवश्यक था।

(३) संस्कृत साहित्य में आर्थिक संगठन

संस्कृत साहित्य के दण्डनीति विषयक ग्रन्थों, स्मृतियों व धर्मशास्त्रों के अनुशीलन से शिल्पियों व व्यापारियों के संगठनों के सम्बन्ध में और अधिक विशद रूप से परिचय प्राप्त होता है। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार कृषकों, व्यापारियों, चरवाहों, साहूकारों और शिल्पियों को यह अधिकार प्राप्त था कि वे अपने-अपने वर्गों के सम्बन्ध में नियम बना सकें। इन नियमों को राजा द्वारा स्वीकार किया जाता था, और ये नियम राजकीय न्यायालयों में मान्य समझे जाते थे। इससे यह भी प्रगट होता है कि इन व्यवसायियों व व्यापारियों के संगठन भी विद्यमान थे, जो अपने सम्बन्ध में नियमों का स्वयं निर्माण करते थे।

१. Cowell : The Jataka Vol. VI, p. 427

कौटलीय अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे कि शिल्पियों व व्यापारियों के संगठनों की सत्ता सूचित होती है। अर्थशास्त्र के 'कारुक रक्षणम्' प्रकरण में यह व्यवस्था की गई है कि तीन प्रदेष्टा या तीन अमात्य नियत किये जाएँ, जिनका कार्य आर्थिक विपत्तियों का प्रतीकार करना, शिल्पियों पर नियन्त्रण रखना, अमानत को सुरक्षित रखना और स्वयं शिल्प का संचालन करना हो। ये प्रदेष्टा या अमात्य ऐसे होने चाहिएँ, कि 'श्रेणियों' का उनके प्रति विश्वास हो। ये श्रेणियों का धन अमानत के रूप में ग्रहण करें। जब श्रेणि विपत्ति आदि कारणों से अपने धन को वापस लेना चाहें, तो उनकी अमानत उन्हें वापस लौटा दी जाए।[1] इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए जो अमात्य नियत किये जाते थे, उनके लिए यह आवश्यक था कि श्रेणियों का उनके प्रति विश्वास हो, वे स्वयं उत्तम शिल्पी हों, शिल्पियों पर नियन्त्रण रख सकने में समर्थ हों, और आर्थिक विपत्तियों के निवारण की योग्यता रखते हों। नगरों में कारु या शिल्पियों के निवास के लिए पृथक् स्थान होते थे।[2] उनकी 'श्रेणियों' के निकायों (संगठनों) के लिए भी पृथक् स्थानों की व्यवस्था की जाती थी।[3] बौद्ध साहित्य में विविध शिल्पियों की जिस ढंग की पृथक् वीथियों की सत्ता थी, उसी प्रकार की व्यवस्था कौटलीय अर्थशास्त्र द्वारा भी सूचित होती है। दुर्ग या नगर के विविध प्रदेशों में जनता के विविध वर्गों के निवास की जो व्यवस्था अर्थशास्त्र में की गई है, उनमें 'श्रेणीनिकायों' के लिए भी पृथक् स्थान रखना बड़े महत्त्व की बात है। राजकीय आमदनी के साधनों का परिगणन करते हुए 'कारुशिल्पिगण' का भी पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है,[4] जिससे सूचित होता है कि शिल्पियों के गणों या निकायों से भी मौर्ययुग में राज्य को अच्छी आमदनी होती थी।

शिल्पियों के 'श्रेणि निकायों' के समान व्यापारियों के समूहों (सार्थ-समवायों) का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है, और इन 'सार्थसमवायों' के वादों (मुकदमों) के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्थाएँ की गई हैं।[5] इन सार्थ-समवायों में सम्मिलित व्यापारियों को 'सांव्यवहारिक' कहते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार ये व्यापारी विश्वासयोग्य होते थे। यदि इन से किसी ऐसे पण्य का विनाश हो जाय, जिसमें पण्य का अपना कोई दोष हो या जिसके विनाश के सम्बन्ध में कोई अप्रत्याशित कारण हों, तो इन्हें

१. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वाऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः। अर्थ्यप्रतीकाराः कारुशासितारः सन्निक्षेप्तारः स्वचित्तकारवः श्रेणीप्रमाणाः निक्षेपं गृह्णीयुः। विपत्तौ श्रेणी निक्षेपं भजेत्। कौ० अर्थ० ४।१

२ 'ततः परं ऊर्णासूत्रवेणुचर्मवर्मशस्त्रावरण कारवः शूद्राश्च पश्चिमां दिशमधिवसेयुः।......ततः परं नगर राजदेवता लोहमणि कारवो ब्राह्मणश्चोत्तरां दिशमधिवसेयुः।' कौ० अर्थ० २।४

३. 'वास्तुच्छिद्रानुशालासेषु श्रेणिप्रवहणनिकाया आवसेयुः।' कौ० अर्थ० २।४

४. 'शुल्कं दण्डः पौतवं......कारुशिल्पिगणो।' कौ० अर्थ० २।६

५. 'अभियुक्तो न प्रत्यभियुञ्जीत अन्यत्र कलहसाहस सार्थ समवायेभ्यः।' कौ० अर्थ० ३।१

उसका हरजाना देने की आवश्यकता नहीं होती थी ।[1] अर्थशास्त्र में केवल ऐसे ही समुदायों को कायम रखने की व्यवस्था की गई है, जो कि 'सामुत्थायक' हों। सामुत्थायक का अभिप्राय यह है, कि जिनका संगठन परस्पर साथ मिलकर (सम्भूय समुत्थान करके) किया गया हो ।

कौटल्य के काल के सार्वजनिक जीवन में श्रेणियों का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण था, यह इस बात से भी सूचित होता है कि अर्थशास्त्र में इस विषय पर विचार-विमर्श किया गया है कि श्रेणी और श्रेणीमुख्य में राजा को कौन अधिक पीड़ा दे सकता है । इस सम्बन्ध में कौटल्य के पूर्ववर्ती आचार्यों का यह मत था, कि क्योंकि श्रेणी में बहुत-से सदस्य होते हैं और इस कारण वे मिलकर विद्रोह भी कर सकते हैं, पर श्रेणीमुख्य केवल कार्य में बाधा उपस्थित करके ही पीड़ा पहुँचा सकता है, अतः श्रेणी और श्रेणीमुख्य में श्रेणी का महत्त्व अधिक है । पर कौटल्य पूर्ववर्ती आचार्यों के इस विचार से सहमत नहीं थे। उनका कथन है, कि श्रेणी के सब सदस्यों के शील और व्यसन एक समान होते हैं, अतः उनके मुख्य को या उनके सदस्यों के एक भाग को गिरफ्तार करके श्रेणी को सुगमता से वश में लाया जा सकता है, पर मुख्य (श्रेणीमुख्य) श्रेणी के लिए आधारस्तम्भ के समान होता है । वह दूसरों के प्राण लेकर या उनसे धन ले कर बहुत पीड़ा पहुँचा सकता है ।[2] इस कारण उसका महत्त्व अधिक है । ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यसंस्था में एक व्यक्ति (राजा) के महत्त्व के बढ़ने के साथ-साथ कौटल्य के समय में शिल्पी-श्रेणियों में भी श्रेणीमुख्य का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, जो प्राणदण्ड व धन के जुरमाने आदि के अधिकारों का दुरुपयोग करके पीड़ा उत्पन्न कर सकता था, और जिससे राज्य के लिए एक समस्या उत्पन्न हो जाती थी । अर्थशास्त्र में श्रेणी-निकायों और सार्थ-समवायों के सम्बन्ध में जो ये कतिपय निर्देश विद्यमान हैं, उनके अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग में ये सुसंगठित संस्थाएँ थीं । इसी कारण अक्षपटलाध्यक्ष का एक यह भी कार्य था, कि वह विविध प्रकार के 'संघातों' के धर्म, चरित्र और व्यवहार को भी अपने पास 'निबन्ध-पुस्तकस्थ' (रजिस्टर्ड) करे,[3] ताकि वादों का निर्णय करते हुए उन का उपयोग किया जा सके ।

मनुस्मृति में भी श्रेणियों और 'श्रेणिधर्मों' का उल्लेख है, और यह व्यवस्था की गई है कि राजा अपने धर्म (कानून) का प्रतिपादन करते हुए जाति जानपद धर्मों

---

१. 'साम्व्यवहारिकेषु वा प्रात्ययिकेष्वराजवाच्येषु भ्रेषोपनिपाताभ्यां नष्टं विनष्टं वा मूल्यमपि न दद्युः ।' कौ० अर्थ० ३।१२

२. कौ० अर्थ० २।१

३. 'श्रेणीमुख्ययोः श्रेणी बाहुल्यादनवग्रहास्तेयसाहसाभ्यां पीडयति; मुख्य कार्यावग्रहविघाताभ्याम् इत्याचार्याः । नेति कौटल्यः—सुव्यावर्त्या श्रेणी समानशील व्यसनत्वात् । श्रेणीमुख्यैकदेशोपग्रहेण वा । स्तम्भयुक्तो मुख्यः परप्राणद्रव्योपघाताभ्यां पीडयति ।' कौ० अर्थ० ८।४

और श्रेणीधर्मों की समीक्षा करे, और उन्हें दृष्टि में रखकर ही अपने कानूनों का निर्माण करे।[१] मनु ने इस प्रसंग में यह भी लिखा है, कि ग्राम और देश के संघों के साथ कोई संविदा (समय या इकरार) करके यदि कोई मनुष्य लोभ के वश होकर उसका अतिक्रमण करे या उससे इन्कार कर दे, तो उसे राष्ट्र से निकाल दिया जाए।[२] अगले श्लोक में मनु ने यह व्यवस्था की है कि संविदा को न मानने वाले ऐसे व्यक्ति को जेल में डाल दिया जाए, और उस पर जुरमाना किया जाए।[३] यह सर्वथा स्पष्ट है कि मनु ने इन श्लोकों द्वारा संविदा का अतिक्रमण करने वाले व्यक्तियों के लिये देश-निकाला, जुरमाना और जेल तीन प्रकार के दण्डों का विधान किया है। मनुस्मृति के इन श्लोकों की टीका में टीकाकार मेधातिथि और कुल्लूकभट्ट ने देश-संघों में श्रेणिसंघों को भी अन्तर्गत किया है, जिससे सूचित होता है कि केवल ग्राम और देशसंघों के साथ की गई संविदाओं के अतिक्रमण करने पर ही ये दण्ड नहीं दिये जाएँगे, अपितु श्रेणिसंघों के साथ की गई संविदाओं को तोड़ने पर भी इन दण्डों की व्यवस्था है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में स्पष्ट रूप से यह विधान है, कि यदि कोई व्यक्ति श्रेणी या किसी अन्य समुदाय की सम्पत्ति की चोरी करे, या उनके साथ की गई संविदा को स्वीकार न करे, तो उसे देश से बहिष्कृत कर दिया जाए, और उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली जाए।[४] विष्णुस्मृति के अनुसार भी गण के द्रव्य का अपहरण करने वाले व्यक्ति को बहिष्कृत कर देना चाहिए।[५] यहाँ गण में सब प्रकार के समूहों को अन्तर्गत किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इन समूहों के लिये गण शब्द का ही उपयोग किया गया है। पर साथ ही वहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि यहाँ गण का अभिप्राय श्रेणि, नैगम, पाषण्ड (धार्मिक समूह) आदि सब प्रकार के गणों से है। इस प्रकरण में याज्ञवल्क्य स्मृति के निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—'समय (संविदा या इकरार) द्वारा जो कानून या नियम बनाये गये हों, यदि राजा के अपने कानूनों से उनका विरोध न हो, तो राजकृत कानूनों के समान ही उनकी भी संरक्षा करनी चाहिये। जो कोई व्यक्ति गण के द्रव्य का अपहरण करे या गण की संविदा का उल्लंघन करे, उसका सर्वस्व छीनकर उसे राष्ट्र से निकाल दिया जाए। 'समूह' के हित को दृष्टि में रखते हुए सबको उन (समूह) के वचन (निर्णय या निश्चय) का पालन करना चाहिये। जो ऐसा न करे, या जो इसके विपरीत करे, उस पर जुरमाना

१. 'जाति जानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ मनु० ८।४१

२. 'यो ग्रामदेश संघानां कृत्वा सत्येन संविदाम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥' मनु० ८।२२०

३. 'निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।' मनु० ८।२२१

४. याज्ञवल्क्यस्मृति, २।१८७

५. 'गणद्रव्यापहर्ता विवास्यः ।' विष्णु० ५।१६८

किया जाना चाहिए। जो लोग समूह के कार्य से अपने पास आयें, जब उनका कार्य हो जाए, तो राजा को चाहिये कि दान और मान द्वारा उनका सत्कार करके उन्हें विदा दे। समूह के कार्य पर भेजे गये व्यक्तियों को जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे वे समूह को ही अर्पित कर दें। जो स्वयं इस धन को अर्पण न करे, उस पर ग्यारह गुणा दण्ड लगाया जाए। इन समूहों के कार्यचिन्तक ऐसे व्यक्ति होने चाहियें, जो कि धर्म के ज्ञाता, शुचि (शुद्ध) आचरण वाले और लोभ से विरहित हों। समूह का हित चाहने वालों को चाहिये कि उनके वचन को क्रियान्वित करें। यह विधि श्रेणि, निगम व पाषण्ड—सब प्रकार के गणों (समूहों) के लिये है। राजा इनके भेद (रहस्य या गुप्त बात) की रक्षा करे, और इनमें जो वृत्ति पहले से चली आ रही हो, उसका पालन कराये।'[1] याज्ञवल्क्य स्मृति के ये श्लोक बड़े महत्त्व के हैं। इनसे श्रेणि, निगम और पाषण्ड—तीनों प्रकार के समूहों के सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। इन समूहों के पदाधिकारी 'कार्यचिन्तक' कहाते थे। इस पद पर ऐसे व्यक्तियों को ही नियत किया जाता था, जो कि धर्म के ज्ञाता, शुचि और लोभ से विरहित हों। वे जो कोई भी आदेश दें, समूह के हित के लिये उसका पालन करना समूह के सब सदस्यों के लिये आवश्यक था। परस्पर मिलकर या संविदा करके ये समूह जो नियम या कानून बनाते थे, उनको 'समय' कहा जाता था। यदि इन कानूनों का राजकीय कानूनों से विरोध न हो, तो इन्हें भी नियमित रूप से कानून माना जाता था, और राजा का कर्तव्य था कि इनका पालन कराये, और इनका अतिक्रमण करने वालों को देशनिकाले या जुरमाने आदि का दण्ड दे। 'समूह' के कार्य पर कार्यचिन्तक या अन्य व्यक्ति समय-समय पर राजा से मिलते भी रहते थे। राजा दान और मान द्वारा उनका सत्कार करता था। स्पष्ट है, कि प्राचीन युग के सार्वजनिक जीवन में इनकी स्थिति अच्छी सम्मानास्पद थी। समूह के कार्य पर नियुक्त व्यक्ति को जो कुछ धन भेंट आदि में प्राप्त होता था, उसे वह समूह को ही दे देता था। न देने पर उसे जुरमाने के रूप में कठोर दण्ड दिया जाता था।

श्रेणि, निगम, पाषण्ड आदि समूहों में कार्यचिन्तकों की स्थिति बहुत महत्त्व की थी। इनको नियुक्त करते हुए इनके गुण-दोषों पर बहुत ध्यान दिया जाता था।

---

१. 'निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्। सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः॥
गणद्रव्यं हरेद् यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः। सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥
कर्तव्यं वचनं सर्वैः समूह हितवादिनाम्। यस्तत्र विपरीतः स्यात् स दाप्यः प्रथमं दमम्॥
समूह कार्ये आयातान् कृतकार्यान् विसर्जयेत्। स दानमान सत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः॥
समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत्। एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत् स्वयम्॥
धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः। कर्तव्यं वचनं तेषां समूह हितवादिनाम्॥
श्रेणि-नैगम-पाषण्डि गणानामप्ययं विधिः। भेदञ्चैषां नृपो रक्षेत् पूर्ववृत्तिं च पालयेत्॥'
याज्ञवल्क्य २।१८६-१९२

इसीलिये बृहस्पतिस्मृति में लिखा है कि सत्यसन्ध, वेदों के ज्ञाता, धर्मज्ञ, कुलीन, आत्म-संयमी और सब प्रकार के व्यवहार में कुशल व्यक्तियों को ही कार्यचिन्तक नियत करना चाहिये।[1] जो व्यक्ति व्यसनी, लोभी, अतिवृद्ध या बाल हों, उन्हें इन पदों पर नियुक्त नहीं करना चाहिये।[2] समूह के सम्बन्ध में इन कार्यचिन्तकों के अधिकार बहुत महत्त्व के थे। वे दूसरों के प्रति निग्रह और अनुग्रह कर सकते थे। स्वधर्म का पालन करते हुए वे जो कुछ भी करें, राजा को उसे स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि ये कार्य उन्हीं के सुपुर्द किये होते हैं।[3] पर यदि कार्यचिन्तक लोभ, द्वेष या घृणा के वशीभूत होकर किसी को दण्ड दें या किसी अन्य प्रकार से क्षति पहुँचाएँ, तो राजा का कर्तव्य है कि ऐसा करने से उन्हें रोके, और यदि वे बार-बार ऐसा अनुचित कार्य करें, तो उन्हें दण्ड दे।[4] इससे स्पष्ट है कि राजा को श्रेणि, निगम आदि समूहों (गणों) के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि समूहों को आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी, पर वे राजा के शासन में रहते हुए ही अपने कार्यों का सम्पादन किया करते थे। इसीलिये नारद स्मृति में यह व्यवस्था की गई है कि समूह यदि कोई ऐसे कार्य करे, जो राजा के प्रतिकूल हों, या प्रकृति (जनता) को अभिमत न हों, या अर्थ (समृद्धि) के विघातक हों, तो राजा उन्हें ऐसे कार्यों को करने से रोक दे। यदि कोई समूह परस्पर मिलकर संघात (गुट) बनाने लगें, बिना कारण शस्त्र धारण करने लगें, और एक-दूसरे को क्षति पहुँचाने को तत्पर हों, तो राजा उनके ऐसे कार्यों को कदापि सहन न करे।[5] नारद स्मृति के इन श्लोकों पर टीकाकार ने लिखा है, कि पाषण्ड आदि गणों द्वारा जो कुछ भी किया जाए, यदि यह समझा जाए कि राजा ने अवश्य ही उसे स्वीकार करना है और उनके निर्णयों को न मानने वालों को दण्ड देना है, तो क्या ये गण परस्पर मिलकर यह भी तय कर सकते हैं कि हम प्रजा को कर देने से रोकेंगे, हम सदा नंगे होकर रहेंगे, जुआ खेला करेंगे, वेश्यागमन किया करेंगे और राजपथ पर वेग के साथ दौड़ा करेंगे? नहीं, राजा को उनके ऐसे निर्णयों की रक्षा नहीं करनी है।[6]

१. बृहस्पति स्मृति १७।६

२. 'विद्वेषिणो व्यसनिनः शालीनालसभीरवः।
लुब्धातिवृद्धबालाश्च न कार्याः कार्यचिन्तकाः।' बृहस्पति १७।८

३. 'तैः कृतं यत्स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम्।
तद्राज्ञानुमन्तव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः॥' बृहस्पति १७।१८

४. बृहस्पति १७।१६

५. 'प्रतिकूलं च यद्राज्ञः प्रकृत्यवमतञ्च यत्।
बाधकञ्च यदर्थानां तत्तेभ्यो विनिवर्तयेत्॥
मिथः संघातकरणं अहेतौ शस्त्रधारणम्।
परस्परोपघातञ्च तेषां राजा न मर्षयेत्॥' नारद स्मृति

६. 'अत्रेदं निर्वाच्यम्। पाषण्डादिभिर्या या संवित् मिलित्वा कृता सा सा एव चेत् रक्षणीया तद्व्यतिक्रमे तु ते राज्ञा दण्ड्यास्तदा वयं सर्वे राज्ञे प्रजानां करदानं वारयाम इति अस्माभिः सर्वदा नग्नैर्भाव्यम् इति

निःसन्देह, राजा का यह अधिकार स्वीकार किया जाता था, कि वह श्रेणि आदि समूहों पर नियन्त्रण रख सके। पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि उन्हें अपने कार्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। राजा उस दशा में भी समूहों के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता था, जब कि समूहों के अपने मुख्यों के साथ विसम्वाद (मतभेद के कारण उत्पन्न विवाद) हों। इस दशा में उन्हें अपने धर्म में स्थापित करना राजा का ही कार्य था।[1]

समूहों (गणों) के कार्यचिन्तकों व मुख्यों को दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को ही नहीं था। राजा तो विशेष दशाओं में ही समूहों के मामलों में हस्तक्षेप करता था। सामान्य दशा में यह सिद्धान्त माम्य था, कि मुख्य को दण्ड देने का अधिकार समूह को ही प्राप्त है।[2] कात्यायन के शब्दों में जो मुख्य या कार्यचिन्तक गण की सम्पत्ति का विनाश करने वाले, उसमें फूट डालने वाले या उसके प्रति कोई 'साहसिक' (Criminal) आचरण करने वाले हों, उनका गण ही उच्छेद कर दे और ऐसा करके उसकी सूचना राजा के पास भेज दे।[3] श्रेणी, निगम आदि समूहों के मुख्य कभी-कभी अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर समूह को ही पीड़ित करना प्रारम्भ कर देते थे, यह कौटलीय अर्थशास्त्र के उस सन्दर्भ से भी सूचित होता है, जिसमें कि श्रेणी और श्रेणी-मुख्य में कौन अधिक महत्त्व का है, इस प्रश्न पर विचार किया गया है।[4]

यद्यपि श्रेणी, निगम आदि समूहों में मुख्यों व कार्यचिन्तकों की शक्ति बहुत अधिक थी, पर सम्पूर्ण समूह की एक सभा भी होती थी, जो कि समूह के संगठन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। इस सभा को 'समुदाय' कहते थे।[5] नारद स्मृति में इस सभा की कार्यविधि आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। वीरमित्रोदय से सूचित होता है, कि इस सभा की बैठक की सूचना ढोल आदि बजाकर दी जाती थी, और सभा में स्वतन्त्रतापूर्वक भाषण दिये जाते थे। विवादरत्नाकर में कात्यायन का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जो इस सम्बन्ध में महत्त्व का है। 'जो कोई युक्तियुक्त बात के विरोध में कहे, या वक्ता को भाषण करने का अवसर न दे, या जो अयुक्त

द्यूतं चरिष्याम इति वेश्यां रमयिष्याम इति राजपथे सवेगं धावाम इति······अपि अवश्यं रक्ष्यन्तामिति तन्निरासाय वचनमिदम्।'

१. 'मुख्यैः सह समूहानां विसम्वादो यदा भवेत्।
तदा विचारयेत् राजा स्वधर्मे स्थापयेच्च तान्॥' बृहस्पति स्मृति

२. 'मुख्यदण्डने समूहस्यैवाधिकारः।'

३. 'साहसी भेदकारी च गणद्रव्यविनाशकः।
उच्छेद्यः सर्वं एवैते विख्याप्यैव नृपे भृगुः॥'

४. कौ० अर्थ० ८।४

५. वीरमित्रोदय, पृ० ४३२

भाषण करे, उसे पूर्व साहस दण्ड दिया जाए।[1] यह श्लोक अपने-आप में बहुत स्पष्ट है।

इन समूहों के कार्यों के सम्बन्ध में कतिपय अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं। बृहस्पति स्मृति के अनुसार समूह या गण के सदस्य या कार्यचिन्तक गण के लिये जो कुछ भी प्राप्त करें, जो भी ऋण लें या राजा के प्रसाद से जो कुछ प्राप्त करें, वह उनका अपना नहीं होता, अपितु सारे गण का समान रूप से होता है।[2] वीरमित्रोदय के अनुसार गण के प्रयोजन से लिये हुए धन को यदि कोई व्यक्ति स्वयं खर्च कर ले या अपने लिये प्रयुक्त कर ले, तो उस धन को गण को प्रदान करने की उत्तरदायिता उसी व्यक्ति पर होगी।[3] इन गणों में नये सदस्यों को स्वीकार करना गण के 'समुदाय' की सम्मति पर ही निर्भर करता था, पर पहले से विद्यमान कोई सदस्य स्वयं अपनी इच्छा से गण से पृथक् हो सकता था।[4] श्रेणी, निगम आदि समूह अनेक प्रकार के सार्वजनिक हित के कार्य भी सम्पादित किया करते थे। सभाभवन का निर्माण, प्रपा (प्याऊ), देव मन्दिर, तालाब, पार्क आदि का निर्माण व मुरम्मत, अनाथ, दरिद्र आदि की सहायता, यज्ञों का अनुष्ठान आदि सार्वजनिक हित-कल्याण के कार्य भी उन द्वारा किए जाते थे।[5] इन सब कार्यों को भी पत्र पर लिखा जाता था, और इन्हें भी संविदा (समय) का अंग समझा जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि शिल्पियों के 'समूह' (जिन्हें श्रेणी कहते थे) प्राचीन भारत में ऐसे महत्त्वपूर्ण संगठन थे, जो अपना आन्तरिक शासन स्वयं चलाते थे, और आपस में मिलकर संविदा (समय) द्वारा अपने कानूनों का स्वयं निर्माण करते थे। इन कानूनों को प्रयुक्त करने के लिए वे न्यायालय का भी कार्य करते थे। यदि ये कानून देश के धर्म (कानून) के विरुद्ध न हों तो ये राजकीय न्यायालयों में भी मान्य होते थे और राजा भी इन्हें प्रयुक्त करता था। ये सार्वजनिक हित के अनेकविध कार्यों को भी सम्पन्न करते थे। इन समूहों का संगठन भी लोकतन्त्र आधार पर होता था, समूह के सब सदस्य मिलकर ही अपने 'सामयिक

१. 'युक्तियुक्तं च यो हन्यात् वक्तुर्योनावकाशदः।
अयुक्तं चैव यो ब्रूयात् प्राप्नुयात् पूर्वसाहसम्॥'
२. 'यत्तैः प्राप्तं रक्षितं वा गणार्थं वा ऋणं कृतम्।
राजाप्रासादलब्धं च सर्वेषामेव तत्समम्॥'
३. 'गणमुद्दिश्य यत् किञ्चित् कृत्वर्णं भक्षितं भवेत।
आत्मार्थं विनियुक्तं वा देयं तैरेव तद्भवेत्॥'
४. वीरमित्रोदय, पृ० ४३२
५. 'सभा प्रपादेव गृह तडागाराम संस्कृतिः।
तथानाथ दरिद्राणां संस्कारो यजनक्रिया॥
कुलायनं निरोधश्च कार्यमस्माभिर्देशतः।
यत्रैतल्लिखितं सम्यक् (पत्रे) धर्म्या सा समयक्रिया॥"

(संविदा पर आश्रित) कानूनों का निर्धारण करते थे और अपने 'मुख्यों' पर नियन्त्रण रखते थे।

(४) व्यापारियों के संगठन

शिल्पियों की श्रेणियों के समान व्यापारियों के संगठनों के सम्बन्ध में भी बहुत-से निर्देश प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। चुल्लक सेट्ठी जातक की कथा के अनुसार एक युवक व्यापारी ने एक जहाज के सारे माल को क्रय कर लिया। कुछ समय बाद वाराणसी के १०० व्यापारी आये, और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जहाज के सब माल का सौदा पहले ही हो चुका है, तो उनमें से प्रत्येक ने एक-एक हजार कार्षापण देकर जहाज के माल में अपना हिस्सा कर लिया। बाद में उन्होंने एक-एक हजार कार्षापण और देकर सारे माल को उस व्यापारी से ले लिया।[१] ये १०० व्यापारी सम्मिलित व संगठित रूपसे व्यापारके लिए आये थे, और मुनाफे में इनका एक समान अंश था। कूट वणिज जातक के अनुसार दो व्यापारियों ने साझेदारी में कारोबार शुरू किया, और ५०० गाड़ियों पर माल लादकर वे वाराणसी से व्यापार के लिए अन्य स्थानों पर गए।[२] महावणिज जातक में ऐसे व्यापारियों की कथा लिखी गई है, जो परस्पर मिलकर व्यापार के लिए दूर-दूर तक जाया करते थे।[३] बावेरू जातक के अनुसार अनेक व्यापारी संयुक्त होकर समुद्र पार बावेरू (बेबिलोन) जाते थे, और वहाँ भारत के पक्षी आदि बेचकर धन कमाते थे।[४] जातक ग्रन्थों की इन कथाओं से केवल यह निर्देश मिलता है, कि प्राचीन भारत के व्यापारियों में भी परस्पर मिलकर व सम्मिलित रूप से व्यापार करने की प्रथा थी। पर इनके संगठनों का स्वरूप क्या था, इसका परिचय हमें प्राचीन काल के अन्य साहित्य में मिलता है।

कौटलीय अर्थशास्त्र में व्यापारियों के संगठनों के सम्बन्ध में जो निर्देश मिलते हैं, उनका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। संगठित व्यापारियों को वहाँ 'संव्यवहारिक' कहा गया है। नारद स्मृति में व्यापारियों के संगठित होकर कार्य करने को 'सम्भूय समुत्थान' शब्द से सूचित किया गया है, और उसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है—'वणिक् प्रभृति जहाँ संगठित होकर कार्य करते हैं, उसे 'सम्भूय समुत्थान' कहते हैं। मुनाफे को सम्मुख रखकर जब सम्मिलित रूप से काम किया जाए तो, उसका आधार अपनी तरफ से लगाया हुआ धन (प्रक्षेप) होता है। इसी हिस्से के आधार पर प्रत्येक हिस्सेदार को मुनाफे का अंश दिया जाना चाहिए। क्षय, व्यय और वृद्धि—तीनों का अंश प्रत्येक हिस्सेदार पर उसके हिस्से के अनुसार पड़ना

१. Cowell : The Jataka vol. I, p. 114
२. Ibid vol. I, p. 404
३. Ibid vol. IV, p. 350
४. Ibid vol. III, p. 126

चाहिए ।[1] यहाँ नारद ने उस ढंग के संगठनों का निर्देश किया है, जिन्हें वर्तमान समय में जायन्ट स्टाक कम्पनी कहते हैं । इन संगठनों में सब हिस्सेदारों को उन द्वारा लगाई गई पूँजी के अनुसार ही क्षय, व्यय और वृद्धि का अंश प्राप्त होता था । किस हिस्सेदार का कितना कर्तृत्व है, कौन अधिक चतुर या कार्यकुशल है, इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था । इसीलिए नारद स्मृति में यह भी कहा गया है कि चतुर व कुशल व्यक्तियों को मूर्ख व आलसी मनुष्यों के साथ मिलकर व्यापार नहीं करना चाहिए । केवल ऐसे व्यापारियों के साथ मिलकर कार्य करना उचित है, जो कुलीन, क्रियाशील, मुद्राओं की पहचान रखने वाले, आय और व्यय में दक्ष, साहसी व धार्मिक हों । सम्भूय समुत्थान में पूँजी का अधिक महत्व था, कार्यकुशलता नहीं । इसीलिए कूट वणिज जातक की कथा में जिन दो व्यापारियों के परस्पर मिलकर व्यापार करने का उल्लेख है, उनमें से एक को बुद्धिमान् व दूसरे को 'अतिबुद्धिमान्' बताया गया है । जब मुनाफे को बाँटने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो अति-बुद्धिमान् साझेदार ने मुनाफे का अधिक अंश प्राप्त करने का दावा किया, क्योंकि उसकी कार्य-कुशलता व बुद्धिमत्ता भी मुनाफे में एक हेतु थी । पर जब उनमें विवाद बहुत बढ़ गया, तो अन्य व्यापारियों ने यही फैसला किया, कि दोनों को मुनाफे का समान अंश ही प्राप्त होना चाहिए ।

जायन्ट स्टाक कम्पनी के ढंग से संगठित होकर व्यापारी लोग अपने जो समूह बनाते थे, उनकी संज्ञा 'सम्भूय समुत्थान' थी, पर शिल्पियों की श्रेणियों के समान भी व्यापारियों के समूह विद्यमान थे, जिन्हें 'निगम' कहा जाता था । मित्र मिश्र ने वीरमित्रोदय में नैगम के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'पौर वणिकों को नैगम कहते हैं ।'[2] प्रश्न-व्याकरण-सूत्र-व्याख्यान से जो उद्धरण शामशास्त्री ने कौटलीय अर्थशास्त्र के ४६वें पृष्ठ पर दिया है, उसमें भी निगम वणिकों के निवासस्थान को नगर प्रतिपादित किया गया है ।[3] याज्ञवल्क्य स्मृति में नैगम का उल्लेख श्रेणी और पाषण्ड (धार्मिक साम्प्रदाय के संगठन) के साथ किया गया है, और उन सब की एक ही विधि है, यह कहा है ।[4] निगम में संगठित वणिकों को ही नैगम' कहा जाता था । जिस प्रकार शिल्पी लोग श्रेणी में संगठित होकर अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर कानून बनाते थे, और शिल्प को नियन्त्रित करते थे, उसी प्रकार निगम

---

१. 'वणिक् प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते ।
तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहार पदं स्मृतम् ।
फलहेतो रुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम् ।।
आधारभूतः प्रक्षेपस्तेनोत्तिष्ठेयुरंशतः ।।
समोऽतिरिक्तो हीनो वा तत्रांशो यस्य यादृशः ।
क्षयव्यौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथा विधाः ।'

२. 'नैगमाः पौरवणिजाः ।' वीरमित्रोदय पृ० १२०

३. 'नगराणि करवर्जितानि निगमवणिजां स्थानानि ।'

४. 'श्रेणि नैगम पाषण्ड गणानामप्ययं विधिः ।'

में संगठित व्यापारी अपने व्यापार के सम्बन्ध में व्यवस्था करते थे। क्योंकि पुरों में प्रधानतया व्यापारियों का ही निवास होता था, और वहाँ वे प्रधान स्थान रखते थे, अतः स्वाभाविक रूप से पौर संस्था का विकास निगम को आधार बनाकर ही हुआ, और इसीलिए कहीं-कहीं प्राचीन साहित्य में पौर और नैगम को पर्यायवाची रूप में भी प्रयुक्त किया गया है।[१] निगम के प्रधान व मुख्य की संज्ञा 'श्रेष्ठी' थी। चुल्लवग्ग में अनाथपिण्डक को राजगह सेट्ठी (राजगृह श्रेष्ठी) की बहन का पति कहा गया है।[२] यहाँ स्पष्ट रूप से अनाथपिण्डक का स्याल राजगृह के निगम का श्रेष्ठी था, यही सूचित होता है। महावग्ग[३] में राजगृह के श्रेष्ठी के बीमार पड़ने पर जब कतिपय व्यापारियों ने यह विचार किया कि उसके इलाज के लिए राजा बिम्बिसार के राजवैद्य की सहायता ली जाय, तो उन्होंने राजा से कहा—'इस श्रेष्ठी ने देव (राजा) के प्रति और निगम के प्रति बहुत उपकार किया है।[४] निःसन्देह, राजगृह श्रेष्ठी ने निगम का यह उपकार उसके 'मुख्य' की स्थिति में ही किया था।

(५) आर्थिक संगठनों का पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री द्वारा परिचय

शिल्पियों और व्यापारियों के समूहों (श्रेणी और निगम) की सत्ता की सूचना अनेक शिलालेखों द्वारा भी मिलती है। इस सम्बन्ध में शक क्षत्रप नहपान के जामाता उषावदात के लेख विशेष महत्त्व के हैं। ये लेख नासिक के गुहामन्दिरों में उत्कीर्ण हैं। एक लेख इस प्रकार है—'सिद्धि, बयालीसवें वर्ष में वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीना के पुत्र उषावदात ने यह गुहामन्दिर चातुर्दिश संघ के अर्पण किया; और उसने अक्षयनीवी तीन हजार पण चातुर्दिश संघ को दिये, जो इस गुहा में निवास करने वालों का कपड़े के खर्च और विशेष महीनों में मासिक वृत्ति के लिए होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन की श्रेणियों के पास जमा किये गये। कोलिकों के निकाय में दो हजार एक फीसदी सूद पर, दूसरे कोलिक निकाय के पास एक हजार पौन फीसदी सूद पर। और ये कार्षापण लौटाये नहीं जायेंगे, केवल उन पर सूद लिया जायगा। इनमें से जो एक फीसदी सूद पर दो हजार कार्षापण रखाये गए हैं, उन से गुहामन्दिर में रहने वाले बीस भिक्खुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जाएँगे। और जो पौन फीसदी सूद पर एक हजार कार्षापण हैं, उनसे कुशन मूल्य का खर्च चलेगा। कापुर प्रदेश में गाँव चिखलभद्र को नारियल के ८००० पौद भी दिये गये। यह सब निगमसभा में सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने का दफ्तर) में चरित्र के

---

१. 'सब्बे नेगम जानपदे।' Jataka vol. 1, p.149
'नेगमा च एव जानपदा च ते भवं राजा आमन्तयत्तम्।' दीघनिकाय para 12

२. चुल्लवग्ग ६।४।१

३. महावग्ग ७-१-१६

४. 'बहूपकारो देवस्स चेव नेगमस्स च।'

अनुसार लेखबद्ध किया गया।[1] इस लेख से स्पष्ट है कि कोलिक (जुलाहे) आदि शिल्पियों के संगठन शक-सातवाहन युग में भी श्रेणियों के रूप में विद्यमान थे। ये श्रेणियाँ दूसरों के रुपये को धरोहर के रूप में भी रखती थीं, और उन पर सूद भी देती थीं। ये श्रेणियाँ बैंक का काम भी करती थीं, और इन को इतना टिकाऊ व चिरस्थायी माना जाता था कि स्वयं राजा या राजपुरुष भी उनके पास अक्षयनीवी (न लौटाया जाने वाला) धन रखा करते थे। धन को जमा करने की बात को निगम-सभा के सम्मुख भी सुनाया जाता था। यहाँ सम्भवतः निगमसभा नगर की ऐसी सभा को सूचित करती है, जिसमें व्यापारियों का प्राधान्य था।

नासिक के ही एक अन्य गुहालेख में राजा ईश्वरसेन (तीसरी सदी ई० प०) द्वारा कुलरिकों (सम्भवतः, कुम्हारों) की श्रेणी के पास एक हजार कार्षापण, औद-यन्त्रिक (पनचक्कियाँ चलाने वाले) श्रेणी के पास दो हजार कार्षापण और तिल-पिषकों (तेलियों) की श्रेणी के पास पाँच सौ कार्षापण अक्षयनीवी के रूप में जमा कराये जाने का उल्लेख है।[2] इस अक्षयनीवी का प्रयोजन यह था, कि इस धन के सूद से त्रिरश्मि विहार में निवास करने वाले भिक्खुओं की औषधि का खर्च चले।

जुन्नर के एक लेख में उवसक (उपासक) शक आडथुम द्वारा दो भूमिक्षेत्र (निवतन या निवर्तन) कोणाचिक श्रेणी को इस प्रयोजन से दिये जाने का उल्लेख है, कि उनकी आमदनी से करञ्ज और बड़ के वृक्ष लगवाये जायँ।[3]

ये लेख सर्वथा स्पष्ट हैं, और इनसे शिल्पियों की श्रेणियों के महत्त्व व कार्यों का परिचय मिलता है। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के एक लेख में तेलियों की श्रेणी (इन्द्रपुर निवासिनी तैलिक श्रेणी) का उल्लेख है, जिसके पास कुछ धन इस प्रयोजन से रखा गया था, कि उसके सूद से सूर्य मन्दिर के दीपक का खर्च चलता रहे। इस श्रेणी का मुख्य जीवन्त नाम का व्यक्ति था। इस लेख में यह भी लिखा गया है, कि चाहे यह श्रेणी इन्द्रपुर को छोड़कर कहीं अन्यत्र भी जा बसे, तो भी यह धन इसी के पास जमा रहेगा। कुमारगुप्त प्रथम के समय के एक लेख में पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणी का उल्लेख है, जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर में बस गई थी। यह लेख मन्दसौर शिलालेख के नाम से प्रसिद्ध है। लाट देश से आकर दशपुर में बस जाने पर इस श्रेणी के अनेक सदस्यों ने अपने वंशक्रमानुगत शिल्प का परित्याग कर ज्योतिष, धनुर्विद्या आदि अन्य विद्याएँ सीखीं, और उनमें से कुछ संन्यास लेकर धार्मिक जीवन भी बिताने लगे। पर श्रेणी के बहुसंख्यक सदस्यों ने अपने पुराने शिल्प को जारी रखा। जिन्होंने अपने वंशक्रमानुगत शिल्प को छोड़कर अन्य कार्य अपना लिये

१. Epigraphica Indica VIII, p. 82
२. Ibid VIII, p. 88
३. 'कोणाचिके सेणिय उवसको आडुथुम सको वडालिका[illegible]...'

थे, वे भी श्रेणी के सदस्य बने रहे। पटकारों की यह श्रेणी बहुत सम्पन्न व समृद्ध थी। इसने दशपुर में एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था (४३७ ई०), और उसी के लिए इस शिलालेख को उत्कीर्ण कराया गया था। कुछ साल बाद (४७३ ई०) श्रेणी की ओर से इसकी मुरम्मत भी कराई गयी थी। मृत्तिकार (कुम्हार), शिल्पकार, वणिक् आदि की श्रेणियों का उल्लेख भी गुप्त युग के अनेक शिलालेखों व ताम्र-पत्रों में मिलता है।

वैशाली नगरी के ध्वसांवशेषों में २७४ मिट्टी की मुहरें मिली हैं, जो लेखों या पत्रों को मुद्रित करने के काम में आती थीं। ये मुहरें 'श्रेणी सार्थवाह कुलिक निगम' की हैं। यह वैशाली के श्रेष्ठियों, सार्थवाहों और शिल्पियों का सम्मिलित निगम था। इसका कार्य भारत के बहुत-से नगरों में फैला हुआ था। जो पत्र इस निगम के पास आते थे, उन्हें बन्द करके ऊपर से ये मुहरें लगाई जाती थीं, ताकि पत्र सुरक्षित रहें। अन्य नगरों में विद्यमान इस वैभवशाली निगम की शाखाओं के पास भी इन मुहरों के सांचे थे, जिन्हें वे वैशाली के प्रधान निगम को पत्र भेजते हुए मुद्रित करने के काम में लाते थे। निगम की अपनी मुहर के अतिरिक्त इन पत्रों पर एक और मुहर भी लगाई जाती थी, जो सम्भवत: विविध नगरों में विद्यमान निगम-शाखाओं के अध्यक्षों की निजी मुहरें होती थीं। वैशाली में प्राप्त 'श्रेष्ठी-सार्थवाहकुलिक-निगम' की २७४ मुहरों में से ७५ के साथ ईशानदास की, ३८ के साथ मातृदास की और ३७ के साथ गोमिस्वामी की मुहरें हैं। सम्भवत:, ये व्यक्ति पाटलिपुत्र, कौशाम्बी आदि समृद्ध नगरों में विद्यमान निगम-शाखाओं के अध्यक्ष थे, और उन्हें वैशाली के प्रधान निगम के पास पत्र भेजने की बहुधा आवश्यकता रहती थी। इनके अतिरिक्त घोष, हरिगुप्त, भवसेन आदि की भी पांच-पांच व छः-छः मुहरें निगम की मुहरों के साथ में मुद्रित हैं। ये व्यक्ति अन्य निगम-शाखाओं के अध्यक्ष थे। कुछ पत्रों पर निगम की मुहर के साथ 'जयत्यनन्तो भगवान्', 'जिन भगवता', 'नमः पशुपतये' सदृश मुहरें भी मुद्रित हैं। सम्भवत:, ये मुहरें उन पत्रों पर लगाई गयी थीं, जो किसी मन्दिर व धर्मस्थान से वैशाली के श्रेष्ठि-सार्थवाहकुलिक-निगम को भेजे गये थे। इन वैभवपूर्ण निगमों के पास धर्ममन्दिरों का धन अक्षयनीवी के रूप में जमा रहता था, और इसीलिए उन्हें इनके साथ पत्र-व्यवहार की आवश्यकता रहती थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत के सार्वजनिक जीवन में इन श्रेणियों और निगमों का स्थान अत्यन्त महत्त्व का था। जहाँ तक शासन-संस्थाओं का सम्बन्ध है, उनमें भी इनकी स्थिति महत्त्व की थी, क्योंकि इन द्वारा निर्धारित धर्म (संविदा द्वारा निर्धारित कानून) और इनमें विद्यमान चरित्र राज्य द्वारा मान्य समझ जाते थे। भारत की स्वायत्त जन-संस्थाओं में ये भी अन्यतम थीं। इनकी स्थिति प्रायः वही थी, जो कि ग्रामों, पुरों और जनपदों के संघों की थी।

सालहवाँ अध्याय

राज्यविषयक सिद्धान्त—राज्यसंस्था की उत्पत्ति

(१) विकास सिद्धान्त

राज्य संस्था का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर इस विषय का विशद रूप से निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन निर्देश अथर्ववेद में मिलता है। सभा और समिति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वेद के इस सूक्त का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस सूक्त के अनुसार राज्य संस्था या समाज क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य संस्था से पूर्व विराट् (राज्यविहीन या अराजक) दशा थी, उस दशा के होने पर यह भय हुआ कि क्या यही दशा सदा रहेगी। क्योंकि यह दशा भयावह थी, अतः उत्क्रान्ति होकर गार्हपत्य संगठन बने। मनुष्यों का सबसे पहला संगठन परिवार के रूप में था। पारिवारिक दशा से उन्नति होकर 'आहवनीय' दशा आई। इस दशा में गृहों (परिवारों) के स्वामियों (गृहपतियों) को एक स्थान पर आवाहन किया जाता था। सम्भवतः, यह ग्राम संगठन का सूचक है। आहवनीय के नेता को वेदों में 'ग्रामणी' कहा गया है। आहवनीय (ग्राम) से उपक्रान्ति होकर 'दक्षिणाग्नि' दशा आई। यह ग्राम की अपेक्षा अधिक बड़ा संगठन था। निरुक्त में अग्नि का अर्थ अग्रणी किया गया है। जिस संगठन में चतुर अग्रणी एकत्र हों, उसी को दक्षिणाग्नि कहा गया है। इस दक्षिणाग्नि दशा में उत्क्रान्ति होकर सभा व समिति संस्थाओं का निर्माण हुआ। इस प्रकार अथर्ववेद के अनुसार राज्यसंस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। यह सिद्धान्त वर्तमान समय के राजनीतिशास्त्र विशारदों के सिद्धान्त से अनेक अंशों में समता रखता है। इसे हम विकासवादी सिद्धान्त समझ सकते हैं।

(२) अराजक दशा और राज्य की उत्पत्ति

महाभारत के शान्ति पर्व में राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव पर बड़े विस्तार के साथ विचार किया गया है। उसके अनुसार राज्य संस्था से पूर्व 'अराजक' दशा थी,

---

१. अथर्व ८।१०।१

और बाद में राज्य की उत्पत्ति हुई। इस अराजक दशा का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में दो विचार महाभारत में पाये जाते हैं। इन विचारों को विशद रूप से उल्लिखित करना उपयोगी होगा।

युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया—'यह जो सर्वत्र राजा शब्द प्रचलित है, इसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह मुझे बताइये। राजा के हाथ, पैर, गर्दन, बुद्धि व इन्द्रियाँ अन्य मनुष्यों के समान ही होती हैं। उसकी पीठ, पेट, मुख, हड्डी, मज्जा, वीर्य, माँस, श्वास, उच्छ्वास, प्राण व शरीर भी अन्य सबके तुल्य होते हैं। सबके समान उसे भी सुख-दुख का भोग करना होता है, जन्म-मरण भी उसका दूसरों के सदृश ही होता है। फिर यह क्या बात है, जो वह विशिष्ट बुद्धि वाले व शूरवीर लोगों पर अकेला आधिपत्य रखता है। किस प्रकार वह शूरवीर व श्रेष्ठ लोगों से परिपूर्ण इस पृथ्वी पर शासन करता है। यह क्या बात है, जो उस अकेले के प्रसन्न होने पर सब प्रसन्न हो जाते हैं, और उस अकेले के व्याकुल होने पर सब व्याकुल हो जाते है? इस सम्पूर्ण विषय पर मैं विस्तार के साथ जानना चाहता हूँ। यह जो सारा जगत् एक व्यक्ति के सम्मुख देवता के समान झुक जाता है, उसका कोई गम्भीर कारण होना चाहिए।'[1]

भीष्म ने इस प्रश्न का उत्तर इस ढंग से दिया—कृतयुग के प्रारम्भ में राज्य का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में अशेष रूप से सुनो। एक समय ऐसा था, जब न राजा था और न राज्य की ही सत्ता थी। न तब दण्ड था, और न कोई दाण्डिक (दण्ड देने वाला) था। उस समय सारी प्रजा धर्म द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा किया करती थी। सब एक-दूसरे का धर्मपूर्वक पालन किया करते थे। पर बाद में दैन्य उत्पन्न हुआ (उपभोग योग्य पदार्थों की कमी हो गई)। दैन्य के कारण मोह की उत्पत्ति हुई (जिसको जो वस्तु प्राप्त थी, उसके प्रति उसे मोह हो गया)। मोह के कारण तब लोगों का ज्ञान नष्ट हो गया, जिससे कि उनके धर्म का भी विनाश हो गया, और वे लोभ के वशीभूत हो गये। लोभ के कारण तब मनुष्य अप्राप्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगे। लोभ से काम (वस्तुओं के संग्रह की कामना) और काम से राग (वस्तुओं में स्वत्व या स्वामित्व का विचार) उत्पन्न हुए। राग के कारण मनुष्यों को कार्य और अकार्य का विवेक नहीं रह गया। क्या गम्य है और क्या अगम्य,

१. 'य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत। कथमेष समुत्पन्न स्तन्मे ब्रूहि परंतप ॥५
तुल्य पाणि भुजग्रीवस्तुल्य बुद्धीन्द्रियात्मकः। तुल्य दुःख सुखात्मा च तुल्य पृष्ठ मुखोदरः ॥६
तुल्य शुक्रास्थि मज्जा च तुल्यमांसासृगेव च। निःश्वासोच्छ्वास तुल्यश्च तुल्य प्राण शरीरवान् ॥७
समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम्। विशिष्ट बुद्धीञ्शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥८
कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम्। रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमधिगच्छति ॥९
एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति। व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥१२
नैतत्कारणमत्यल्पं भविष्यति विशांपते। यदेकस्मिञ्जगत्सर्वं देववद्याति सन्नतिम् ॥११
महा० शान्ति० अ० ५८

क्या वाच्य है और क्या अवाच्य, क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य, क्या दोष है और क्या अदोष—इसका विवेक भी तब नष्ट हो गया। इन बातों का ज्ञान नष्ट हो जाने से धर्म का भी नाश हो गया। यह दशा बड़े त्रास (भय) की थी। त्रस्त हुए लोग ब्रह्मा की शरण में गए, और उनसे इस दशा से त्राण पाने का उपाय पूछा।[1] इस पर ब्रह्मा ने उन्हें दण्डनीति का उपदेश दिया, और इस दण्डनीति के अनुसार राज्यसंस्था, राजा व अन्य राजकर्मचारियों की उत्पत्ति हुई।

महाभारत के इस सन्दर्भ के अनुसार दण्डनीति व राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव से पूर्व जो अराजक दशा थी, वह आदर्श थी, क्योंकि तब सब मनुष्य धर्म के अनुसार एक-दूसरे का पालन किया करते थे। अराजक दशा का यह स्वरूप प्रायः वैसा ही है, जैसा कि लॉक (१६३२-१७०४) द्वारा प्रतिपादित किया गया था। पर यह दशा देर तक नहीं रह सकी। इसका कारण भी महाभारत ने स्पष्ट किया है। उस समय में तो लोग धर्म द्वारा एक-दूसरे का पालन कर सकते थे, जबकि सब वस्तुएँ प्रभूत परिमाण में उपलब्ध थीं। क्योंकि तब मनुष्यों को किसी वस्तु के प्रति मोह या स्वत्व रखने की आवश्यकता नहीं थी। पर जब दैन्य हो गया, वस्तुओं की कमी हो गई, तो लोगों में अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इससे मोह, लोभ आदि प्रादुर्भूत हुए। लोग वस्तुओं पर स्वत्व रखने की कामना करने लगे। परिणाम यह हुआ, कि उनके लिए धर्म द्वारा एक-दूसरे का पालन कर सकना सम्भव नहीं रहा। इस स्थिति में मनुष्यों में त्रास उत्पन्न हुआ, जिसके कारण ब्रह्मा की शरण में जाकर उन्होंने इस दशा से त्राण पाने का उपाय पूछा। ब्रह्मा ने उन्हें दण्डनीति (राजनीति) का उपदेश दिया, जिसके अनुसार राजा व राज्यसंस्था की उत्पत्ति हुई। इस दण्ड-नीति के अनुसार जब पृथु मनुष्यों का राजा बना, तो उससे यह आशा की गई कि वह इस बात का विचार नहीं करेगा; कि उसका अपना प्रिय या अप्रिय क्या है; वह सबके साथ समान व्यवहार करेगा; काम, क्रोध, लोभ व मोह से दूर रहेगा; जो कोई धर्म का उल्लंघन करेगा उसका वह निग्रह करेगा; और भूमि (जनता) को ब्रह्म

[1]नैवं राज्यं च राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥१४
पाल्यमानास्तथाऽन्योन्यं नरा धर्मेण भारत। दैन्यं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥१५
ते मोहवश मापन्ना मनुजा मनुजर्षभ। प्रतिपत्ति विमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥१६
नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा। लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥१७
अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्तदा। कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥१८
तांस्तु कामवशं प्राप्तान्रागो नामाभि संस्पृशत्। रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥१९
अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च। भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥२०
विलुप्ते नरलोकेऽस्मिं स्ततो ब्रह्म ननाश ह। नाशाच्च ब्रह्मणो राजन्धर्मो नाशमथागमत् ॥
नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवास्त्रासमथागमन्। ते त्रस्ता नर शार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥२२

महा० शान्ति० अ० ५८

मानकर उसका पालन करेगा।[1]

यहाँ महाभारत में राज्यसंस्था की उत्पत्ति का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उसमें ब्रह्मा स्वयं राज्य या राजा का प्रादुर्भाव नहीं करता। उस द्वारा नीतिशास्त्र का ही उपदेश किया जाता है। राजा और राज्यसंस्था इस नीतिशास्त्र के अधीन हैं, उसके अनुसार ही उन्हें कार्य करना है। प्राचीन भारतीय विद्या या ज्ञान को दैवी या ईश्वरीय मानते थे। उनका विश्वास था, कि वेद (त्रयी) मनुष्यकृत न होकर ईश्वरकृत हैं या प्रकृति के समान ही अनादि हैं। महाभारत में भीष्म को यही मत अभीष्ट है, कि वेद के समान दण्ड-नीति या नीतिशास्त्र भी मनुष्यकृत न होकर ईश्वरकृत हैं, और राजा को स्वेच्छाचारी न होकर दण्डनीति के अनुसार ही राज्य का शासन करना है।

भोजकृत समरांगण सूत्रधार में भी ब्रह्मा द्वारा पृथु को पहला राजा बनाये जाने के मत का उल्लेख मिलता है। वहाँ ब्रह्मा प्रजा से कहता है—'पृथु तुम सबका स्वामी है। वह सत्पुरुषों की रक्षा करेगा, और असत्पुरुषों को दण्ड देगा। तुमको सब भयों से मुक्त करके वह तुम्हारा नृप होगा। वह सबके प्रति न्याय करेगा और सब वर्णों व आश्रमों को स्वधर्म में स्थापित करके न्यायपूर्वक शासक करेगा।' यह सुनकर प्रजा ने पृथु से कहा—हम विपत्तियों के समुद्र में निमग्न हो रहे हैं, उससे हमारी रक्षा कीजिये। पृथु ने उत्तर दिया—मैं तुम्हारी सब भयों व विपत्तियों से रक्षा करूँगा। तुम अब किसी प्रकार की आशङ्का मत करो। मैं सबको स्वधर्म, वर्णधर्म और आश्रमधर्म में स्थापित करूँगा, और दण्ड द्वारा सबको सही मार्ग पर चलाऊँगा। मैं ग्राम, पल्ली और पुरों की स्थापना करूँगा, और मेरे यत्न से भूमि यथेष्ट फल प्रदान करेगी। इस प्रकार तुम सब सुखी और समृद्ध हो सकोगे।'[2]

जैन साहित्य में भी यही विचार उपलब्ध होता है। जैन विचारकों के अनुसार मनुष्यों में पहले राज्यसंस्था का अभाव था। तब किसी वस्तु की कमी नहीं थी। अतः लोगों में यह प्रवृत्ति भी नहीं थी, कि वे किसी वस्तु में ममत्व बुद्धि रखें या किसी वस्तु का संग्रह करें। सब पदार्थ वायु या जल के समान प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थे। पर यह सुवर्णीय युग देर तक कायम नहीं रह सका। धीरे-धीरे पदार्थों में कमी होने लगी। 'दैन्य' की दशा आ जाने पर लोग वस्तुओं पर अपना वैयक्तिक स्वामित्व स्थापित करने को प्रवृत्त हुए। इससे उनमें लोभ, मोह, काम, क्रोध, मद और हर्ष उत्पन्न हुए। मनुष्यों का नैतिक पतन हो जाने और धर्म का लोप हो जाने से यह आवश्यकता प्रतीत हुई, कि राज्यसंस्था द्वारा मनुष्यों में मर्यादा और नियन्त्रण की स्थापना की जाए। राज्यसंस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार बौद्ध साहित्य में भी पाये जाते हैं। बौद्ध विचारकों के अनुसार पहले राज्यसंस्था का

१. महाभारत, शान्ति पर्व अ० ५८
२. समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय ७

अभाव था, अराजक दशा थी। जब लोगों में लोभ और मोह उत्पन्न होने के कारण धर्म नष्ट हो गया, तो उन्हें राज्यसंस्था के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिए वे एक स्थान पर एकत्र हुए, और अपने में जो सबसे अधिक योग्य, बलवान्, बुद्धिमान और सुन्दर व्यक्ति था, उसे राजा बनाया गया। इस योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाकर सबने उसके साथ इस ढंग से 'समय' (संविदा या इकरार) किया—'अब से तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो जो दण्ड देने के योग्य हो; और उसे पुरस्कृत किया करो जो पुरस्कृत करने के योग्य हो। इसके बदले में हम तुम्हें अपने क्षेत्रों की उपज का एक भाग प्रदान किया करेंगे।'[1] इसके आगे लिखा गया है कि 'क्योंकि यह व्यक्ति सबसे सम्मत होकर अपने पद पर अधिष्ठित होता है, अतः इसे 'महासम्मत' कहते हैं। क्योंकि यह क्षेत्रों का रक्षक है, और हानि से जनता की रक्षा करता है, अतः यह 'क्षत्रिय' कहलाता है। क्योंकि यह प्रजा का रंजन करता है, इसलिए इसे 'राजा कहते हैं।'[2]

(३) मात्स्यन्याय और समयवाद का सिद्धान्त

राज्यसंस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्राचीन भारत में सर्वाधिक मान्य था, उसे हम 'समयवाद' (Theory of Social Contract) कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव से पूर्व जो अराजक दशा थी, वह बहुत भयंकर थी। उस समय सर्वत्र मात्स्यन्याय प्रचलित था। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार बलवान् व्यक्ति निर्बलों को सताते रहते थे। इस दशा से तंग आकर लोगों ने परस्पर 'समय' (Contract) किया, और इस समय द्वारा एक व्यक्ति को अपना राजा बनाना तय किया।

महाभारत के शान्तिपर्व में अराजक दशा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'अराजक राष्ट्रों में धर्म स्थापित नहीं रह सकता। वहाँ लोग एक-दूसरे को खा जाते हैं। अराजक को धिक्कार है। अराजक देश में पापी जन दूसरों के धन का अपहरण करके प्रसन्न होते हैं। जब इनके भी धन का अपहरण हो जाता है, तब ये राजा की आवश्यकता अनुभव करते हैं। पर अराजक देश में पापी जन का भी तो भला नहीं होता, क्योंकि एक पापी के धन को दो पापी मिलकर हर लेते हैं, और दो के धन को अन्य बहुत से। जो दास न हो, उसे ऐसे अराजक देश में दास बना लिया जाता है, और स्त्रियों को जबर्दस्ती हरण कर लिया जाता है। इसी कारण तो देवों ने प्रजापाल नियत किये थे। यदि संसार में दण्ड को धारण करने वाला राजा न हो, तो बलवान दुर्बलों को उसी प्रकार खा जायें, जैसे जल में मछलियाँ अन्य मछलियों को खा जाती हैं। ऐसा सुना गया है, कि जल में मछलियों के समान पहले अराजक

१. Rockhill : Life of Buddha p. 3-7
२. Ibid : p. 7

प्रजा एक-दूसरे को ही खा जाया करती थी, और इस प्रकार वह नष्ट हो गई थी।'[1]

शान्तिपर्व (महाभारत) के ही एक अन्य अध्याय में अराजक दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—'जैसे सूर्य और चन्द्रमा के उदित न होने पर सब प्राणी घोर अन्धकार में डूब जाते हैं, और एक-दूसरे को देख नहीं सकते; जैसे जल में मत्स्य और आकाश में पक्षी एक-दूसरे की हत्या करते हुए स्वेच्छाचारी रूप से विचरण करते हैं, उसी प्रकार राजा के अभाव में प्रजा का विनाश हो जाता है, और वह घोर अन्धकार में डूब जाती है। उसकी दशा वही हो जाती है, जो गोप के अभाव में पशुओं की होती है। तब बलवान लोग दुर्बलों की धनसम्पत्ति का अपहरण कर लेते हैं, और सब-कुछ हर कर उनका घात कर देते हैं। अराजक दशा में न किसी की पत्नी रहती है, न किसी का पुत्र और न किसी के पास धनका संचय। यह वस्तु मेरी है, यह भाव ही तब संसार में नहीं रह पाता। सब एक-दूसरे को कोसते हुए मारने को तत्पर हो जाते हैं, और संसार दस्युओं के समान हो जाता है। धन वालों का सदा वध, बन्धन और परिक्लेश होता रहता है, और ममत्व की भावना रहने ही नहीं पाती। सब जगह अकाल पड़ जाता है, और दुनिया दस्युओं से भर जाती है।'[2]

---

१. 'अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम्॥ ३
प्रीयते हि हरन्पापैः परवित्तमराजके।
यदाऽस्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति॥ १३
पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे॥ १४
अदासः क्रियते दासः ह्रियन्ते च बलात्स्त्रियः।
एतस्मात्कारणात् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे॥ १५
राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः॥ १६
अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥ १७ महा० शान्ति० अ० ६६

२. 'यथा ह्यनुदये राजन्भूतानि शशिसूर्ययोः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम्॥१०
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहंगमाः।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः परस्परम्॥११
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा॥१३
हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत्॥१४
ममेदमिति लोकेऽस्मिन्न भवेत्स्वपरिग्रहः।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः॥१५

रामायण में भी अराजक दशा के सम्बन्ध में इसी प्रकार का भयंकर वर्णन किया गया है—'अराजक जनपद में खेत ठीक तरह से बोये नहीं जाते, पुत्र पिता के वश में नहीं रहता, और पत्नी पति के वश में नहीं रहती। न वहाँ धन रहने पाता है, न भार्या और न सत्य। अराजक जनपदों में धनी लोग सुरक्षित नहीं रह पाते, और कृषि और गोरक्षा आदि द्वारा आजीविका चलाने वाले लोग भी रात के समय घर के द्वार खुले रखकर सो नहीं सकते। अराजक राष्ट्र वैसे ही होता है, जैसे जल के बिना नदी या तृण के बिना जंगल। अराजक जनपद में किसी का कोई अपना नहीं होता, और जल में मछलियों के समान मनुष्य एक-दूसरे को खाने लग जाते हैं। ऐसे राष्ट्र की दशा गोपाल के अभाव में गौवों के समान हो जाती है।'[१]

क्योंकि अराजक दशा में किसी का भी जीवन व योगक्षेम सुरक्षित नहीं थे, अत: उन्होंने परस्पर 'समय' कर के राज्यसंस्था के प्रादुर्भाव का निश्चय किया। इस सम्बन्ध में शान्तिपर्व में लिखा है–'हमने ऐसा सुना है, तब (अराजकदशा से उद्विग्न होकर) प्रजा एक स्थान पर एकत्र हुई, और उसने यह 'समय' किया—कि हम में जो कोई वाक्शूर (बढ़-बढ़कर बातें करने वाला या ढपोलशंख), दण्डपुरुष (क्रूर), और पारदारिक (परस्त्रियों का अपहरण करने वाला) हो, और जो कोई हमारे इस 'समय' को तोड़े, उसे हम बहिष्कृत कर देंगे। सब लोगों में पारस्परिक विश्वास को उत्पन्न करके प्रजा इस 'समय' के अनुसार व्यवस्थित हो गई। पर केवल इतने से ही उनकी समस्या का हल नहीं हो गया। सम्मिलित होकर सब लोग पितामह (ब्रह्मा) के पास गये, और उन से कहा—हमारा कोई स्वामी नहीं है, इसी कारण हम नष्ट हो रहे हैं, आप हमें किसी ईश्वर (स्वामी) का निर्देश कीजिये, जो कि हमारा पालन करे और हम जिसकी पूजा करें। ब्रह्मा ने उन्हें मनु का निर्देश किया। पर मनु ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। उसने कहा—मैं पाप कर्म से बहुत डरता हूँ, राज्य बहुत ही दुष्कर कार्य है, विशेषतया ऐसे मनुष्यों में जो कि सदा मिथ्यावृत्ति का अनुसरण करते हैं। इस पर प्रजा ने मनु से कहा—आप किसी प्रकार का भय न कीजिये। राज्यकार्य का संचालन करने के लिए हम आपको धन प्रदान करेंगे। हम पशुओं और सुवर्ण का पाँचवाँ अंश और धान्य (अन्न) का दसवाँ अंश आपको देंगे, जिससे कि आपके कोश की वृद्धि होगी। शस्त्रधारी मुख्य व्यक्ति आपकी सहायता के लिए सदा साथ रहेंगे। प्रजा जो-कुछ भी धर्माचरण करेगी, उसका भी चौथा भाग आपको प्राप्त होगा। इस सब के बदले में हम आपसे केवल यह चाहते हैं, कि आप धर्मपूर्वक हमारा पालन करें और

क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥१८
वधबंधपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत् ।
ममत्व न च विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥१९
अन्तारश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद्भवेत् ॥२० महा० शान्ति० अ० ६७

१. रामायण, अयोध्याकाण्ड, अध्याय ४१

हमें सुख की प्राप्ति करायें।'[1] इस पर मनु ने राजा बनना स्वीकार कर लिया, और उसने सब पापी जनों का दमन करके और सब को अपने-अपने कर्म में लगाकर शासन करना प्रारम्भ किया।

महाभारत के इस सन्दर्भ में राज्यसंस्था की उत्पत्ति का बड़े सुन्दर रूप से निरूपण किया गया है। इसके अनुसार अराजक दशा से उद्विग्न हुई जनता ने दो 'समय' किये। एक आपस में, और दूसरा राजा के साथ। आपस में उन्होंने वह संविदा की, कि हम में जो वाक्शूर, दण्डपुरुष और पारदारिक हो, उसे हम बहिष्कृत कर देंगे—और साथ ही उन व्यक्तियों को भी जो 'समय' का भंग करेंगे। राजा से उन्होंने यह संविदा की, कि अपनी आमदनी का एक अंश उसे प्रदान किया जायगा और उसे प्राप्त करके राजा उनका पालन करेगा और उनमें सुख-शान्ति स्थापित करेगा।

महाभारत के शान्तिपर्व में 'अराजक' दशा, मात्स्य न्याय और 'समय' का जो निरूपण विशद रूप से किया गया है, संक्षिप्त रूप से उसके निर्देश स्मृतियों व नीति-ग्रन्थों में अन्यत्र भी विद्यमान हैं। मनुस्मृति के अनुसार 'अराजक दशा में जब संसार में सर्वत्र भय छा गया, तो संसार की रक्षा के लिए प्रभु ने राजा की सृष्टि की।'[2] मनु ने इस अराजक दशा के लिए यह भी लिखा है, कि उस समय बलवान् लोग दुर्बलों की उसी प्रकार से हिंसा किया करते थे, जैसे कि जल में मछलियाँ अन्य (निर्बल) मछलियों की करती हैं।[3] यही उक्ति युक्तिकल्पतरु में भी पाई जाती है।[4] अराजक दशा व मात्स्य न्याय की दशा से उद्विग्न होकर प्रजा ने राजा के साथ 'समय' किया, और राजा की नियुक्ति की—यह विचार प्राचीन समय में इतना अधिक प्रचलित था,

१. 'अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्। परस्परम् भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥१७
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्। वाक्शूरो दण्डपुरुषो यश्च स्यात् पारदारिकः ॥१८
यश्च नः समयं भिन्द्यात् त्याज्या न स्तादृशा इति। तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ॥१९
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम्। अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥२०
यं पूजयेम संभूय यश्च नः प्रतिपालयेत्। ताभ्यो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिनन्द ताः ॥२१
बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुष्करम्। विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥२२
तमब्रुवन्प्रजाः मा भैर्विधास्यामो धनं तव। पशूनामथ पञ्चांशं हिरण्यस्य तथैव च ॥२३
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ॥२४
मुख्येन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः। भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥२५
यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः। चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं नो भविष्यति ॥२७
तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः। पाह्यस्मान् सर्वतो राजन्देवानिव शतक्रतुः ॥२८' महा० शान्ति० अ० ६६

२. अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥' मनु० ७।३

३. 'जले मत्स्यानिवाभक्षयन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥' मनु० ७।२०

४. युक्तिकल्पतरु, पृ० १०५

कि पाल वंश के प्रथम राजा गोपाल को भी इसी प्रक्रिया द्वारा प्रजा ने अपना राजा नियत किया, यह पालवंशी राजा धर्मपाल के लखीमपुर में प्राप्त दानपत्र में उल्लिखित है। वहाँ लिखा है—मात्स्य न्याय को दूर करने के लिए प्रकृतियों (प्रजाजनों) ने गोपाल को लक्ष्मी का हाथ पकड़ाया। वह गोपाल क्षितीशों (राजाओं) के सिरों पर चूड़ामणि के समान प्रतिष्ठित है।[1] गुप्त साम्राज्य के क्षीण हो जाने पर जब पूर्वी भारत में अराजकता उत्पन्न हो गई थी, तब जनता ने स्वयं इस मात्स्य न्याय को दूर करने के लिए गोपाल को अपना राजा नियत किया था। उसी के वंश में आगे चलकर धर्मपाल आदि परम प्रतापी राजा हुए। आचार्य चाणक्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में राज्य संस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—'मात्स्य न्याय से अभिभूत हुई प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया, और अपने धान्य का छठा भाग तथा पण्य और सुवर्ण का दसवाँ भाग उसके 'भागधेय' के रूप में उसे प्रदान करने की व्यवस्था की'।[2]

महाभारत आदि में 'समय' या सामाजिक संविदा (Social Contract) के सिद्धान्त का जिस ढंग से प्रतिपादन किया गया है, उसमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) अराजक दशा मात्स्य न्याय की दशा थी, जिसमें किसी भी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं था। (२) इस दशा से परेशान होकर लोगों ने पहले परस्पर यह इकरार किया, कि जो कोई मनुष्य दूसरे की सम्पत्ति व स्वतन्त्रता में बाधा डालेगा, उसे बहिष्कृत कर दिया जायगा। (३) पर सामाजिक शान्ति और व्यवस्था के लिए उन्होंने केवल बहिष्कार के साधन को अपर्याप्त समझा, और ब्रह्मा के परामर्श के अनुसार मनु को अपना राजा व शासक बनाना निर्धारित किया। (४) प्रजा ने मनु से यह इकरार किया, कि वे उसे अपनी आमदनी का निश्चित भाग कर के रूप में या उसकी वृत्ति के रूप में प्रदान किया करेंगे और उसके आदेशों का पालन करेंगे। इसके बदले में मनु उनकी रक्षा व पालन करेगा। राजा व राज्य संस्था की सत्ता मनुष्यों द्वारा किए गए इस इकरार का ही परिणाम है। राजा के कतिपय निश्चित कर्तव्य हैं। इसके बदले में वह प्रजा से निश्चित वृत्ति करों के रूप में प्राप्त करता है। इसी कारण शुक्रनीतिसार में राजकीय कर को स्पष्ट रूप से राजा की वृत्ति या वेतन का नाम दिया गया है, जो राजा प्रजा से 'स्वभाग' के रूप में प्राप्त करता है, और जिसके कारण वह जनता का दास्य स्वीकार करता है।[3]

---

१. 'मात्स्यन्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्याः कर ग्राहितः।
स गोपाल इति क्षितीश शिरसां चूडामणिः मत्कृतः ॥'

२. 'मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः।' कौ० अर्थ० १।१

३. 'स्वभाग भृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा।' शुक्र १।१८८

(४) दैवी अधिकार सिद्धान्त

राज्य संस्था की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है, राजा जिस अधिकार से राज्य पर शासन करता है वह उसे ईश्वर से ही प्राप्त होता है, और इसी कारण राजा को दैवी समझना चाहिये, यह सिद्धान्त भी भारत के प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान है। मनुस्मृति के अनुसार 'संसार की रक्षा के लिए प्रभु ने ईश्वर की सृष्टि की।'[1] ईश्वर ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु, वरुण, चन्द्र और और कुबेर (देवताओं) से अंश लेकर किया। इसीलिए वह सबकी आँखों और मनों को सूर्य के समान अपने तेज से तप्त करता है, और पृथिवी पर कोई भी व्यक्ति उसकी ओर आँख उठा कर नहीं देख सकता। वह राजा ही अपने प्रभाव के कारण स्वयं अग्नि, वायु, सूर्य, सोम (चन्द्रमा), कुबेर, वरुण और महेन्द्र होता है।[2] यदि कोई बालक भी राजा हो, तो यह समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिए कि वह तो अभी बालक ही है, क्योंकि नर के रूप में वस्तुतः वह एक 'महती देवता' ही होता है।[3] मनु ने यहाँ स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, कि राजा देखने में यद्यपि एक साधारण मनुष्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में उसे एक महान् देवता समझना चाहिए। मनु की युक्ति के अनुसार यह सही भी है, क्योंकि उसका निर्माण इन्द्र, मित्र, वरुण, सूर्य, वायु आदि देवताओं के अंश लेकर किया गया होता है।

मत्स्यपुराण में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है। वहाँ लिखा है—'सब प्राणियों की रक्षा के प्रयोजन से और न्यायपूर्वक दण्ड के प्रणयन के लिए देवताओं के अंश लेकर स्वयम्भू ने राजा की सृष्टि की है।[4]

राजा व राज्य-संस्था की उपत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रधानतया महाभारत में प्रतिपादित हैं, वे समयवाद के हैं, जिनके अनुसार जनता द्वारा की गई संविदा के कारण अराजक दशा का अन्त होकर राज्यसंस्था का प्रादुर्भाव हुआ। इस अराजक दशा के स्वरूप के सम्बन्ध में जो दो मत महाभारत में उल्लिखित हैं, उन्हें हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं। पर महाभारत में कहीं-कहीं ऐसे निर्देश भी विद्यमान हैं, जिनके अनुसार राजा का दैवी होना सूचित होता है। शान्ति पर्व में एक स्थान पर

१. मनुस्मृति ७।३

२. 'इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषि मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्।' मनु० ७।४-६

३. 'सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः।' मनु० ७।४-७

४. दण्ड प्रणयनार्थाय राजा सृष्टः स्वयम्भुवा।
देवभागानुपादाय सर्वभूतादि गुप्तये॥' मत्स्य पुराण २२६।१

देवों और नरदेवों (राजाओं) को एकतुल्य कहा गया है।[१] शान्तिपर्व के इसी अध्याय में यह कथा उल्लिखित है, कि सब देव लोग प्रजापति विष्णु की सेवा में उपस्थित हुए, और उन्होंने उनसे पूछा—मनुष्यों में ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो उनमें श्रेष्ठ्य स्थान प्राप्त करने के योग्य है। इस पर प्रभु नारायण ने एक मानस पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम विरजस था। पर इसने मनुष्यों का राजा होना स्वीकार कहीं किया। पर उसका पुत्र कीर्तिमान् राजा बना, और फिर क्रमशः कर्दभ, अनङ्ग और अतिबल राजा बने। इस कथा के अनुसार भगवान् विष्णु द्वारा मनुष्यों के राजा को निर्धारित करना सूचित है।[२] महाभारत में अन्यत्र राजा के दैवी होने की बात अधिक स्पष्ट रूप से उल्लखित है। 'राजा भी एक मनुष्य है, यह समझ कर उसका अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में वस्तुतः एक 'महती देवता' होता है। समय के अनुसार उसके पाँच रूप होते हैं, अग्नि, सूर्य, मृत्यु, कुबेर और यम के। जब वह अपने महान् तेज द्वारा पापी लोगों का दहन करता है, तो वह अग्नि का रूप प्राप्त करता है।[३] इसी ढंग से राजा के सूर्य आदि रूपों को भी महाभारत में प्रकट किया गया है।[४]

कौटलीय अर्थशास्त्र में भी राजा के दैवी होने के सिद्धान्त का निर्देश विद्यमान है। वहाँ लिखा है कि 'राजा इन्द्र और यम का स्थानीय होता है, कृपा (प्रसाद) और कोप (हेड) उसमें प्रत्यक्ष रूप से होते हैं। जो कोई उसका अपमान करता है, उन्हें दैवी दण्ड भी मिलता है। इस कारण राजाओं का कभी अपमान नहीं करना चाहिये।[५]' पर अर्थशास्त्र में यह बात राजा के उन सत्रियों (गुप्तचरों) के मुख से कहलवाई गई है, जो कि जनता में राजा के प्रति अनुकूल भावना को उत्पन्न करने के लिए नियत हैं। कौटल्य भली-भाँति समझते थे, कि जनता के विचारशील व्यक्तियों को राजा के दैवी होने की बात नहीं समझाई जा सकती। अतः राजा के दैवी होने की बात का

---

१. 'ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशांपते॥' महा० शान्ति० ५८।१५३

२. महा० शान्ति० ६६।९५-१००

३. 'नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति॥
कुरुते पञ्च रूपाणि कालयुक्तानि यः सदा।
भवत्यग्नि स्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः॥
यदा ह्यासीदतः पापान्दहत्युग्रे न तेजसा।
मिथ्योपचारितो राजा तदा भवति पावकः॥ महा० शान्ति० ६७।४०-४२

४. महा० शान्ति० ६७।४३-४८

५. 'इन्द्रयमस्थानमेतत् राजानः प्रत्यक्ष हेतुप्रसादाः। तानवमन्यमानान् दैवोऽपि दण्डः स्पृशति।
तस्मान्राजानो नावमन्तव्याः।' कौ० अर्थ० १।१३

प्रयोग निम्न (क्षुद्रक) वर्ग के लोगों के लिए कही गई है।[1]

इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के प्राचीन साहित्य में राजा के दैवी होने के निर्देशों की सत्ता है। पर इस कारण भारत के प्राचीन राजा अपने को कभी इस ढंग से दैवी नहीं समझते रहे, जैसे कि इङ्गलैंड के स्टुअर्ट राजा समझते थे। राज्य संस्था और राजा के ईश्वर द्वारा प्रादुर्भूत होने की बात भारत की प्राचीन विचारसरणी के सर्वथा अनुकूल थी। इस देश में सृष्टि, ज्ञान आदि सभी का उद्गम ईश्वर द्वारा माना जाता था। न केवल वेद शास्त्र अपितु राजनीति, आयुर्वेद, संगीत, शिल्पशास्त्र आदि सभी का मूल ईश्वर में है, यह प्राचीन भारतीयों का विश्वास था। इसी कारण उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया, कि दण्डनीति ब्रह्मा ने उपदिष्ट की, और उसके अनुसार राजा की उत्पत्ति भी प्रभु द्वारा ही की गई।

(५) युद्ध मूलक सिद्धांत

ऐतरेय ब्राह्मण में राज्य संस्था व राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, जिसके अनुसार युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर राजा का प्रार्दुभाव हुआ था। वहाँ लिखा है—'देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था। असुरों ने देवों को परास्त कर दिया। इस पर देवों ने कहा, क्योंकि हमारा कोई राजा नहीं है, इसी कारण असुर हमें जीत लेते हैं। हम भी राजा बना लें। इसे सबने स्वीकार कर लिया।'[2] इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त में इस बात पर जोर दिया गया है, कि युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर ही राज्य-संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान समय के विचारक भी राज्य के विकास में युद्ध को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं। मानव समाज की प्रारम्भिक दशा में मनुष्य जिन टोलियों व कबीलों में संगठित थे, उनका जीवन सर्वथा शान्तिमय नहीं था। अपने चरागाहों, खेतों व बस्तियों की रक्षा के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध की आवश्यकता होती थी। युद्ध का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए किसी योग्य नेता का होना अनिवार्य होता है। युद्ध की इस आवश्यकता ने टोलियों, कबीलों व बस्तियों में एक ऐसे नेता का प्रादुर्भाव किया, जो अपनी योग्यता, बल और साहस के कारण कुशलता से युद्ध का संचालन कर सकता था। केवल युद्ध के अवसर पर ही नहीं, अपितु शान्ति के समय में भी लोग इस नेताके आदेशों का पालन करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ने राज्य-संस्था के प्रादुर्भाव के इसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व को प्रगट किया है।

१. 'इति क्षुद्रकान् प्रतिषेधयेत्।' कौ० अर्थ० १।१९
२. 'देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त'''तांस्ततोऽसुरा अजयन्'''देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवामहा इति तथेति।' ऐतरेय १।१४

सतरहवाँ अध्याय

राज्य-संस्था का स्वरूप और उसके आवश्यक तत्त्व

(१) राज्य की शरीर रूप से कल्पना

भारत के प्राचीन राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए 'सप्ताङ्ग' राज्य की कल्पना की है। उन के अनुसार राज्य एक जीवित जागृत शरीर (Organism) है, जिसके सात अङ्ग होते हैं। ये अंग निम्नलिखित हैं—स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद (राष्ट्र), पुर (दुर्ग), कोश, दण्ड (बल) और मित्र। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—'जो कोई सप्ताङ्ग राज्य के विरुद्ध आचरण करे, उसका हनन कर देना चाहिये, चाहे वह गुरु या मित्र ही क्यों न हो।'[1] राज्य को शरीर के रूप में प्रतिपादित करते हुए शुक्रनीतिसार ने लिखा है, कि इस शरीर रूपी राज्य में राजा मूर्धा (सिर) के समान है, अमात्य आँख है, सुहृत् कान है, कोश मुख है, बल मन है, दुर्ग हाथ है, और राष्ट्र पैर है।[2] शुक्रनीतिसार में ही एक अन्य स्थान पर राज्य की तुलना वृक्ष के साथ की गई है—'राज्य रूपी वृक्ष की जड़ राजा है, स्कन्ध मन्त्री हैं, सेनापति शाखाएँ हैं, सैनिक पत्ते और फूल हैं, प्रजा फल हैं, और भूमि बीज है।'[3] राज्य के सप्ताङ्ग रूप होने और एक शरीर के समान होने का विचार प्रायः सभी नीति-ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में पाया जाता है।

पर इस सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र में विशद रूप से विचार किया गया है। वहाँ राज्य के सात अंगों को सात 'प्रकृतियों' के नाम से कहा गया है। वहाँ लिखा है—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र—ये प्रकृतियाँ हैं।[4] यह

१. 'सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत्।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥' महा० शान्ति० ५६।५

२. 'स्वाम्यमात्य सुहृत्कोश राष्ट्र दुर्गबलानि च। सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा नृपः स्मृतः ॥
दृगमात्यः सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः। हस्तौ पादौ दुर्गं राष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि ॥'
शुक्रनीतिसार १।६१-६२

३. 'राज्य वृक्षस्य नृपतिः मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः।
शाखास्सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च।
प्रजाः फलानि भूभागाः बीजं भूमिः प्रकल्पिता ॥' शुक्र० ५।१२-१३

४. 'स्वाम्यमात्य जनपद दुर्गं कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः।' कौ० अर्थ० ६।१

लिखकर सातों प्रकृतियों के गुणों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। इन गुणों को यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। पर कौटल्य ने इस प्रश्न पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया है, कि इन प्रकृतियों (राज्य के अंगों) में किसका महत्त्व अधिक है। पुराने आचार्यों का यह मत था, कि स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र में पहला-पहला अधिक महत्त्व का है। स्वामी अमात्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, और अमात्य जनपद से अधिक महत्त्व रखता है।[1] पर आचार्य भारद्वाज ने इस मत का यह कहकर खण्डन किया, कि स्वामी की अपेक्षा अमात्य का महत्त्व अधिक है, क्योंकि मन्त्र (राजकीय विचार विमर्श), फल की प्राप्ति, राजकीय कर्म का अनुष्ठान, आय व्यय का विवेचन, दण्ड का प्रयोग, शत्रु और आटविकों का निवारण, राज्य की रक्षा, आपत्तियों का प्रतीकार, राजकुमारों का रक्षण व अभिषेक आदि सब कार्य अमात्यों द्वारा ही किये जाते हैं। पर कौटल्य अमात्य की तुलना में राजा को ही अधिक महत्त्व का मानते थे। उनका मत था, कि मन्त्री, पुरोहित आदि राजकर्मचारीवर्ग को राजा ही नियुक्त करता है, यदि स्वामी सम्पन्न हो, तो अन्य प्रकृतियाँ भी सम्पन्न हो जाती हैं। राजा का जैसा शील हो, वैसा ही शील प्रकृतियों का भी होता है। स्वामी राज्य में कूटस्थानीय होता है। यदि वह उत्थानशील हो तो अन्य प्रकृतियाँ भी उत्थानशील होती हैं; यदि वह प्रमादी हो, तो अन्य सब भी उसके सदृश हो जाते हैं। अन्य प्रकृतियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार से विवेचन करके कौटल्य ने यही मत प्रतिपादित किया है, कि राजा (स्वामी) आदि सातों प्रकृतियों में पहलीपहली प्रकृति अधिक महत्त्व की होती है।[2]

यह मत प्रतिपादित करके कौटल्य ने लिखा है—'यदि किसी प्रकृति का एक अवयव व्यसनग्रस्त हो, तो उस प्रकृति के उन अवयवों से कार्य का साधन सम्भव है, जो कि व्यसनग्रस्त नहीं है, जिनमें अभी सार विद्यमान है, और जिनका अनुराग अभी कायम है।'[3] उदाहरण के रूप में दण्ड प्रकृति के अवयव मौल बल, अटवि बल, भृत बल आदि होते हैं। यदि इन अवयवों में से कोई एक अवयव राज्य के विरुद्ध भी हो जाए, तो भी काम चल सकता है, बशर्ते कि उसके अन्य अवयव राज्य के प्रति अनुरक्त रहें। शरीर में भी हम यही बात पाते हैं। यदि हाथ रूपी अंग की एक उँगली बेकार भी हो जाए, तो भी काम चल जाता है, बशर्ते कि अन्य उँगलियाँ ठीक हों। 'यदि दो प्रकृतियाँ (अंग) एक साथ व्यसनग्रस्त हो जाएँ और उनके गुणों में क्षीणता आ जाए, पर शेष पाँच प्रकृतियाँ सद्गुणों से युक्त रहे, तो भी चिन्ता की विशेष बात

१. 'स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्र व्यसनानां पूर्वं पूर्वं गरीय इत्याचार्याः।'
कौ० अर्थ० ८।१

२. कौ० अर्थ० ८।१

३. 'प्रकृत्यवयवानां तु व्यसनस्य विशेषतः।
बहुभावोऽनुरागो वा सारो वा कार्यसाधकः॥ कौ० अर्थ० ८।१

नहीं। पर एक प्रकृति के व्यसन से अन्य प्रकृतियों का नाश तभी सम्भव है, जब कि उस एक प्रकृति का व्यसन अत्यन्त गम्भीर हो, चाहे वह प्रकृति प्रधान हो या अप्रधान।[1] कौटल्य के ये मत अत्यन्त महत्त्व के हैं। क्योंकि राज्य एक शरीर के समान होता है, अतः यदि उसके किसी एक अंग के किसी साधारण अवयव में कोई रोग हो, तो काम में विशेष बाधा नहीं आती। शरीर अपना कार्य करता रहता है। यदि राज्य रूपी शरीर की दो प्रकृतियाँ भी व्यसनग्रस्त हो जाएँ, पर यह व्यसन केवल उनके गुणों में क्षीणता आ जाने के रूप में हों, तो भी कोई विशेष संकट नहीं होता, बशर्ते कि अन्य अंग ठीक प्रकार से कार्य कर रहे हों। पर यदि किसी एक अंग में गम्भीर रोग उत्पन्न हो जाए, तो वस्तुतः शरीर के लिए संकट की दशा उपस्थित हो जाती है। शरीर के विविध अंगों में जो रोग होते हैं, वे साधरण भी हो सकते हैं और गम्भीर भी। यदि कोई एक या दो अंग किसी साधारण रोग से ग्रस्त हों, तो शरीर को विशेष हानि नहीं होती। शरीर अपना काम करता रहता है। पर यदि एक या दो अंगों को कोई गम्भीर रोग हो जाए, तो शरीर का चलना कठिन हो जाता है। यही बात राज्य के सम्बन्ध में भी है। उसकी किसी प्रकृति में साधारण व्यसन उत्पन्न हो जाने से काम चल जाता है। पर एक भी प्रकृति का गम्भीर व्यसन राज्य के लिए विपत्ति का कारण बन सकता है।

यद्यपि कौटल्य ने राज्य-संस्था की सातों प्रकृतियों को स्वीकार किया है, पर उसकी दृष्टि में राजा और राज्य—ये दो प्रकृतियाँ ही प्रधान हैं।[2] मौर्यों के विशाल साम्राज्य में राजा कूटस्थानीय था, अतः उसकी महत्ता अमात्य आदि अन्य प्रकृतियों की तुलना में अवश्य ही अधिक थी। इसी कारण उसने राजा और राज्य (जिसमें अन्य प्रकृतियों को अन्तर्गत किया जा सकता है) को ही प्रधान माना है। राज्य में जनपद, पुर, सेना, कोश आदि का समावेश हो जाता है, और राजा उसकी शासन-शक्ति का प्रतीक होता है। अतः राजा और राज्य कह देने से सम्पूर्ण राज्यसंस्था का बोध हो सकता है।

(२) दण्ड शक्ति का सिद्धान्त

भारत के प्राचीन विचारकों ने राजशास्त्र का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उसमें 'दण्ड' का सिद्धान्त सर्व-प्रधान व विशेष महत्त्व का है। इसी कारण राज-

१. 'द्वयोस्तु व्यसने तुल्ये विशेषो गुणतः क्षयात्।
शेषप्रकृतिसाद्गुण्यं यदि स्यान्नाभिधेयकम्॥
शेषप्रकृतिनाशस्तु यत्रैक व्यसनाद्भवेत्।
व्यसनं तद्गरीयस्स्यात् प्रधानस्येव तस्य वा॥' कौ० अर्थ० ८।१
२. 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः।' कौ० अर्थ० ८।२

नीतिशास्त्र (Political Science) को भी उन्होंने 'दण्ड नीति' नाम दिया है। राजा राज्य का शासन इसीलिए करता है, क्योंकि 'दण्ड' का प्रयोग उसमें निहित है। प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं का दण्ड से क्या अभिप्राय था, इस विषय पर इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में संक्षेप से विचार किया जा चुका है। पर इसके अधिक विवेचन की आवश्यकता है, क्योंकि दण्ड के सिद्धान्त पर ही भारत के राजनीति-सम्बन्धी प्राचीन विचार आश्रित हैं।

महाभारत (शान्तिपर्व) के अनुसार 'दण्ड' उस मर्यादा का नाम है, जो मनुष्यों में असंमोह (अव्यवस्था के निवारण) व अर्थ (धन सम्पत्ति व मनुष्यों द्वारा आबाद पृथिवी) के संरक्षण के लिए स्थापित की गई है।[1] दण्ड द्वारा ही प्रजा का शासन होता है, दण्ड द्वारा ही सबकी रक्षा होती है। जब सब सो रहे होते हैं, तब दण्ड ही जागता है; इसी कारण समझदार लोग दण्ड को ही धर्म मानते हैं।[2] सजा (Punishment) के लिए भारत के प्राचीन विचारों ने दण्ड शब्द का उपयोग नहीं किया है। उनके अनुसार दण्ड उस मर्यादा का नाम है, जिसके द्वारा मनुष्योंके कार्य नियन्त्रित होते हैं। जब राज्यसंस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, अराजक दशा थी, तो मनुष्य जो चाहे कर सकता था। तब वह किसी मर्यादा के अधीन नहीं था। वह दशा अत्यन्त भयंकर थी। अराजक दशा का जो वर्णन महाभारत, रामायण आदि में किया गया है, उसे हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं। इस दशा में किसी भी व्यक्ति का जीवन व धन सुरक्षित नहीं थे। इसीलिए 'दण्ड' का प्रादुर्भाव किया गया, और दण्ड के प्रयोग का अधिकार राजा को दिया गया। अराजक दशा को दूर करने के लिए ब्रह्मा द्वारा दण्ड का ही उत्पत्ति की गई थी, और दण्ड क्या है इसका प्रतिपादन करने के लिए दण्ड-नीति शास्त्र की। राजा को इसी दंडनीति अनुसार शासन करना है। प्रधानता दण्ड या दण्डनीति की ही है। यदि कोई राजा दण्डनीति का उल्लंघन करे, तो उसे अपने पद से च्युत कर देना आवश्यक है। राजा एक पद है, इस पद के कतिपय निश्चित कर्तव्य हैं। जो उन कर्तव्यों को न करे, वह अपने पद पर कैसे रह सकता है? इसी कारण महाभारत में लिखा गया है, कि राजा वेन को ऋषियों ने मन्त्रपूत कुशाओं से मार दिया था।[3] राजा वेन अपने दण्ड-धर्म का पालन सुचारु रूप से नहीं करता था, अतः वह राजा के पद पर नहीं रह सकता था। प्राचीन राज्यशास्त्र-प्रणेताओं का यही केन्द्रीय सिद्धान्त है, कि मानव-समाज में कर्तव्य-अकर्तव्य, गम्य-अगम्य, धर्म-अधर्म की जो मर्यादा है, जिस द्वारा मनुष्यों की स्वेच्छाचारिता नियन्त्रित होती है, उसी को

१. 'असंमोहाय मर्त्यानामर्थ संरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशांपते॥' महा० शान्ति० १५।१०

२. 'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥' महा० शान्ति० १५।२

३. महा० शान्ति० ५६।६४

दण्ड कहते हैं। जिस प्रकार अन्य सब मनुष्य इस दण्ड के अधीन हैं, वैसे ही राजा व उसके कर्मचारी भी इसकी अधीनता में रहते हुए ही अपने कार्यों को सम्पादित करते हैं। सर्वोपरि (Sovereign) दण्ड है, राजा नहीं, क्यों वह भी दण्ड के अधीन है। कामन्दक और शुक्र ने दण्ड के लिए मर्यादा के स्थान पर 'दम' शब्द का प्रयोग किया है,[1] जिसका अर्थ दमन या नियन्त्रण है। दमन रूप या मर्यादा रूप इस दण्ड की ही समाज व राज्यसंस्था में प्रमुखता है।

इसी कारण प्राचीन नीतिग्रन्थों में दण्ड के माहात्म्य का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है। महाभारत के अनुसार धर्म और अर्थ की रक्षा दण्ड द्वारा ही होती है, और धर्म, अर्थ व काम रूप जो त्रिवर्ग है, उसकी रक्षा दण्ड के कारण ही सम्भव है।[2] सब प्राणियों की रक्षा के लिए ईश्वर ने ब्रह्मतेजमय दण्ड का सृजन किया था। जहाँ यह श्याम रंग और लाल आँखों वाला दण्ड प्रयुक्त हो रहा होता है, वहाँ जनता में संमोह उत्पन्न नहीं होता।[3] यदि राजा इस दण्ड का सम्यक् प्रकार से प्रयोग करे, तो वह स्वर्ग को प्राप्त करता है। पर यदि वह स्वेच्छापूर्वक इसका प्रयोग करने लगे, तो दण्ड द्वारा ही उसका विनाश हो जाता है।[4]

यदि राजा दण्ड का धारण भलीभाँति सोच समझ कर करे, तो वह सम्पूर्ण प्रजा का रंजन करने में समर्थ होता है। अन्यथा उस द्वारा सर्वत्र नाश हो जाता है।[5] जो यह संसार सुख भोग में तत्पर है, उसका कारण दण्ड ही है। दण्ड के अभाव में भी जो मर्यादा में रहे, ऐसे 'शुचि' मनुष्य कठिनता से ही कहीं होते हैं।[6] यदि दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग न हो, तो सारे बाँध (मर्यादाएँ) टूट जायँ, सब वर्ण दूषित हो जायँ, और सब लोक प्रकुपित हो जायँ।[7] यदि संसार में दण्ड न रहे, तो सब प्रजाओं का नाश हो जाए। बलवान् दुर्बलों को उसी प्रकार से खाने लगें, जैसे

---

१. 'दमो दण्ड इति प्रोक्तस्तात्स्थ्यात् दण्डो महीपतिः।
तस्य नीतिर्दण्डनीतिः नयनीन्नोतिरुच्यते ॥' कामन्दक २।१५, शुक्र० १।१५७

२. 'दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥' महा० शान्ति० १५।३

३. 'यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥' महा० शान्ति० १५।४३

४. 'तं राजा प्रणयन्सम्यक् स्वर्गायाभिप्रवर्तते।
कामात्मविषयी क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥' महा० शान्ति० १४।४५

५. 'सुसमीक्ष्य धृतो दण्डः सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥' महा० शान्ति० १४।३७

६. 'सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः।
दण्डस्य हि भयाद्भीतो भोगायैव प्रकल्पते ॥' महा० शान्ति० १५।३४

७. 'दूष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥' महा० शान्ति० १४।४२

जल में मछलियाँ मछलियों को खाती हैं।[1] यदि साधु और असाधु में भेद करने वाला दण्ड न रहे, तो सर्वत्र अन्धकार छा जाए; किसी को कुछ सूझ न पड़े।[2]

जब दण्ड का अभाव था, तो जनता में संकट उत्पन्न हो गया था। क्या कार्य है और क्या अकार्य, क्या भोज्य है और क्या अभोज्य, क्या पेय है और क्या अपेय— इसका विवेक ही तब नहीं रहा था। क्या अपना है, किस पर अपना स्वत्व है और कौन वस्तु दूसरे की है, क्या गम्य है और क्या अगम्य—यह भेद भी तब नहीं रहा था। उस समय सब लोग एक-दूसरे की हिंसा में तत्पर हो गये थे। जैसे कुत्ते मांस पर झपटते हैं, वैसे ही तब लोग एक-दूसरे पर झपटने लगे थे। बलवान निर्बलों को मारने लगे थे, और किसी ढंग की कोई भी मर्यादा नहीं रही थी।[3] इस दशा में भगवान् ने संसार के धारण और लोकसंकट के विनाश के लिए दण्ड को उत्पन्न किया। यह दण्ड ही धर्म है, और यही व्यवहार है।[4] राजा को इसी धर्मरूप दण्ड के अनुसार प्रजा का शासन करना है। दण्ड का तेज सुमहान् होता है। उसे वह व्यक्ति धारण नहीं कर सकता, जो कृतात्मा (आत्मविजयी) न हो। धर्मरूपी दण्ड से जो राजा विचलित होता है, बन्धु बान्धवों के साथ उसका विनाश हो जाता है।[5] दण्ड का नयन ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता, जो मूढ हो, असहाय हो, लोभी हो, बुद्धिमान न हो, और विषयों का सेवी हो। केवल शुचि, सत्यसन्ध, बुद्धिमान, सुसहायवान् और नीतिशास्त्र का अनुसरण करने वाला मनुष्य ही दण्ड का प्रयोग करने में समर्थ हो सकता है।[6] महाभारत के ये संदर्भ सर्वथा स्पष्ट हैं। वस्तुतः, राज्यसंस्था में दण्ड ही सर्वप्रधान है। वही वह सर्वोपरि शक्ति है, जिस द्वारा अराजक दशा का अन्त होकर राज्य-संस्था का प्रादुर्भाव होता है। राजा का महत्त्व केवल इस कारण है, क्योंकि वह दण्ड का प्रयोक्ता है। पर सब कोई दण्ड का प्रयोग नहीं कर सकते। उसे प्रयुक्त

---

१. 'यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥' महा० शान्ति० १४।३८

२. 'अन्धंतम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥' महा० शान्ति० १५।३२

३. तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजानां संकरोऽभवत्। नैव कार्यं न वाकार्यं भोज्याभोज्यं च विद्यते ॥
पेयापेये कुतः सिद्धिर्हिंसन्ति च परस्परम्। गम्यागम्यं तदा नासीत्स्वं परस्वं च वै समम् ॥
परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथाऽमिषम्। अबलान्बलिनो जघ्नुर्निर्मर्यादं प्रवर्तते।'
महा० शान्ति० १२२।१९-२२

४. महा० शान्ति० १२१।८-१३

५. 'दण्डो हि सुमहा तेजा दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥' महा० शान्ति० १४।४६

६. 'सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना। अशक्यो न्यायतो नेतुं विषयांश्चैव सेवता ॥
शुचिना सत्यसन्धेन नीतिशास्त्रानुसारिणा। दण्डः प्रणेतुं शक्यो हि सुसहायेन धीमता ॥'
महा० शान्ति० १४।४८-४९

करने के लिए मनुष्य में विशेष योग्यता का होना अनिवार्य है। यदि राजा में यह योग्यता व क्षमता न हो, तो वह अपने पद पर कदापि नहीं रह सकता। क्योंकि कोई व्यक्ति किसी विशेष वंश में उत्पन्न हुआ है या किसी राजा का पुत्र है—इसी कारण वह दण्ड के धारण का अधिकारी नहीं हो जाता। जो कोई राजा इस धर्मरूप दण्ड का पालन न करे, उसकी हत्या में कोई भी दोष नहीं है। छल, माया व क्षत्रधर्म किसी भी प्रकार से उसका वध दोषयुक्त नहीं माना जा सकता।[1]

कौटलीय अर्थशास्त्र में भी यही विचार विद्यमान हैं। वहाँ लिखा है—'दण्ड का प्रयोग यथायोग्य रूप से ही करना चाहिए। यदि दण्ड का प्रयोग सही तरीके से किया जाए, तो वह जनता को धर्म, अर्थ और काम में योजित करता है। यदि काम, क्रोध व अज्ञान के कारण उस (राजशक्ति) का दुरुपयोग किया जाए, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक भी कुपित हो जाते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या? यदि दण्ड का प्रयोग किया ही न जाए, तो मात्स्य-न्याय उत्पन्न हो जाता है। दण्डधर के अभाव में बलवान बलहीनों को ग्रसने लगते हैं।[2]

दण्ड के स्वरूप व महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले जो श्लोक हमने महाभारत से उद्धृत किये हैं, उनमें से अनेक मनुस्मृति व अन्य नीति-ग्रंथों में भी पाये जाते हैं।[3] वस्तुतः, दंड का सिद्धान्त ऐसा है, जो भारत के सभी प्राचीन राजशास्त्र-प्रणेताओं को मान्य था। यह सिद्धान्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों का आधार है, और इसे भलीभाँति समझकर ही राजा व अन्य प्रकृतियों के स्वरूप व स्थिति को जाना जा सकता है। दण्डशक्ति का प्रयोग करने की उत्तरदायिता जिस व्यक्ति की हो, उसी को राज्य की सात प्रकृतियों (अंगों) में स्वामी (राजा) कहा जाता था। राज्यों के शासन का स्वरूप प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न प्रकार का था। गणतन्त्र राज्यों के अधिपति राजा के अतिरिक्त अन्य नामों से भी कहे जाते थे। इसीलिए दण्ड के प्रयोक्ता के सम्बन्ध में कहा गया है, कि यह एक (दण्ड का प्रयोक्ता) ही राजा, भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है।[4]

(३) स्वधर्म का सिद्धान्त

प्राचीन राजधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों में प्रतिपादित स्वधर्म का सिद्धान्त भी बड़े

१. 'तन्निहत्य न दोषस्ते स्वल्पोऽपि जगतीपते।
छलेन मायया वाऽथ क्षत्रधर्मेण वा नृप ॥' महा० शान्ति० १४।५५

२. 'यथार्थ दण्डः पूज्यः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति। दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थ परिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे।' कौ० अर्थ० १।३

३. मनुस्मृति ७।१७-१९, २४-२८, ३०-३१

४. 'राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥' महा० शान्ति० ६८।५४

महत्त्व का है। भारतीय विचार सरणी के अनुसार मानव समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जिस प्रकार समाज चार वर्णों में विभक्त है, वैसे ही मानव-जीवन के भी चार भाग हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इन चार भागों को चार आश्रमों का नाम दिया गया है। प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम के अपने-अपने धर्म (कर्तव्य) हैं। ब्राह्मण का स्वधर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना और कराना, दान लेना और देना है। क्षत्रिय का स्वधर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्र धारण करना और प्राणियों की रक्षा करना है। वैश्य का स्वधर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना और कृषि, पशुपालन व वाणिज्य द्वारा धन उपार्जन करना है। शूद्र का स्वधर्म द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना, वार्ता (कृषि, पशुपालन व वाणिज्य) और शिल्पी व कुशीलव कार्य से आजीविका कमाना है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य का स्वधर्म है, स्वाध्याय, अग्नि का आधान कर उसमें आहुति देना, भिक्षा द्वारा निर्वाह करना और अपने जीवन को खतरे में डालकर भी अपने आचार्य की सेवा करना व उसके प्रति भक्ति रखना। गृहस्थ का स्वधर्म है—अपने कर्म द्वारा आजीविका कमाना, भिन्न गोत्र में पर अपने समकक्ष कुल में विवाह करना, अपनी पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन बिताना, देव, पितर, अतिथि व भृत्यों का पोषण और उनको भोजन कराके जो शेष बचे उसको खाना। वानप्रस्थ का स्वधर्म है—ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना, जमीन पर सोना, जटा और मृगचर्म का धारण करना, अग्न्याधान करके यज्ञ करना, देवता, पितर व अतिथियों की पूजा और वन्य पदार्थों का भोजन करना। परिव्राजक (संन्यासी) का स्वधर्म है—इन्द्रियों को संयत रखना, किसी नये कर्म को न करना, कोई धनसम्पत्ति न रखना, दूसरों के संग का त्याग, अनेक स्थानों से भिक्षा माँगकर खाना, जंगल में निवास करना और बाह्य व आभ्यन्तर—दोनों प्रकार की पवित्रता।[1] सभी नीति ग्रन्थों व स्मृतियों में वर्णों और आश्रमों के धर्म प्रायः इसी ढंग से लिखे गए हैं, यद्यपि देश और काल के अनुसार उनमें थोड़ा-बहुत भेद भी है। कौटलीय अर्थशास्त्र में वर्णों के धर्म जिस प्रकार लिखे गये हैं, वे वास्तविकता के अधिक समीप हैं। अतः हमने उन्हें ही यहाँ उद्धृत किया है।

वर्णों और आश्रमों के स्वधर्मों का निरूपण करके कौटल्य ने लिखा है—'स्वधर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष के लिए होता है। यदि स्वधर्म का उल्लंघन किया जाए, तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी और लोक (समाज) नष्ट हो जायगा। अतः राजा का कर्तव्य है, कि वह मनुष्यों को स्वधर्म का अतिक्रमण न कर दे। जो राजा स्वधर्म को कायम रखता है, वह इहलोक और परलोक में प्रशंसा प्राप्त करता है। आर्य मर्यादा के व्यवस्थित होने पर और वर्णों व आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थित कर

१. कौ० अर्थ० १।३

देने पर त्रयी (वेद) द्वारा रक्षित यह लोक सदा उन्नति ही करता है, अवनति नहीं।'[१] कौटल्य के अनुसार राजा का यह अनिवार्य कर्तव्य है, कि वह सबको अपने स्वधर्म पर स्थिर रखे, क्योंकि समाज व राज्य की उन्नति इसी पर निर्भर है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है—'राजा चारों वर्णों को स्वधर्म में स्थापित करे। यदि कोई स्वधर्म का अतिक्रमण करे, तो उसके प्रति दण्ड का प्रयोग किया जाए।'[२] कामन्दक नीतिसार में इसी बात को इस ढंग से कहा गया है—'सब वर्णों व आश्रमों के ये धर्म स्वर्ग व मोक्ष के लिए हैं। इनके अभाव में संकट उत्पन्न हो जायगा, जिसके कारण यह लोक (समाज) नाश को प्राप्त हो जायगा। सबको न्याय-पूर्वक स्वधर्म में प्रवृत्त करना राजा का ही कार्य है। अन्यथा धर्म का नाश होकर जगत् की च्युति हो जायगी।'[३] महाभारत में स्वधर्म के सिद्धान्त का बड़े विशद रूप से निरूपण किया गया है। वहाँ लिखा है—'राजा को चाहिए कि चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करे। धर्म संकट (दूसरे के धर्म का अनुसरण करना) से रक्षा करना राजा का सनातन धर्म है।'[४] 'जो भी कोई मनुष्य धर्म से विचलित हो, उसका अपने बाहुबल से निग्रह करना (राजा का) कर्तव्य है, क्योंकि इसीसे शाश्वत धर्म की रक्षा सम्भव है।'[५]

मानव-समाज की स्थिति व कल्याण के लिए सब का अपने-अपने 'स्वधर्म' में स्थिर रहना अनिवार्य है, यह प्रतिपादित करके महाभारत ने यह लिखा है कि मनुष्यों को स्वधर्म में स्थापित रखना दण्डशक्ति के बिना सम्भव नहीं है। शुक्रनीतिसार में इस विचार को इस ढंग से प्रगट किया गया है 'राजदण्ड के भय से सब लोग अपने-अपने धर्म में स्थिर रहते हैं। स्वधर्म ही सब से उत्कृष्ट तप है। दण्ड द्वारा ही स्वधर्म-रूप तप की वृद्धि होती है। अतः राजा को चाहिये, कि प्रजा को स्वधर्म में निरत करे।

१. 'स्वधर्मस्स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकस्संस्करादुच्छिद्येत।
तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥
व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥' कौ० अर्थ० २।३

२. 'राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्। तेष्वपचरत्सु दण्डं धारयेत्।'

३. 'स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं सर्वेषां वर्णलिंगिनाम्।
अस्याभावे तु लोकोऽयं संकरान्नाशमाप्नुयात्॥
सर्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः सम्प्रवर्तकः।
तस्याभावे धर्मनाशस्तदभावे जगच्च्युतिः॥' कामंदक २।४।३३-३४

४. 'चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः॥' महा० शान्ति० ५६।१५

५. 'यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता॥' महा० शान्ति० ५८।११४

स्वधर्म में निरत करके ही तेज प्राप्त होता है, अन्यथा क्षय निश्चित है।[1]

भारत के प्राचीन राजशास्त्री स्वधर्म के सिद्धान्त को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। इसका कारण यह था, कि वे व्यक्ति की सत्ता को राज्य के लिए मानते थे। राज्य व समाज उनकी दृष्टि में साधन था, साध्य नहीं। मनुष्य समाज का एक अंग है। अंग की सत्ता शरीर के लिए होती है, शरीर अंग के लिए नहीं होता। राज्य को एक शरीर (Organism) मानने का यह स्वाभाविक परिणाम था, कि वे राज्य के सम्मुख व्यक्ति को कोई महत्त्व नहीं देते थे। राज्य का उत्कर्ष व कल्याण इसी बात में था, कि प्रत्येक मनुष्य अपने वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म का पालन करे। अन्यथा संकट (उच्छृं-खलता) की दशा उत्पन्न हो जायगी, और कोई मर्यादा स्थापित नहीं रह सकेगी। मनुष्य जो चाहे कर सके, उसे कर्म के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो, यह मत उन्हें स्वीकार्य नहीं था। वे यह मानते थे, कि स्वधर्म का पालन न केवल इस संसार के सुख व समृद्धि के लिए आवश्यक है, अपितु स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी स्वधर्म के पालन द्वारा ही सम्भव है। शूद्र व अन्त्यज तक स्वधर्म का पालन करते हुए स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं, यह विचार उन्होंने इसी कारण प्रगट किया था कि किसी को अपनी स्थिति से असन्तोष न हो।

(४) राजा की स्थिति और कर्तव्य

सप्ताङ्ग राज्य में मूर्धन्य स्थान राजा का था। भारतीय इतिहास के विविध युगों में राजा की क्या स्थिति थी, इस विषय पर हम प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था का निरूपण करते हुए प्रकाश डाल चुके हैं। पर प्राचीन नीतिग्रन्थों में राजा की स्थिति व कर्तव्यों के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये गये हैं, उन पर पृथक् रूप से विचार करना भी उपयोगी होगा।

यह तो स्पष्ट ही है, कि प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में राज्यसंस्था के लिए राजा का महत्त्व बहुत अधिक था। क्योंकि वे यह मानते थे, कि दण्ड की मर्यादा के बिना समाज व राज्य की सत्ता सम्भव नहीं है, अतः वे यह भी समझते थे कि दण्ड का धारण करने वाला भी कोई होना चाहिए। पर उन्हें यह कल्पना सह्य नहीं थी, कि राजा स्वेच्छाचारी व निरंकुश रूप से राज्य का शासन करे। इसीलिये वे राजा को भी दण्ड के अधीन मानते थे। राज्याभिषेक के समय राजा के लिये यह प्रतिज्ञा करना आवश्यक था, कि दण्डनीति में धर्म का जिस प्रकार प्रतिपादन किया गया है, उसका मैं अशंक रूप से पालन करूँगा, और कभी स्ववश (स्वेच्छाचारी)

---

१. राजदण्ड भयाल्लोकः स्वस्वधर्म परो भवेत्।
बिना स्वधर्मान्न सुखं स्वधर्मो हि परं तपः॥
सुदण्डैर्धर्मे निरताः प्रजाः कुर्यान्महाभयैः।
नृपः स्वधर्मनिरतो भूत्वा तेजः क्षयोऽन्यथा॥ शुक्रनीति १।२३-२५

नहीं होऊँगा।[१] प्राचीन राजशास्त्रियों का मत था—'राजा प्रजा का प्रथम शरीर है, तो प्रजा भी राजा के अप्रतिम (अनुपम) शरीर हैं। राजा के बिना देश (राज्य) नहीं होता, और देश के बिना राजा नहीं होता।'[२] इसका अभिप्राय यही है, कि राजा और राज्य की सत्ता एक-दूसरे पर निर्भर होती है। जितना महत्त्व राजा का है, उतना ही राज्य व प्रजा का भी है। पर राजा को प्रजा का शासन स्ववश होकर नहीं करना है। उसे चाहिए, कि वह दम, सत्य और सुहृद् भाव से प्रजा का शासन करे।[३] राजा का सुख प्रजा के सुख में ही है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है। जो अपने को प्रिय हो, उसे करने में राजा का हित नहीं है। अपितु प्रजा को जो प्रिय हो उसे करने में ही राजा का हित है—यह सिद्धान्त प्राचीन भारत में सर्वमान्य था।[४] पर इस सिद्धान्त के सर्वमान्य होते हुए भी भारत के प्राचीन राजशास्त्री राज्य के सम्बन्ध में राजा के कर्तृत्व को बहुत महत्त्व देते थे। महाभारत में इस प्रश्न पर विचार किया गया है, कि राजा काल का कारण है, या काल राजा का कारण है। इस सम्बन्ध में भीष्म का मत है, कि इस विषय में संशय करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है।[५] राजा यदि राजधर्म का भली भाँति पालन करेगा, सब को स्वधर्म में स्थित रखेगा, तो वह स्वयं काल का निर्माण कर सकेगा। जब राजा पूर्णरूप से दण्डनीति का प्रयोग करता है, तभी कृत युग (सत युग) होता है। उस समय अधर्म का सर्वथा अभाव होता है, और सब कोई अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं।[६] जब राजा दण्डनीति के केवल तीन चौथाई अंश का पालन करता है, तो त्रेता युग होता है। दण्डनीति का आधा अंश प्रयुक्त करने पर द्वापर युग और उसका पूर्ण रूप से परित्याग करने पर कलियुग हो जाता है।[७] राजा ही सत युग का स्रष्टा है, और राजा ही त्रेता, द्वापर और कलियुगों का कारण है।'[८] यह

१. 'पश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशे न कदाचन॥' महा० शान्ति० ५८।११६

२. 'राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवति देशाःदेशैर्विहीना न नृपाः भवति॥ महा० शान्ति० ६७।५६

३. 'नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं दमेन सत्येन च सौहृदेन।' महा० शान्ति० ६७।६०

४. 'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियम् हितम्॥' कौ० अर्थ० १।१९

५. 'कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥' महा० शान्ति० ६९।६

६. 'दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तते॥' महा० शान्ति० ६९।७

७. महा० शान्ति० ६९।१४-२४

८. 'राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥ महा० शान्ति० ६९।२५

स्वाभाविक भी है, क्योंकि दण्ड रूपी मर्यादा का प्रजाजन से पालन कराना राजा का ही कार्य है।

राज्य संस्था में जिस राजा का इतना अधिक महत्त्व है, उसका आदर्श व गुण-सम्पन्न होना भी परम आवश्यक है। इसीलिए कौटलीय अर्थशास्त्र में राजा के लिए इन गुणों का प्रतिपादन किया गया है—'वह अत्यन्त उच्च कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वह वृद्धजनों (Elders) की बात सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करने वाला हो, परस्पर विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, उसमें अत्यधिक उत्साह हो, वह दीर्घसूत्री न हो, सामन्तों को वश में रखने में समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो और वह विनय (नियन्त्रण) में रहने वाला हो'[1] साथ ही, राजा में जानने की इच्छा, दूसरों की बात को सुनना, सुनकर बात को ग्रहण व धारण करना, विचारशीलता, ऊहापोह और सार रूप परिणाम पर दृढ़ता—ये गुण भी होने चाहिएँ। शौर्य, अमर्ष, निर्णय व कार्य में शीघ्रता और दक्षता—ये गुण भी राजा के लिए आवश्यक हैं।[2] कौटल्य के अनुसार राजा का पद बड़े महत्त्व का है। अतः राजा को एक राजर्षि व पूर्ण पुरुष बनने का यत्न करना चाहिए। इन्द्रियों का विजय, काम, क्रोध, लोभ, मान, भय आदि का त्याग और शास्त्र के अभिप्राय को क्रियान्वित करना उसके लिए अनिवार्य है। राजा के लिए इन्द्रियों का जय ही सकल शास्त्र है।[3] जो राजा इन्द्रियजयी नहीं होगा, वह चाहे, चक्रवर्ती भी क्यों न हो, शीघ्र ही उसका विनाश हो जायगा। कौटल्य ने इस तथ्य को प्रतिपादित करने के लिए अनेक उदाहरण भी दिये हैं। दाण्डक्य नाम का भोज, और वैदेह कराल काम के वशीभूत होकर ब्राह्मण की कन्या का अपहरण करने के लिए प्रवृत्त हुए, इसी कारण बन्धु-बान्धवों सहित उनका विनाश हो गया। कोप के कारण जनमेजय और तालजङ्घ विनष्ट हो गये। राजा ऐल और सौवीर अजबिन्दु ने लोभ के वशीभूत होकर चारों वर्णों को अत्यधिक करों से पीड़ित किया, इसी कारण उनका नाश हो गया। मद के कारण हैहय अर्जुन और हर्ष के कारण वातापि व द्वैपायन का नाश हुआ।[4] इन उदाहरणों को देकर कौटल्य ने लिखा है—'ये व अन्य बहुत से राजा बन्धुओं और राष्ट्र के साथ इस कारण विनष्ट हो गये, क्योंकि वे (काम, क्रोध आदि) छः शत्रुओं से आक्रान्त थे और इन्द्रियगामी नहीं थे। इसके विपरीत जामदग्न्य और नाभाग अम्बरीष चिरकाल तक पृथिवी का भोग करते रहे, क्योंकि उन्होंने छः शत्रुओं

---

१. कौ० अर्थ० ६।१
२. 'शुश्रूषा श्रवणग्रहण धारण विज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः। शौर्यममर्षः शीघ्रता दाक्ष्यं चोत्साह गुणाः।' कौ० अर्थ० ६।१
३. 'कृत्स्नं हि शास्त्रमिन्द्रियजयः।' कौ० अर्थ० १।३
४. कौ० अर्थ० १।३

को वश में कर लिया था और वे इन्द्रियजयी थे।[१]

कौटल्य के अनुसार राजा के लिए यह आवश्यक है, कि वह इन्द्रियों को वश में करे, परस्त्री और दूसरों के धन की ओर आँख न उठाये, स्वप्न में भी लालच न करे, असत्य भाषण न करे, उद्धत न हो, और बुराई के साथ संयोग से बचे। कोई ऐसा व्यवहार न करे, जो अधर्म और अनर्थ से संयुक्त हो। राजा की कामनाएँ ऐसी होनी चाहिएँ, जो धर्म और अर्थ की विरोधी न हों। पर उसका जीवन सुख से विहीन भी नहीं होना चाहिए। (धर्म, अर्थ और काम का) जो त्रिवर्ग है, उसका समरूप से उसे सेवन करना चाहिए, क्योंकि ये तीनों एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। यदि धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक का अत्यधिक सेवन किया जाए, तो इस कारण न केवल उस एक को (जिसका अत्यधिक सेवन किया जाए) क्षति पहुँचती है, अपितु अन्य दो की भी हानि होती है। वस्तुतः (त्रिवर्ग में) अर्थ ही प्रधान है। धर्म और काम का मूल अर्थ में ही है।[२] इन संदर्भों में चाणक्य ने राजा को इन्द्रियजयी होने और मर्यादित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया है। दण्डशक्ति के प्रयोग और सबको स्वधर्म में स्थापित रखने के जो महत्त्वपूर्ण कार्य राजा के सुपुर्द हैं, उन्हें वह तभी सम्पन्न कर सकता है, जबकि वह इन्द्रियजयी होकर मर्यादित जीवन बिताये। क्योंकि राज्य में राजा कूटस्थानीय होता है, और दण्डशक्ति का प्रयोग उसी में निहित है, अतः यह स्वाभाविक है कि यदि राजा उत्थानशील हो, तो उसके कर्मचारी भी उत्थानशील होते हैं। यदि वह स्वयं प्रमादी हो, तो उसके कर्मचारी भी प्रमादी बन जाते हैं।[३] कौटल्य ने बड़े विस्तार के साथ यह प्रतिपादित किया है, कि राजा के समय का एक-एक क्षण किस प्रकार व्यतीत होना चाहिए। रात और दिन को आठ-आठ घण्टों में विभक्त कर (कौटल्य का एक घण्टा वर्तमान समय के डेढ़ घण्टे के बराबर है) उनका उपयोग किस प्रकार किया जाए, इस सम्बन्ध में ये विचार महत्त्व के हैं—दिन का प्रथम भाग (डेढ़ घण्टा) देश की रक्षा की व्यवस्था में और आय-व्यय को सुनने में लगाया जाए। दूसरे भाग में पौर-जानपदों के काम देखे जाएँ। तीसरे भाग का उपयोग स्नान, भोजन और स्वाध्याय में किया जाए। चौथे भाग में विविध अध्यक्षों से मुला-

१. 'एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ।
सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः ॥
शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः ।
अम्बरीशश्च नाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ॥' कौ० अर्थ० १।६

२. 'एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसां च वर्जयेत्, स्वप्नलौल्यमनृतमुद्धतवेषत्वमनर्थसंयोगं च। अधर्मसंयुक्तमनर्थसंयुक्तं च व्यवहारम्। धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति। 'अर्थ एव प्रधानः' इति कौटल्यः—अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।' कौ० अर्थ० १।७

३. 'राजानमुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते भृत्याः। प्रमाद्यन्तमनुप्रमाद्यन्ति। तस्मादुत्थानमात्मनः कुर्वीत।' कौ० अर्थ० १।१९

कात की जाए। पाँचवें भाग में मन्त्रिपरिषद् से परामर्श व गुप्तचरों से बातचीत की जाए। छठे भाग में स्वेच्छापूर्वक आमोद-प्रमोद किया जाए, या इस काल को भी राज्य-विषयक विचार-विमर्श में लगाया जाए। सातवें भाग में सेना व अस्त्र-शस्त्र का निरीक्षण किया जाए; और आठवें भाग में सेनापति के साथ मिलकर युद्ध-सम्बन्धी विचार किया जाए। दिन के समाप्त होने पर सन्ध्या की जाए। रात्रि के प्रथम भाग में गूढ़ पुरुषों (गुप्तचरों) से मिला जाए। दूसरे भाग में स्नान, भोजन व स्वाध्याय किया जाए। तीसरे भाग में तूर्य के घोष के साथ शयन के लिए जाए, और चौथे व पाँचवें भाग में शयन करे। छठे भाग में तूर्य घोष के साथ जागकर शास्त्र और कर्तव्यों का चिन्तन करे। सातवें भाग में राजकीय विषयों पर विचार-विमर्श व गूढ़ पुरुषों से मुलाकात करे। आठवें भाग में ऋत्विक्, आचार्य आदि के साथ स्वस्ति-वाचन आदि धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करे।[1]

कौटल्य ने राजा के लिए दिन और रात का जो समय विभाग नियत किया है, उसमें शयन के लिए केवल चार घण्टे के लगभग समय रखा गया है। भोजन, स्नान, नित्यकर्म आदि के लिए भी केवल तीन घण्टे रखे गये हैं, जिसमें भी उसे आवश्यकता के अनुसार स्वाध्याय व विचार विमर्श करना है। उसका शेष सब समय राज्य-कार्य में व्यतीत होना है। आमोद-प्रमोद के लिए जो डेढ़ घण्टे का समय रखा गया है, उसमें भी उसे राजकीय विषयों पर विचारविमर्श करना है। राजा को अपना कार्य कर्मचारियों पर नहीं छोड़ देना चाहिये, उसे यह व्यवस्था करनी चाहिए कि जो कार्यार्थी उससे मिलना चाहें उन्हें प्रतीक्षा न करनी पड़े। जो राजा अपना कार्य दूसरों पर छोड़ देता है, और स्वयं कार्य के लिए तत्पर नहीं रहता, उसके कार्य और अकार्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। उससे जनता में कोप पैदा हो जाता है, और वह राजा सुगमता से शत्रुओं के वश में चला जाता है।[2] जो कार्य आत्ययिक (Urgent) हों, उन पर तुरन्त ध्यान दिया जाय, उन पर विचार व निर्णय को स्थगित कर देने का यह परिणाम होगा, कि वे बाद में कष्टसाध्य या असाध्य हो जाएँगे।[3] राजा के लिए यह आवश्यक है, कि वह सदा उत्थानशील होकर राज्यकार्यों का अनुशासन करे, क्योंकि उत्थान ही अर्थ का मूल है, ऐसा न करने पर अनर्थ अवश्यम्भावी है। उत्थानशील रहने पर कार्य का फल और अर्थसम्पदा की प्राप्ति होती है। उत्थानशील न होने पर जो-कुछ

१. कौ० अर्थ० १।१६

२. उपस्थानगतः कार्यार्थिनामद्वारासंगं कारयेत्। दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्य विपर्यासमासन्नैः कार्यते। तेन प्रकृतिकोपमरिवशं व गच्छेत्।' कौ० अर्थ० १।१६

३. 'सर्वमात्ययिकं कार्यं शृणुयान्नातिपातयेत्।
कृच्छ्रसाध्यमतिक्रान्तमसाध्यं वा विजायते ॥' कौ० अर्थ० १।१६

प्राप्त होना है, उसका विनाश निश्चित समझना चाहिये।[1] जो राजा विद्या (दण्डनीति) द्वारा स्वयं नियन्त्रित होकर प्रजा को भी नियन्त्रित रखने में तत्पर होता है, वह सब के हित में रत रह कर अनन्यरूप से पृथिवी का भोग करता है।[2] कौटल्य के इन मन्तव्यों पर किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। कौटल्य के अर्थशास्त्र में राजा के स्वरूप का जिस ढंग से प्रतिपादन किया गया है, उसके अनुसार वह कभी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। उसे स्वयं नियन्त्रण में रहना है, धर्म और व्यवहार का अनुसरण करना है, और प्रजा के हित में तत्पर रह कर ही राजपद के कर्तव्यों को निभाना है। अन्यथा, प्रकृतियाँ (अमात्य, पौर जनपद जन आदि) कुपित होकर उसके विरुद्ध उठ खड़े होंगे, और उसका विनाश हो जायगा।

मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों में भी राजा के लिए इन्द्रियजयी होना व नियन्त्रण में रहना आवश्यक माना गया है। मनु के अनुसार 'राजा को चाहिए कि वह रात-दिन इन्द्रियों के जय में तत्पर रहे। केवल जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रखने में समर्थ हो सकता है। दस व्यसन ऐसे हैं, जो कामवासना से उत्पन्न होते हैं, और आठ व्यसनों की उत्पत्ति क्रोध के कारण होती है। राजा को चाहिए, कि इन व्यसनों से प्रयत्नपूर्वक बचे। जो राजा कामवासना द्वारा उत्पन्न व्यसनों में फँस जाता है, धर्म और काम से उसका संयोग नहीं रहने पाता। क्रोध द्वारा उत्पन्न व्यसनों में फँस कर राजा अपने-आपको ही भूल जाता है।[3]

शुक्रनीतिसार में इसी विचार को इस ढंग से प्रकट किया गया है—'विषयरूपी आमिष के लोभ से मन इन्द्रियों को विषयासक्ति के लिए प्रेरित करता रहता है। राजा को चाहिए, कि वह प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों व मन को वश में करके जितेन्द्रिय बने। जो व्यक्ति एक मन को नियन्त्रित करने में अशक्त होगा, वह समुद्र पर्यन्त पृथिवी का शासन कैसे कर सकेगा?'[4] 'विषय तो विष के समान होते हैं। यदि एक इन्द्रिय

---

१. 'तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्।
अर्थस्य मूलमुत्थानं अनर्थस्य विपर्ययः॥
अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।
प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चार्थसम्पदम्॥' कौ० अर्थ० १।१८

२. 'विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः॥' कौ० अर्थ० १।२

३. 'इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्। जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥
दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च। व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः। वियुज्यतेऽर्थकामाभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥'
मनुस्मृति ७।४४-४६

४. 'विषयामिषलोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम्। तन्निरुन्ध्यात् प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः॥
एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निबर्हणे। महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति॥'
शुक्र १।९९-१००

का भी विषय लग जाय, तो वही विनाश के लिए पर्याप्त है, फिर पाँच इन्द्रियों की विषयासक्ति के हो जाने पर कैसे बचा जा सकता है।'[1] इस प्रसङ्ग में शुक्र ने भी अनेक उदाहरण दिये हैं, जिनके अनुसार युधिष्ठिर, नल, इन्द्र, दण्डक, नहुष, रावण आदि राजा द्यूत या स्त्री के व्यसन के कारण नष्ट हो गये।[2] शुक्र के अनुसार कोई व्यक्ति केवल इसी कारण राजा नहीं हो जाता, क्योंकि वह राजकीय यान पर आरूढ़ है, यदि एक कुत्ते को भी राजयान पर बिठा दिया जाय, तो क्या वह शानदार प्रतीत नहीं होता। इसीलिए तो विद्वान् लोग (कर्तव्य का पालन न करने वाले) राजा की उपमा कुत्ते से देते हैं। प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में राजा की वास्तविक स्थिति क्या थी, इससे यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। राजा वही है, जो इन्द्रियजयी होकर अपने कर्तव्यों का पालन करे, विवेकपूर्वक दण्डशक्ति का प्रयोग करे, सब को 'स्वधर्म' में स्थित रखे, और कभी स्ववश होकर कार्य न करे। केवल राजकीय वस्त्र पहनकर या राजकीय यान पर आरूढ़ हो जाने से ही कोई राजा नहीं हो जाता। भारत के प्राचीन विचारकों के अनुसार राजा के पद के साथ भोगविलास का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे स्वयं उत्थानशील व सच्चरित्र होकर दूसरों के सम्मुख आदर्श उपस्थित करना है। यदि अपने कार्य में वह जरा भी प्रमाद करेगा, या अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेगा, तो उसे सदा विद्रोह का भय बना रहेगा, जिस के कारण उसकी अपनी भी स्थिति सुरक्षित नहीं रह जायगी।

पर प्रश्न यह है, कि राजा को मर्यादा में रखने के लिए क्या उसका व्यक्तिगत रूप से उच्च चरित्र का होना ही पर्याप्त था? यह आवश्यक नहीं, कि सभी राजा कौटल्य के मन्तव्यों का अनुसरण कर राजर्षि व इन्द्रियजयी हों, और सदा उत्थानशील व अप्रमादी होकर कर्तव्यपालन में तत्पर रहें। राजा प्रजा से जो षड्भाग प्राप्त करता है, उसे वह अपने भोगविलास में भी खर्च कर सकता है। यह आवश्यक है, कि उसकी स्वेच्छाचारिता पर ऐसे अंकुश विद्यमान हों, जो उसे नियन्त्रण में रख सकें। प्राचीन नीतिग्रन्थों के अनुशीलन द्वारा इस सम्बन्ध में भी कतिपय निर्देश प्राप्त होते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार कुल राजकीय आमदनी का चौथाई भाग राजा को राजकर्मचारियों के वेतन पर खर्च करना चाहिए। उन्हें इतना वेतन अवश्य दिया जाना चाहिये, जिससे कि वे अपना भरण-पोषण भली भाँति कर सकें, और साथ ही

१. 'एकैकशो विनिघ्नन्ति विषया विषसन्निभाः।
किं पुनः पञ्चमिलिताः न कथं नाशयन्ति हि ॥ शुक्र १।१०८

२. धर्मपुत्रनलाद्यास्तु द्यूतेन विनाशिताः। सकापट्यं धनायालं द्यूतं भवति तद्विदाम् ॥
व्यायच्छन्त बहवः स्त्रीषु नाशं गता अमी। इन्द्रदण्डकनहुष रावणाद्याः सदा हताः ॥
शुक्र १।११०,११४

राजकार्य के प्रति उनका उत्साह भी बना रहे।[1] कौटल्य ने इसीलिए विविध राज-कर्मचारियों को उनकी योग्यता व कार्य के अनुसार प्रचुर वेतन देने का विधान किया है। राजा अपने निजी व्यय के लिए वेतन ही प्राप्त करता था। कौटल्य ने लिखा है, कि उसके बराबर विद्या वालों को जो वेतन दिया जाए, उससे तीन गुना वेतन राजा को दिया जाए।[2] युवराज, राजमाता और राजमहिषी को भी निश्चित वेतन देने की व्यवस्था कौटल्य ने की है। इनका वेतन ४००० पण मासिक नियत किया गया है, जो पुरोहित, मन्त्री व सेनापति वेतन बराबर है।[3] इससे स्पष्ट है, कि राजा व उसके परिवार के व्यक्ति राजकीय आमदनी का मनमाने तरीके से व्यय नहीं कर सकते थे, अन्य राजपदाधिकारियों के समान उनका वेतन भी निश्चित था। राजा जहाँ अपने व्यय के लिए वेतन प्राप्त करता था, वहाँ उसके कर्तव्य भी सुनिश्चित थे। वह मन्त्री, पुरोहित आदि विविध राजकर्मचारियों की सहायता से शासन कार्य का संचालन करता था, उनकी नियुक्ति उसी के अधीन थी, और उनमें अपने-अपने कार्यों के लिए उत्साह उत्पन्न करना, और जो कोई अपने कर्तव्यों में शिथिल हो उसे शिथिल होने से रोकना राजा का ही कार्य माना जाता था। इसीलिए कौटल्य ने लिखा है कि "मन्त्री, पुरोहित आदि भृत्य वर्ग (राजकर्मचारी गण) व विविध अध्यक्षों की नियुक्ति राजा ही करता है, जनता और राज्य में जो व्यसन (विपत्तियां) उत्पन्न हों उनका निवारण भी वही करता है, उसी द्वारा जनता और राज्य की उन्नति की जाती है, और यदि कोई अमात्य व्यसनग्रस्त हो जाए, तो उसे पद से हटाकर दूसरे की नियुक्ति राजा ही करता है।[4] राजा इतने महत्त्वपूर्ण कार्य करता था, पर तो भी राज्य में उसकी स्थिति 'ध्वजमात्र' ही मानी जाती थी,[5] क्योंकि राज्यशक्ति का प्रयोग ही उसमें निहित था, जिसे वह मन्त्री आदि अमात्यों के सहयोग से प्रयुक्त करता था। वह राजधर्म या दण्डशक्ति का प्रणेता नहीं था, अपितु इनके अधीन रहते हुए ही अपने कर्तव्यों का सम्पादन करता था। इसीलिए विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य को 'सचिवायत्त सिद्धि' कहा है।[6] चन्द्रगुप्त स्वेच्छाचारी राजा न होकर सचिवों के अधीन रहते हुए ही राज्यकार्य का संचालन करता था। पुरोहित, मन्त्री आदि सचिव प्राचीन भारत में राजा को उस दण्डनीति का बोध कराते रहते थे, जिसके अनुसार उसे शासन करना है। यदि राजा दण्डशक्ति का दुरुपयोग करे, तो

१. 'दुर्गजनपद शक्त्या भृत्यकर्म समुदायपदेन स्थापयेत्। कार्यसाधनसहेन वा भृत्यलाभेन शरीरमवेक्षेत।' कौ० अर्थ० ५।३
२. 'ऋत्विगाचार्य मन्त्रि पुरोहित सेनापति युवराज राजमातृ राजमहिष्योऽष्टचत्वारिंशत्साहस्राः।'
३. 'समान विद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा।' कौ० अर्थ० ५।३
४. कौ० अर्थ० ८।१
५. 'ध्वजमात्रोऽयम्। भवन्त एव स्वामिनः।' कौ० अर्थ० ५।६
६. 'चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा सचिवायत्त सिद्धावेव स्थितचक्षुः।'

गृहस्थों की तो बात ही क्या, वानप्रस्थ और परिव्राजक तक कुपित होकर उसके विरुद्ध उठ खड़े होते थे,[1] और ऐसे प्रतिज्ञादुर्बल राजा को राज्यच्युत कर दिया जाता था। इसीलिए कौटल्य ने प्रजा (प्रकृति) के कोप को सब कोपों में भयंकर कहा है,[2] और राजा की तुलना में प्रजा के महत्त्व को स्वीकार किया है। यदि किसी राज्य की प्रजा सम्पदा युक्त (उसकी दशा ठीक हो), तो राजा के अभाव में भी राज्य चल सकता है,[3] यह मत कौटल्य को अभिप्रेत था। प्राचीन भारत में राज्य के शासन के सम्बन्ध में प्रजा की सम्मति का इतना अधिक महत्त्व था, कि आचार्य बृहस्पति के अनुसार 'यदि प्रजा की सम्मति विरुद्ध हो, तो धर्मानुकूल कार्य को भी राजा न करे।'[4] राजा को सदा यह ध्यान में रखना होता था, कि प्रजा उसके कार्यों को किस दृष्टि से देखती है। इसीलिए महाभारत में यह कहा गया है, कि राजा अपने गुप्तचरों द्वारा यह पता लगाता रहे कि जनता उसके वृत्त (कार्यों) की प्रशंसा करती है या नहीं। विश्वस्त गुप्तचर राज्य में सर्वत्र यह जानते रहें, कि बीते हुए दिन में राजा द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा हो रही है या नहीं, और जनता में राजा के यश की क्या स्थिति है।[5] गुप्तचरों द्वारा लोकमत का परिज्ञान करते रहने की आवश्यकता राजा के लिए इसी कारण थी, क्योंकि वह जनता की भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता था। राजा को सन्मार्ग पर स्थिर रखने के सम्बन्ध में सबसे अधिक उत्तरदायिता उन पुरोहितों व ब्राह्मणों की थी, जो महाभारत के शब्दों में 'सर्वार्थ-त्यागी' हुआ करते थे।[6] ये ब्राह्मण राजा की परिषद् में उपस्थित होते थे, और निर्भय होकर उसे कर्तव्य व अकर्तव्य का बोध कराते रहते थे। जनता पर भी इनका बहुत अधिक प्रभाव होता था। इसी कारण यदि कोई राजा कुपथगामी हो, तो ये जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिए प्रेरित कर सकते थे। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तो ऐसे अनेक ब्राह्मणों से उसकी भेंट हुई थी। ये सिकन्दर के विरुद्ध भारतीयों को उभाड़ रहे थे। ऐसे एक ब्राह्मण से सिकन्दर ने पूछा—'तुम मेरे विरुद्ध क्यों राजा को भड़काते हो?' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ कि यदि वह जीए तो सम्मानपूर्वक जीए, अन्यथा सम्मानपूर्वक मर जाए।' तक्षशिला के एक दण्डी

१. कौ० अर्थ० १।४
२. 'प्रकृतिकोपो हि सर्वकोपेभ्यो गरीयान्।'
३. 'अनायकमपि प्रकृतिसम्पदं राज्यं नीयते।'
४. 'धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात्।' बृहस्पति सूत्र १।४
'अतीत दिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत्॥
जानीत यदि मे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
कच्चिद्रोचेज्जनपदे कच्चिद्राष्ट्रे च मे यशः॥' महा० शान्ति० ८९।१५-१६
६. महा० शान्ति० ८६।२८

को सिकन्दर के सम्मुख यह डर देकर बुलाने का यत्न किया गया, कि वह तो संसार के अधिपति द्यौः (Zeus) का पुत्र है। यह सुनकर दण्डी ने उपेक्षापूर्वक हँसी हँसकर उत्तर दिया—मैं भी द्यौः का पुत्र हूँ। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया संतुष्ट हूँ, जो माँ के समान मेरा पालन करता है।[1] इसमें सन्देह नहीं, कि इस प्रकार के सर्वार्थ-त्यागी निर्भय होकर राजाओं को अपने कर्तव्यों का बोध कराते रहते थे। चाणक्य इसी प्रकार के ब्राह्मण थे, जिन्होंने 'अधार्मिक' राजा नन्द को अमर्षपूर्वक राज्यसिंहासन से च्युत करने में अपनी सारी शक्ति को लगा दिया था।

(५) सप्तांग राज्य के अन्य अंग (प्रकृतियाँ)

प्राचीन नीतिग्रन्थों में केवल राजा के स्वरूप व गुणों का ही प्रतिपादन नहीं किया गया, अपितु राज्य के अन्य अंगों (प्रकृतियों) के सम्बन्ध में भी विशद रूप से विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों को भली भाँति समझने के लिए इन पर भी प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

अमात्य—कौटलीय अर्थशास्त्र में अमात्य के निम्नलिखित गुण प्रतिपादित किये गए हैं—उनमें उत्कृष्ट प्रज्ञा होनी चाहिए; उनकी स्मृति (याददास्त), बुद्धि व बल उत्कृष्ट होने चाहिएँ; उन्हें आत्मसंयमी और शिल्पों में निपुण होना चाहिए; व्यसनी नहीं होना चाहिए; उपकार (अनुग्रह) और अपकार (निग्रह) द्वारा दण्ड का प्रयोक्ता होना चाहिए; ह्रीमान् (लज्जा संकोच युक्त), विपत्तियों के निवारण में समर्थ, दूरदर्शी, देशकाल व पुरुषार्थ के सम्बन्ध में प्रस्तुत अवसरों का भली भाँति प्रयोग करने में समर्थ, सन्धि व युद्ध की समाप्ति व दूसरों के साथ किये गए निश्चयों को कायम रखने में समर्थ, शत्रु की निर्बलता का प्रयोग कर सकने के योग्य, रहस्य व अपने सम्मान को कायम रखते हुए दूसरों के साथ परिहास करने की योग्यता से सम्पन्न, काम, क्रोध, लोभ, जिद्द, चपलता, जल्दबाजी व पैशुन्य से विरहित, आवश्यकता के अनुसार मुसकाकर व कठोरतापूर्वक भाषण करने में समर्थ, और वृद्धों द्वारा उपदिष्ट आचार (चरित्र) का अनुकरण करने वाला होना चाहिए।[2] कौटल्य ने उन उपधाओं (परखों) का भी विस्तार के साथ वर्णन किया है, जिनसे परख कर ही किसी व्यक्ति को अमात्य के पद पर नियत करना चाहिए। ये उपधाएँ धर्मोपधा, भयोपधा, अर्थोपधा और कामोपधा हैं। उपधाओं द्वारा अमात्यों की परीक्षा लेने के लिए गुप्तचरों के प्रयोग का विधान कौटल्य ने किया है। एक गुप्तचर (सत्री) अमात्य से जाकर कहे, यह राजा तो अधार्मिक है, क्यों न किसी धार्मिक व्यक्ति को राजा बनाया जाए। अन्य सब लोग तो मेरे विचार से सहमत हैं। आपका क्या विचार है? जो अमात्य धर्मभीरु

१. Mc Crindle : Megasthenes pp. 124-126

२. कौ० अर्थ० १।१

होने के कारण इस बहकावे में न आ जाए, उसे 'धर्मोपधाशुद्ध' समझना चाहिए। कोई गुप्तचर स्त्री अमात्य से कहे—राजमहिषी आपकी कामना करती है, उसने समागम का सब उपाय कर लिया है, आपको इससे प्रभूत लाभ होगा। जो इस बहकावे में न आये, उसे 'कामोपधाशुद्ध' समझना चाहिए। राजा कतिपय अमात्यों को गिरफ्तार कर ले, और उसका गुप्तचर अन्य अमात्यों से कहे—यह राजा तो असत् मार्ग पर चल पड़ा है, यह अच्छा होगा कि इसकी हत्या करके किसी अन्य को राजा बना दिया जाए। सबको यह बात पसन्द है, आपका क्या विचार है? जो इस बहकावे में न आए, उसे 'भयोपधाशुद्ध' समझना चाहिए। जो व्यक्ति धन के लालच में न आए, उसे 'अर्थोपधाशुद्ध' समझना चाहिए। जो व्यक्ति धर्मोपधाशुद्ध हों, उन्हें धर्मस्थीय और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश पद पर, जो अर्थोपधाशुद्ध हों उन्हें समाहर्ता, सन्निधाता आदि पदों पर, जो कामोपधाशुद्ध हों उन्हें अन्तःपुर व विहार के अन्य स्थानों पर, जो भयोपधाशुद्ध हों उन्हें राजा के समीपवर्ती रहने वाले पदों पर और जो सर्वोपधाशुद्ध हों उन्हें मन्त्रियों के पद पर नियुक्त किया जाए। पर क्योंकि विविध परखों द्वारा शुद्ध सिद्ध होने वाले व्यक्ति पर्याप्त संख्या में सुगमता से उपलब्ध नहीं होते, अतः जो किसी भी परख में शुद्ध सिद्ध न हों, उन्हें खानों व कारखानों आदि में कार्य करने के लिए नियत किया जाए।[1] प्राचीन समय के राजपदाधिकारियों व राज्यकर्मचारियों को 'अमात्य' कहा जाता था। वे भी राज्यसंस्था के महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। अतः भली भाँति परखने के बाद ही किसी व्यक्ति को अमात्य व मन्त्री पदों पर नियुक्त करना उपयुक्त समझा जाता था।

कौटल्य की दृष्टि में अमात्यों का राज्यसंस्था के लिए बहुत महत्त्व है। उनके अनुसार राज्य के सब कार्यों के मूल अमात्य ही होते हैं, क्योंकि जनपद की कर्मसिद्धि, अपना व दूसरों का योगक्षेम साधन, विपत्तियों का प्रतीकार, खाली पड़ी हुई भूमि को बसाना व उसकी उन्नति करना, सेना का संगठन, करों को एकत्र करना और अनुग्रह प्रदर्शित करना आदि राजकार्य उन्हीं द्वारा सम्पन्न होते हैं। यद्यपि भारद्वाज सदृश कतिपय आचार्य अमात्यों को राजा की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे, पर कौटल्य उन्हें राजा से अधिक महत्त्व का तो नहीं समझते थे, यद्यपि अन्य सब प्रकृतियों (राज्यसंस्था के अंगों) की तुलना में उनकी दृष्टि में अमात्यों का महत्त्व अधिक था।[2]

कौटलीय अर्थशास्त्र में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है, कि कौन-से मनुष्य अमात्य पद पर नियुक्त किये जाने चाहिए। भारद्वाज का मत था, कि अपने सहपाठियों को ही अमात्य बनाना चाहिएं, क्योंकि राजा उनके सामर्थ्य और शुचिता

१. कौ० अर्थ० १।८
२. कौ० अर्थ० ८।१

के सम्बन्ध में भली भाँति परिचय रखता है, अतः वह उन पर विश्वास कर सकता है। पर विशालाक्ष इस मत से सहमत नहीं थे, क्योंकि उनका विचार था कि साथ खेलते रह चुकने के कारण वे राजा का समुचित सम्मान नहीं करते। राजा ऐसे व्यक्तियों को अमात्य नियत करे, जिनका शील और व्यसन राजा के शील व्यसन के समान हो, और जिनके गुप्त रहस्यों को राजा जानता हो। पराशर ने इस मत का खण्डन कर यह प्रतिपादित किया था, कि राजा ऐसे व्यक्तियों को अमात्य नियत करे, जिन्होंने कि आपत्ति के समय जान पर खेलकर भी राजा की रक्षा की हो और जिनका राजा के प्रति अनुराग हो। पर पिशुन इससे भी सहमत नहीं थे। उनका कहना था, कि ऐसे व्यक्ति राजा के भक्त तो हो सकते हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि उनमें बुद्धि का गुण भी विद्यमान हो। जिनके गुण स्पष्ट रूप से विदित हों, उन्हीं को अमात्य बनाना चाहिए। कौणपदन्त ने इस विचार का खण्डन करके यह प्रतिपादित किया था, कि ऐसे व्यक्तियों को अमात्य नियत किया जाना चाहिए, जिनके कुल में पितृ-पैतामह काल से ये पद चले आ रहे हों। पर वातव्याधि का मत था, कि वंशक्रमानुगत रूप से चले आ रहे अमात्य स्वयं स्वामी के समान बरताव करने लगते हैं, अतः ऐसे नये व्यक्तियों को अमात्य बनाना चाहिए, जो कि नीति के ज्ञाता हों। बाहुदन्तीपुत्र का मत था, बुद्धि, शौर्य, शुचिता और अनुराग आदि गुणों को देखकर ही अमात्य नियत किये जाएँ। इन विविध मतों का निर्देश करके कौटल्य ने अपना यह मत प्रतिपादित किया है, कि सभी में सत्य का अंश विद्यमान है। वस्तुतः, कार्य के सामर्थ्य से ही पुरुष का सामर्थ्य निर्धारित होता है। अतः कार्य, देश और काल को दृष्टि में रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को अमात्य नियत किया जाए, जो कि कार्य को सम्पन्न करने का सामर्थ्य रखते हों—और उनमें कार्य सामर्थ्य के अनुसार पदों का विभाजन किया जाए।[1]

मनुस्मृति के अनुसार भी राज्यसंस्था के लिए अमात्यों का बहुत महत्त्व है, क्योंकि दण्डशक्ति का प्रयोग उन्हीं द्वारा किया जाता है।[2] अमात्य ऐसे होने चाहिएँ, जो शुचि, प्राज्ञ और सुपरीक्षित हों।[3] शुक्रनीतिसार में राजा के सहायों (अमात्यों) के ये गुण लिखे हैं—वे ऊँच कुल के हों, गुणी हों, शील से सम्पन्न हों, शूर हों, राजा के प्रति भक्ति रखते हों, प्रिय भाषण करने वाले हों, हित बात को उपदिष्ट करने वाले हों, क्लेश सहने की क्षमता रखने वाले हों, और धर्म में रत हों। यदि राजा कुमार्ग पर चलने लगे, तो अपनी बुद्धि द्वारा उसे सन्मार्ग पर लाने की क्षमता भी उनमें होनी चाहिए। उनका आचरण पवित्र होना चाहिए। साथ ही, उनके लिए ईर्ष्या द्वेष से

१. कौ० अर्थ० १।४
२. 'अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।' मनु० ७।६५
३. 'अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तृन् अमात्यान्सुपरीक्षितान्॥' मनु० ७।६०

रहित होना, काम, क्रोध व लोभ से हीन होना और आलसी न होना भी आवश्यक है।[1] एक अन्य स्थान पर शुक्र ने लिखा है, कि राजकर्मचारियों को चाहिये कि वे अपनी भृति से ही संतुष्ट रहें। शरीर, वचन और मन—तीनों से स्वामी के कार्य का सम्पादन करें। मृदुभाषिता, कार्यदक्षता, शुचिता और दृढ़ता से युक्त हों। दूसरों का उपकार करने में कुशल और अपकार करने में पराङ्मुख हों। यदि राजकर्मचारी का अपना पुत्र व पिता भी राजा का अपकार करने लगें, तो उन पर भी उसे दृष्टि रखनी चाहिए। उसे अपनी श्लाघा और दूसरों की चुगलखोरी व निन्दा से दूर रहना चाहिए। निस्पृह होकर सदा अपनी स्थिति से संतुष्ट रहना चाहिए। जिन्हें पर्याप्त वेतन नहीं मिलता, जो धूर्त, डरपोक व लोभी होते हैं, जो रिश्वतें लेते हैं, जो जुआ खेलने के शौकीन, दम्भी, असत्यवादी व राजा के शत्रु के मित्र हों, जो बिना सोचे-समझे काम करने वाले हों—ऐसे राजकर्मचारी श्रेष्ठ न होकर निन्द्य समझे जाने चाहिएं।[2]

अमात्यों व राजपदाधिकारियों के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार प्राचीन नीति साहित्य में अन्यत्र भी पाये जाते हैं। वर्तमान समय के राजशास्त्री राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सरकार (Government) को उसका एक आवश्यक तत्त्व मानते हैं। सरकार द्वारा ही राज्य की प्रभुत्व शक्ति को क्रियान्वित किया जाता है। जिसे आधुनिक विचारक प्रभुत्वशक्ति (Sovereignty) कहते हैं, उसे ही भारत के प्राचीन राजशास्त्री 'दण्ड' कहते थे। दण्ड का प्रयोग राजा के अधीन था, जो कि अमात्यवर्ग की सहायता से उसे प्रयुक्त करता था। इसीलिए प्राचीन नीतिकारों ने अमात्यों को उपधाशुद्ध व शीलगुण सम्पन्न होना चाहिए—यह प्रतिपादित किया है।

जनपद—राज्य का तीसरा अंग जनपद है। कौटल्य ने जनपद के निम्नलिखित गुण माने हैं—उसे स्थानवान् (जिसमें पर्याप्त जगह या space हो) होना चाहिये; उसके मध्य और सीमान्तों पर पुर (नगर) होने चाहियें; उसका क्षेत्रफल इतना अधिक हो कि अपनी जनता का, और आपत्ति के समय बाह्य लोगों का भी पालन उसकी पैदावार से हो सके; जिसमें आत्मरक्षा के सब साधन हों; जो आत्मनिर्भर हो, जो शत्रुओं का पराभव कर सके; जिसमें सामन्तों व पड़ौसी राजाओं को वश में रखने की क्षमता हो; जिसमें दलदलों, पत्थरों वाली, ऊसर, ऊँची-नीची व कांटों से भरी जमीन न हो; जिसमें सांपों व जंगली पशुओं की प्रचुरता न हो; जो देखने में सुन्दर हो; जिसमें कृषि योग्य भूमि, खानों और हाथियों व इमारती लकड़ी से पूर्ण जंगलों की प्रचुरता हो; जिसमें चरागाह हों; जिसकी जलवायु बलदायक हो;

१. 'कुलगुण शीलवृद्धान् शूरान् भक्तान् प्रियंवदान्। हितोपदेशकान् क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा॥
कुमार्गगमपि नृपं बुद्धयोद्धर्तुं क्षमान् शुचीन्। निर्मत्सरान् कामक्रोधलोभहीनान्निरालसान्॥'

शुक्र २।८-९

२. शुक्रनीतिसार १।५६-६६

जिसमें गुप्त मार्गों की सत्ता हो, जिसमें पशुओं की प्रचुरता हो; जो सिंचाई के लिए केवल वर्षा पर निर्भर न करे; जिसमें स्थल और जल मार्गों की सत्ता हो; जहाँ विविध प्रकार के पण्य (विक्रय) पदार्थ उपलब्ध हों; जिसमें सेना और करों का बोझ उठाने की क्षमता हो; जिसके किसान कर्मशील हों; जिसके स्वामी व अवर वर्णों के लोग बुद्धिमान हों, और जिसकी जनता राज्य के प्रति भक्ति रखने वाली व पवित्र आचरण रखने वाली हो।[1] कौटल्य ने यहाँ जनपद के जो गुण प्रतिपादित किये हैं, वे बड़े महत्त्व के हैं। उनमें जनपद की भूमि और वहाँ निवास करने वाली जनता—दोनों के गुण आ गये हैं। जनपद की भूमि विस्तार में इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि जनता का पालन कर सके; विपत्ति के समय शरण लेने वाले विदेशी लोग भी उससे अपना निर्वाह कर सकें; शत्रुओं से रक्षा के भी साधन उसमें हों; खेत, चरागाह, जंगल, खानें, जल व स्थल मार्ग, सिंचाई के लिए नहरें व कुएँ आदि सब उसमें हों; और उसकी जलवायु भी उत्तम हो। जनता के गुणों में किसानों की कर्मशीलता, उच्च व अधम सब वर्णों के लोगों में बुद्धि का होना, राज्यसंस्था के प्रति भक्ति और शुचिता—ये गुण कौटल्य के अनुसार आवश्यक हैं। एक अन्य स्थान पर कौटल्य ने आचार्य विशालाक्ष का यह मत उद्धृत किया है, कि राजकीय कोश, सेना, कच्चा माल, विष्टि (बेगार), सवारी के पशु, व अन्य सब वस्तुओं की उपलब्धि जनपद से ही होती है, अतः उसका महत्त्व अमात्यों की तुलना में अधिक है।[2] यद्यपि कौटल्य को यह मत स्वीकार्य नहीं है, पर वे भी जनपद के महत्त्व को यह कहकर स्वीकार करते हैं, कि वस्तुतः कोश व सेना जनपद पर ही निर्भर करती हैं। साथ ही, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि भी जनपद द्वारा ही सम्भव हैं। पर्वत, द्वीप, दुर्ग आदि भी जनपद के ही अन्तर्गत होते हैं।[3]

महाभारत आदि अन्य साहित्य में जनपद की भूमि व उसके निवासियों के गुणों के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख नहीं मिलते हैं। पर कौटल्य ने इनके सम्बन्ध में जो लिखा है, वह भारत के प्राचीन विचारकों के विचारों को सूचित करने के लिए पर्याप्त है।

पुर या दुर्ग—जनपद (राष्ट्र) के मध्य में पुर (राजधानी) की सत्ता होती थी, जिसे दुर्ग के रूप में बनाया जाता था। राज्यसंस्था में के सात अंगों में पुर भी एक है। उसका भी महत्त्व बहुत अधिक था, क्योंकि जैसा पाराशर सम्प्रदाय का मत था, राजकोश और सेना प्रधानतया दुर्ग में ही स्थित होते हैं, और आपत्ति के समय जनपद के निवासी भी वहीं स्थान प्राप्त करते हैं, और जनपद के निवासियों की तुलना में पुर के निवासी अधिक शक्तिशाली भी होते हैं। कौटल्य ने भी यह कहकर दुर्ग के

१. कौ० अर्थ० ६।१
२. कौ० अर्थ० ८।१
३. कौ० अर्थ० ८।१

महत्त्व को स्वीकार किया है, कि यदि दुर्ग न हो तो कोश पर शत्रु सुगमता से अपना अधिकार कर लेगा, और युद्ध के अवसर पर शत्रु के पराजय के लिए दुर्ग का ही आश्रय लेना होता है। सैन्यशक्ति का प्रयोग वहीं से भलीभाँति हो सकता है। जिनका दुर्ग सुदृढ़ हो, उन्हें परास्त करना भी सुगम नहीं होता।[1]

पुर (राजधानी) को किस प्रकार से बनाया जाए, और विविध दुर्गों का निर्माण किस ढंग से किया जाए, इस विषय पर नीतिग्रन्थों में विशद रूप से विचार किया गया है। जनपद की सीमाओं पर साम्परायिक (युद्ध व देश की रक्षा के लिए उपयोगी) दुर्ग बनाए जाएँ, और आवश्यकता की दृष्टि से यथास्थान औदक (नदी या द्वीप के बीच में) दुर्ग, प्रास्तर (ऊँचे टीले पर) दुर्ग, धान्वन (रेगिस्तान या ऊसर भूमि में) दुर्ग और वन-दुर्ग का निर्माण किया जाए। पर पुर (राजधानी) का दुर्ग इनसे भिन्न होता है, जिसका निर्माण केवल युद्ध के प्रयोजन से ही नहीं किया जाता, यद्यपि अन्ततोगत्वा उसका भी युद्ध के लिए उपयोग किया जा सकता है।[2] महाभारत में मही दुर्ग, गिरि दुर्ग, जल दुर्ग, वन दुर्ग आदि अनेक प्रकार के दुर्गों का विधान करके उनका राष्ट्र की रक्षा के लिए महत्त्व बताया गया है,[3] और इनके अतिरिक्त राजधानी के रूप में एक ऐसे दुर्ग का विधान किया गया है, जिसमें राजपुरुष, ब्राह्मण, शिल्पी, व्यापारी आदि सब प्रकार की जनता का निवास हो, और जहाँ धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र आदि का प्रभूत मात्रा में संचय किया गया हो।[4] शुक्र-नीतिसार में विविध प्रकार के दुर्गों के वर्णन के अतिरिक्त राजधानी के सम्बन्ध में बहुत अधिक विस्तार से लिखा गया है।[5] पर इस सबको यहाँ उल्लिखित करना विशेष उपयोगी नहीं है।

कोश—कौटल्य के अनुसार कोश के गुण निम्नलिखित हैं—उसे धर्मपूर्वक अधिगत किया हुआ होना चाहिए, चाहे पूर्ववर्ती राजाओं ने उसे प्राप्त किया हो या राजा ने स्वयं उसे अधिगत किया हो। कोश को प्रधानतया सुवर्ण, रजत, सोने के सिक्कों, विविध रंगों के व भारी वजन के रत्नों से पूर्ण होना चाहिए; और उसे मात्रा में इतना अधिक होना चाहिए कि सुदीर्घ काल की विपत्ति के समय भी उससे निर्वाह चल सके।[6] क्योंकि कोश का संग्रह जनता द्वारा वसूल किये गए करों से ही होता है, अतः उसका संचय धर्मपूर्वक ही किया जाना चाहिए। उसकी मात्रा इतनी पर्याप्त होनी चाहिए, कि बाह्य आक्रमण, दुर्भिक्ष व अन्य आपत्तियों के समय पर—चाहे ये आपत्तियाँ सुदीर्घ काल तक ही क्यों न रहें—वह कम न पड़ जाए।

---

१. कौ० अर्थ० ८।१
२. कौ० अर्थ० २।२
३. महा० शान्ति० ८६।४-५
४. महा० शान्ति० ८६।१२-१५
५. शुक्रनीतिसार १।२०८-२२१
६. कौ० अर्थ० ६।१

सेना या बल—प्राचीन नीतिग्रन्थों में अनेक प्रकार की सेनाओं का वर्णन है, जिनमें मौल (राज्य के अपने नागरिकों की सेना), भृत(Mercenary), श्रेणी (सैनिकों की श्रेणियां या गिल्ड) और आटविक (अटवि या जंगल में निवास करने वाली जातियों की सेना) प्रधान हैं। सेना के गुणों का निरूपण कौटलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार किया गया है—उसके सैनिक ऐसे होने चाहियें जिनका वंश-परम्परानुगत रूप से सैनिक सेवा का ही पेशा हो, सेना स्थायी (नित्य) होनी चाहिए, उसे नियन्त्रित होना चाहिए, सैनिकों की पत्नियां व सन्तान उस भृति से सन्तोष अनुभव करें, जो कि उन्हें दी जाए। यदि सैनिकों को चिरकाल तक घर से बाहर रहना पड़े, तो भी वे इस बात से असन्तुष्ट न हों, वे सर्वत्र अपराजित हों, उनमें कष्ट सहन करने की क्षमता हो, उन्हें विविध प्रकार के युद्ध लड़ने की शिक्षा दी गई हो, सब प्रकार के अस्त्रशस्त्र के प्रयोग में वे विशारद हों, और उनमें यह भावना हो कि हमारा उत्कर्ष व अपकर्ष एक साथ होना है, उन्हें शत्रु द्वारा फोड़ा न जा सके, और सेना के सैनिकों में क्षत्रियों की प्रचुरता हो।[1]

राज्यसंस्था के लिए सेना का बहुत अधिक महत्त्व होता है, क्योंकि बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा उसी पर निर्भर करती है। यदि सैनिक सन्तुष्ट और राज्य के प्रति अनुरक्त रहें, तभी सेना देश की रक्षा में समर्थ हो सकती है। इसीलिए महाभारत के एक सन्दर्भ में नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है—'क्या तुम अपने सैनिकों को उनका भत्ता-वेतन व भोजन का अंश समय पर दे देते हो। यह आवश्यक है, कि सैनिकों को ठीक समय पर वेतन दे दिया जाए। मेरा विचार है, कि तुम ऐसा ही करते हो, और इस सम्बन्ध में कभी अकार्य कर्म नहीं करते।[2] शुक्र-नीतिसार में भी सेना के महत्त्व व संगठन का विशद रूप से वर्णन किया गया है।[3]

मित्र—राज्यसंस्था के लिए यह भी आवश्यक है, कि कतिपय अन्य राज्यों से मित्रता का सम्बन्ध भी स्थापित किया जाए। इसी कारण 'मित्र' को भी राज्य के सात अंगों में अन्तर्गत किया गया है। मित्र-राज्य ऐसा होना चाहिए, जिसके साथ पितृ पैतामह आदि के समय से मैत्री-सम्बन्ध चला आ रहा हो, जो स्थायी हो, जिसमें नियन्त्रण की सत्ता हो, जिसे अपने विरुद्ध न किया जा सके, और जो शीघ्रता के साथ बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारी कर सकने में समर्थ हो।[4]

राज्य के इन सात अंगों के गुणों का वर्णन करके कौटल्य ने लिखा है—राज्य की ये सात प्रकृतियां (अंग) यदि अपने गुणों से युक्त हों, तो वे राज्य के लिए सम्पत्ति

१. कौ० अर्थ० ६।१
२. 'कच्चिद्बलस्य भक्तश्च वेतनञ्च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥' महा० सभा० ५।४८
३. शुक्रनीतिसार ४।२-३०
४. कौ० अर्थ० ६।१

होती हैं। ये सातों एक-दूसरे के लिए अंग के समान हैं।[1] राज्यसंस्था को एक शरीर मानते हुए प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता इन सात प्रकृतियों को राज्य-रूपी शरीर का अंग मानते थे। इसी कारण उनका मत था, कि इन सातों के गुणों के भली भाँति उदय होने से ही राज्य-सम्पदा फलती-फूलती है।

राज्य-संस्था को एक शरीर मानने और सात प्रकृतियों को उसके विविध अंग समझने के कारण भारत के प्राचीन राजशास्त्र विशारदों को यह मत अभिप्रेत था, कि राज्य में केवल राजा का ही महत्त्व नहीं होता, अपितु उनके सब अंग महत्त्वपूर्ण होते हैं। राजा की अपनी सत्ता भी अन्य अंगों के बलशाली होने पर ही निर्भर करती है। इसी कारण यह विचार प्राचीन ग्रन्थों में कहीं नहीं पाया जाता, कि राजा ही राज्य है। फ्रांस का लुई सोलहवां गर्व के साथ कहा करता था—राज्य क्या है ? मैं ही तो राज्य हूँ। निरंकुश व स्वेच्छाचारी राजतन्त्र शासनों में ही इस प्रकार के विचार का विकसित हो सकना सम्भव था, पर प्राचीन भारत में इस विचार की सत्ता कहीं उपलब्ध नहीं होती।

१. 'अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैताः स्वगुणोदयाः।
उक्ताः प्रत्यङ्गभूतास्ताः प्रकृता राजसम्पदः॥' कौ० अर्थ० ६।१

अठारहवाँ अध्याय

राज्य-कर विषयक सिद्धान्त और राजकीय आय-व्यय

(१) कर सम्बन्धी सिद्धान्त

राजकीय आय-व्यय के विषय में प्रसंगवश हमने पहले अनेक निर्देश दिये हैं। पर इस सम्बन्ध में अधिक विशद रूप से विवेचन करना उपयोगी होगा। विशेषतया, राजकीय करों के विषय में जो सिद्धान्त प्राचीन नीतिग्रन्थों में प्रतिपादित हैं, उनका उल्लेख बहुत आवश्यक है।

राजकीय कर (Taxation) के सम्बन्ध में प्रथम सिद्धान्त यह है, कि राजा उसका निर्धारण स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकता। जिस प्रकार राजा स्वयं दण्डनीति के अधीन है वैसे ही कर भी दण्डनीतिशास्त्र में प्रतिपादित व्यवस्था के अधीन ही निर्धारित किये जाते हैं। जैसे राजा धर्म के अधीन है, वैसे ही कर पद्धति भी है। महाभारत के अनुसार राजा केवल 'धर्म्य' (धर्म के अनुरूप) कर ही प्राप्त कर सकता है।[1] इसी धर्म्य कर को महाभारत में 'शास्त्रानीत' (शास्त्र द्वारा सम्मत) भी कहा गया है।[2] इसी भाव को दृष्टि में रख कर मनु ने राजा को 'निर्दिष्ट फल भोक्ता' (निर्धारित करों को प्राप्त करने वाला) कहा है।[3] शुक्र के अनुसार जो राजा नीति (नीतिशास्त्र से अभिमत) का परित्याग कर प्रजा के पीड़न द्वारा धन प्राप्त करता है, उसका राज्य शत्रु के वश में हो जाता है।[4] इसी बात को महाभारत में इस प्रकार प्रकट किया गया है, कि जो राजा ऐसे करों द्वारा प्रजा को पीड़ित करता है, जो शास्त्र-दृष्ट (शास्त्र द्वारा प्रतिपादित) नहीं है, वह अपना विनाश स्वयं कर लेता है।[5]

१. 'दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि।
तथैतं कल्पयेद्राजा योगक्षेम मतन्द्रितः॥' महा० शान्ति० ७१।११

२. महा० शान्ति० ७१।१०

३. 'क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफल भोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते॥' मनु ७।१४४

४. 'त्यक्त्वा नीतिं बलं स्वीय प्रजा पीडनतो धनम्।
सञ्चितं येन तत्तस्य स राज्यं शत्रुसात्भवेत्॥' शुक्र० ४।८

५. 'अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्र दृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन् प्रजाः॥' महा० शान्ति० ७१।१५

धन की प्राप्ति के लिए धर्मपूर्वक लाभ की इच्छा करना ही उचित है, जो राजा कर के सम्बन्ध में 'शास्त्र-पर' (शास्त्र का अनुगामी) नहीं होता, उसके धर्म और अर्थ—दोनों अनिश्चित हो जाते हैं। शास्त्र के विरुद्ध धन को प्राप्त करने का यत्न करने वाला राजा धन को प्राप्त नहीं कर पाता, और ऐसा राजा जो अस्थान से धन प्राप्त करता है, उसका सभी-कुछ नष्ट हो जाता है।[1] शिलालेखों तक में अनेक राजाओं ने गर्व के साथ इस बात का उल्लेख किया है, कि वे धर्म के अनुसार ही कर वसूल करते थे।[2] कर की प्राप्ति के धर्म व शास्त्र पर आधारित होने के कारण राजा के लिए यह कदापि सम्भव नहीं था, कि वह इस सम्बन्ध में स्वेच्छाचारी हो सके। इसीलिए प्राचीन भारत के राजा जब कभी युद्ध आदि की परिस्थितियों से विवश होकर धन की विशेष आवश्यकता अनुभव करते थे, तो भी वे मनमानी तरीके से कर लगाने का साहस नहीं करते थे। धन की कमी को वे अन्य उपायों से पूरा करने का यत्न करते थे, पर मनमानी टैक्स लगाकर नहीं। कौटलीय अर्थशास्त्र में विपत्ति के समय धन को सञ्चित करने के लिए ऐसे उपायों का उल्लेख किया गया है, जिनसे जनता के अन्ध-विश्वासों का उपयोग किया जाए, जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा देवमन्दिरों की स्थापना कर वहाँ भेंट-पूजा करवाना, लोगों को किसी कुँए में दूर से ऐसे साँप को दिखाना जिसके बहुत-से सिर हों, उद्यान में वृक्ष पर असमय फल-फूलों का आना—ये दिखा-कर उनसे धन एकत्र करना।[3] चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में इस ढंग से पूजा के निमित्त मूर्तियाँ बनवा कर धन एकत्र किया भी गया था, इसकी सूचना पतञ्जलि के महाभाष्य से मिलती है।[4] पर जहाँ तक राजकीय करों का सम्बन्ध है, प्राचीन भारत के राजा मनमानी कर नहीं लगा सकते थे, क्योंकि कर के प्रकार व मात्रा शास्त्रनीति पर ही निर्भर माने जाते थे। जिस जनपद में जो परम्परागत धर्मव्यवहार व शास्त्रनीति हो, कर उसी के अनुसार ग्रहण किये जा सकते थे।

कर के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त यह है, कि कर वह भृति (वेतन) है, जिसे राजा प्रजा द्वारा प्राप्त करता है, और जिसे प्राप्त कर वह प्रजापालन व देश की रक्षा की उत्तरदायिता लेता है। महाभारत में खेती की पैदावार के छटे भाग, विविध प्रकार के शुल्क, जुरमानों की आय आदि के रूप में राजा को जो 'धनागम' (धन की प्राप्ति)

---

१. 'तस्माद्धर्मेण लाभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम्।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत्॥
अपशास्त्र धनो राजा संचयं नाधिगच्छति।
अस्थाने चास्य तद्वित्तं सर्वमेव विनश्यति॥' महा० शा० ७१।१३-१४

२. 'धर्मोपजितकर विनयोग करस' Epigraphica Indica vol. III, P. 60

३. कौ० अर्थ० ५।२

४. 'मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिता:' जीविकार्थे चापण्ये (५।३।९९) सूत्र पर पतञ्जलि के भाष्य में।

हो, उसे स्पष्ट रूप से 'राजा का वेतन' कहा गया है।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र में भी धान्य के षड्भाग, पण्य के दसवें भाग आदि को राजा का 'भागधेय' बताकर यह कहा है, कि इस भागधेय से 'भृत' (वेतन या भृति प्राप्त कर) हो कर राजा प्रजा का योग क्षेम सम्पादित करते हैं।[2] शुक्रनीतिसार में तो इस सिद्धान्त को बहुत ही प्रबलता के साथ यह कहकर प्रतिपादित किया गया है कि 'यद्यपि ऊपर से तो राजा स्वामीरूप है, पर वस्तुतः ब्रह्मा ने उसे प्रजा के पालन के लिए स्वभाग रूपी वृत्ति प्राप्त करने के कारण प्रजा का दास बनाया है।'[3] नारदस्मृति सदृश स्मृति-ग्रन्थों में भी यही सिद्धांत प्रतिपादित हैं।[4]

राजकीय करों के सम्बन्ध में जो नीति होनी चाहिए, उसका प्राचीन ग्रन्थों में बड़ी सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है। इस नीति का मूल सिद्धान्त यह है, कि कर ग्रहण करते हुए राजा अपने और दूसरों के मूल का उच्छेद न करे।[5] अधिक कर वसूल करने का परिणाम स्वाभाविक रूप से यह होगा, कि कर देने वालों की जड़ का उच्छेद हो जायगा। जिस पूंजी व सम्पत्ति द्वारा कोई मनुष्य आर्थिक उत्पादन करता है, यदि कर की अधिकता के कारण वही उसके पास न रह पाए, तो भविष्य में वह कैसे उत्पादन करेगा और कैसे कर दे सकेगा। कर की अधिकता से राजा के मूल का भी उच्छेद हो जाता है, क्योंकि जनता उसके विरुद्ध हो जाती है, और भविष्य में कर की प्राप्ति भी सम्भव नहीं रहती। अतः प्रजा पर कर इस ढंग से लगाना चाहिए, कि उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे, और भविष्य में वह अधिक मात्रा में कर दे सकने में समर्थ रहे। इस विचार को महाभारत में भीष्म ने इस प्रकार प्रगट किया है[6]—'यदि बछड़े को दूध पीने दिया जाए, और उसका ठीक प्रकार से पालन किया जाए, तो बड़ा होकर वह बलवान् हो जाता है, और बहुत-सा बोझ उठाने में समर्थ हो जाता है। यदि गाय का बहुत-सा दूध दुह लिया जाए और बछड़े को पर्याप्त दूध पीने को न मिले, तो बछड़ा काम के योग्य नहीं रह जायगा। इसी प्रकार यदि राष्ट्र के निवासियों से अधिक कर लिया जाए, तो वे निर्बल हो जाने के कारण महान् कर्म के योग्य नहीं रह जाएँगे। अतः जो राजा राष्ट्र का क्षय न चाहे, उसे कर के सम्बन्ध

१. 'बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥' महा० शान्ति० ७१।१०

२. 'धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः तेषां किल्बिषदण्डकरा हरन्ति।' कौ० अर्थ० १।६

३. स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानाञ्च नृपः कृतः। ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥'
शुक्र १।१८८

४. नारदस्मृति १८।४८

५. 'नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया।' महा० शान्ति० ८७।१८

६. 'वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना।
भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत ॥

में वही नीति बरतनी चाहिए, जो बछड़े के सम्बन्ध में बरती जाती है।' 'जो राजा अत्यन्त अधिक खाना चाहता है (अत्यधिक कर लगाता है), प्रजा उसके विरुद्ध हो जाती है। प्रजा जिससे विद्वेष करे, उसका कल्याण कैसे सम्भव है।'[1] एक अन्य प्रसङ्ग में भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश किया है, कि जिस प्रकार मधुमक्खी या भँवर फूल से मधु का पान करती है, वैसे ही राजा प्रजा से कर ले। गाय का दूध तो दुहा जाता है, पर उसके थनों को नहीं काटा जाता।[2] पहले थोड़ा-थोड़ा कर लिया जाए, ताकि आर्थिक दृष्टि से जनता की समृद्धि हो सके। आर्थिक समृद्धि का परिणाम यह होगा, कि जनता अधिक कर दे सकने में समर्थ हो जायगी, और तब क्रमशः उसके कर में वृद्धि भी की जा सकेगी।[3] कर के भार को धीरे-धीरे और नैरन्तर्य के साथ बढ़ाया जाए, पर मृदुता के साथ।[4] राष्ट्र में जो धनी लोग हों, पान, भोजन व वस्त्र आदि द्वारा उनका सदा सम्मान किया जाए, और कर लेते हुए उनसे कहा जाए, कि 'प्रजा के साथ मुझ पर अनुग्रह कीजिए।'[5] राज्य में धनियों का भी वही महत्त्व है, जोकि बुद्धिमान् व शूरवीर लोगों का है, वे भी राज्य के रक्षकों में ही हैं।[6]

राजकीय करों के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। कौटल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है—'जिस प्रकार वृक्षों से फल तभी तोड़े जाते हैं जब कि वे पक जाते हैं, उसी प्रकार राज्य (जनता) से कर भी तभी लिए जाने चाहिएँ जबकि वे पक जाएँ (जब जनता उन्हें दे सकने की स्थिति में हो)। यदि कच्चे फल तोड़ लिए जाएँगे, तो उससे वृक्ष के मूल को ही क्षति पहुँचेगी। राज्य में भी इससे कोप उत्पन्न हो जायगा।'[7] महाभारत के अनुसार 'हे राजा, तुम माली के समान बनो, कोयले बनाने वाले के समान नहीं। ऐसा होने पर ही तुम चिरकाल तक (प्रजा का)

न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर।
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते भृशम्॥' महा० शान्ति० ८७।२०-२१

१. 'प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्।
प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो संवृतो लभते फलम्॥' महा० शान्ति० ८७।१६

२. 'मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरान्न प्रपातयेत्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्॥' महा० शान्ति० ८८।४

३. 'अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्॥' महा० शान्ति० ८८।७

४. 'मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत्।' महा० शान्ति० ८८।८

५. 'धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै॥' महा० शान्ति० ८८।२६

६. 'अङ्गमेतन्महद्राज्ये धनिनो नाम भारत।' महा० शान्ति० ८८।३०

७. 'पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।
आमच्छेद्भयादामं वर्जयेत्कोपकारकम्॥' कौ० अर्थ० ५।२

पालन करते हुए राज्य का उपभोग कर सकोगे।'[१] यही भाव शुक्रनीति में भी विद्यमान है।[२] माली केवल फल और फूल ग्रहण करता है, वृक्ष को नहीं काटता। पर कोयले बनाने वाला वृक्ष को काट देता है। राजा को माली का अनुकरण करना चाहिए, कोयला बनाने वाले का नहीं। मनु ने लिखा है, कि राजा कर के सम्बन्ध में ऐसी नीति का अनुसरण करे, जिससे कि कार्य करने वाले लोग अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त रह सकें। अधिक कर लेने से लोगों में धन कमाने और कार्य करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, यही मनु ने सूचित किया है।

करों के सम्बन्ध में राजा को यह भी दृष्टि में रखना है, कि उन्हें समुचित समय में और समुचित स्थानों से ही प्राप्त किया जाए। साथ ही, उन्हें विधि के अनुसार ही वसूल किया जाना है, विधि के विरुद्ध नहीं।[3] महाभारत में व्यापारियों और शिल्पियों पर कर लगाते हुए किन बातों को दृष्टि में रखना आवश्यक है, यह भी विशद रूप से प्रतिपादित किया गया है। पण्य पदार्थ की लागत खर्च कितना है, उसकी ढुलाई का क्या खर्च पड़ा है, व्यापारियों का पारिवारिक व्यय कितना है, और अन्य खर्च क्या हैं—ये बातें दृष्टि में रखकर ही उन पर कर लगाया जाए। इसी प्रकार शिल्पियों पर कर लगाते हुए उनके खर्च को भी दृष्टि में रखा जाए। महाभारत के इस मन्तव्य पर हम पहले विस्तार से लिख चुके हैं। मनुस्मृति में भी व्यापारियों और शिल्पियों पर कर लगाने के सम्बन्ध में यही व्यवस्था विद्यमान है।[४]

शुक्रनीतिसार में जहाँ राजकीय करों के सम्बन्ध में परम्परागत मन्तव्यों का उल्लेख किया गया है, वहाँ कतिपय ऐसी बातें भी लिखी हैं, जो अन्यत्र नहीं पाई जातीं। 'वह मनुष्य जो धन को उचित उपायों से कमाता है और उचित ढंग से खर्च करता है, 'पात्र' कहाता है, इसके विपरीत करने वाले मनुष्य को 'अपात्र' कहते हैं। राजा को चाहिये कि अपात्र के सब धन को हर ले। ऐसा कर लेने पर वह दोष का भागी नहीं होता।[५]

१. 'मालाकारोपमो राजन्भव माऽऽङ्गारिकोपमः।
तथा युक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पार्थिव॥' महा० शान्ति० ७१।२०

२. 'मालाकार इव ग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत्।' शुक्र ४।११.३

३. 'न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि।' महा० शान्ति० ८८।१२

४. मनुस्मृति ७।१२७

५. स्वागमी सद्व्ययी पात्रमपात्रं विपरीतकम्।
अपात्रस्य हरेत् सर्वं धनं राजा न दोषभाक्।
अधर्मशीलात् नृपतिः सबशः संहरेत् धनम्॥' शुक्रनीतिसार ४।६-७

(२) भूमिकर और भूमि का स्वामित्व

प्राचीन भारत में राजकीय आय का एक मुख्य अंग भूमि-कर था। नीतिग्रन्थों में इसे 'षड्भाग' कहा गया है, क्योंकि यह माना जाता था कि भूमि की पैदावार का छटा अंश ही राजा को भूमि-कर के रूप में लेना चाहिए। महाभारत में लिखा है, कि राजा प्रजा की रक्षा के लिए 'षड्भाग' को बलि के रूप में प्राप्त करे।[1] एक अन्य स्थान पर महाभारत में लिखा है, कि जो राजा षड्भाग लेकर प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह पाप का भागी होता है।[2] पर भूमि-कर की मात्रा सब प्रकार की जमीनों के लिए एक ही समान नहीं होती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार जो कृषक पूर्णतया स्वतन्त्र हों और जो सिंचाई का प्रबन्ध भी स्वयं करें, उनसे जमीन के अनुसार उपज का चौथाई भाग या पाँचवाँ भाग कर के रूप में लिया जाना चाहिये।[3] जो किसान सिंचाई के लिए राज्य से पानी लें, भूमि-कर की मात्रा उनके लिए अधिक थी। पम्प, रहट या पवनचक्की द्वारा जहाँ सिंचाई की जाए, उनसे उपज का तिहाई भाग कर के रूप में लिया जाता था।[4] शुक्रनीतिसार में भी विभिन्न प्रकार की जमीनों से विभिन्न दर द्वारा भूमिकर वसूल करने का विधान किया गया है। 'जिन जमीनों की सिंचाई तालाब, नहर, कूप, नदी आदि द्वारा होती हो, उनसे उपज के अनुसार चौथाई, तिहाई या आधा तक अंश प्राप्त किया जाए। ऊसर या पथरीली जमीन से उपज का छटा भाग लिया जाए।'[5] मनुस्मृति में भूमिकर की मात्रा उपज का छटा, आठवाँ व बारहवाँ भाग कही गई है।[6] इससे सूचित होता है, कि भारतीय इतिहास के विविध युगों में भूमि-कर की मात्रा भिन्न-भिन्न थी, पर साधारणतया नीतिग्रन्थों में भूमि-कर को 'षड्भाग' के नाम से ही कहा गया है, जिससे ज्ञात होता हैं, कि विशेष दशाओं को छोड़कर सामान्य भूमि से उपज का छटा अंश ही भूमि-कर के रूप में वसूल किया जाता था।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न विचारणीय है, कि राजा जमीन की पैदावार का जो अंश (छटा भाग या जमीन के अधिक अच्छा होने की दशा में अधिक भाग) प्राप्त करता था, उसका कारण क्या यह था कि वही भूमि का स्वामी भी होता था। इस सम्बन्ध में नीतिशास्त्र के प्रणेताओं ने जिस मत का प्रतिपादन किया है, वह यह है

१. 'आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
षड्भागममितप्रज्ञः तासामेवाभिगुप्तये।' महा० शान्ति० ६८।२७

२. आदाय बलि षड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन भूमिपः॥' महा० शान्ति० २४।१६

३. कौ० अर्थ० २।२४

४. स्रोतोयन्त्रप्रावर्तिमं च तृतीयम्।' कौ० अर्थ० २।२४

५. शुक्रनीतिसार ४।११५-११६

६. मनुस्मृति ७।१३०

कि राजा उपज के षड्भाग को अपने वेतन के रूप में प्राप्त करता है। अराजक दशा का अन्त होकर जब राज्यसंस्था का प्रादुर्भाव हुआ, तो जनता ने राजा से यह समय (इकरार) किया, कि राजा सब का धर्मपूर्वक पालन करेगा, और जनता उसे भूमि की पैदावार का छटा भाग और पण्य आदि की आमदनी का एक निश्चित अंश उसके भाग व वृत्ति या वेतन के रूप में प्रदान किया करेगी। इस सिद्धान्त को प्राचीन नीतिग्रन्थों में बार-बार प्रतिपादित किया गया है, और इसका उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया भी जा चुका है। यह स्पष्ट है, कि राजा द्वारा भूमि-कर की प्राप्ति का कारण यह नहीं था कि वह भूमि का स्वामी था। इसका कारण यही था, कि उसने प्रजा के पालन और शत्रुओं से देश की रक्षा करने का जिम्मा लिया था। जो राजा अपने इस कर्तव्य का पालन न करे, प्रजा उसका त्याग करके किसी अन्य को राजा बना सकने का अधिकार रखती थी। इसीलिए महाभारत में भीष्म ने प्रतिपादित किया है, कि जो राजा रक्षा न करे, उसे उसी प्रकार से छोड़ दिया जाए, जैसे टूटी हुई नौका को छोड़ दिया जाता है।[1] कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार भी प्रजा राजा से यह कहने का अधिकार रखती है, कि हम आपको छोड़कर अन्यत्र आश्रय ग्रहण करेंगे।[2]

राजा का राज्य की सम्पूर्ण भूमि पर स्वत्व नहीं माना जाता था, इसे सूचित करने वाले अनेक निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र के 'सीताध्यक्ष' अध्याय में राजा की 'स्वभूमि' (Crown Lands) का उल्लेख कर सीताध्यक्ष के अधीन उन पर दास, कर्मकर (मजदूर) व कैदियों द्वारा खेती कराये जाने का प्रतिपादन है।[3] इस 'स्वभूमि' से षड्भाग प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं था। पर जो कृषक 'स्ववीर्योपजीवी'[4] की स्थति में अपनी भूमि के स्वामी होते हुए खेती करते थे, या जो भूमि-स्वामी दास कर्मकर आदि से खेती करवाते थे, उन्हीं से उपज का छटा, पांचवा या चौथा आदि अंश लिया जाता था। राजा की 'स्वभूमि' के अतिरिक्त ऐसी भूमि भी होती थी, जिस पर राजा का स्वत्व नहीं माना जाता था, यह इससे भी स्पष्ट है कि राजकीय आय के विविध साधनों का परिगणन करते हुए कौटल्य ने भूमि द्वारा प्राप्त आमदनी को सीता और भाग इन दो वर्गों में विभक्त किया है।[5] राजा की 'स्वभूमि' से होने वाली आय को 'सीता' कहते थे, और अन्य भूमि से राजा भाग

१. षडेतान् पुरुषो जह्यात् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥' महा० शान्ति० ५७।४४-४५

२. कौ० अर्थ० १३।१

३. 'बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत्।' कौ० अर्थ० २।२४

४. 'स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिकाः...' कौ० अर्थ० २।२४

५. 'सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पत्तनं विवीतं वर्तनी रज्जुश्चोररज्जुश्च राष्ट्रम्।' कौ० अर्थ० २।६

(छटा, पाँचवाँ, चौथा या तीसरा) ग्रहण करता था। पर कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से यह बात भी सूचित होती है, कि प्राचीन जनपद-युग में ग्राम के क्षेत्र के अन्तर्गत भूमि पर ग्रामसंस्था का नियन्त्रण विद्यमान था। इसीलिए अर्थशास्त्र में लिखा है, कि जो किसान स्वयं खेती न करे, उसकी भूमि दूसरों को दे दी जाए, या 'ग्राम' की ओर से भृति प्राप्त करने वाले व्यक्ति भूमि पर खेती किया करें।[1] ग्राम की ओर से भृति प्राप्त करने वाले व्यक्तियों द्वारा खेती किये जाने की व्यवस्था यह सूचित करती है, कि ग्रामसंस्था का ग्राम की भूमि पर स्वत्त्व विद्यमान था, और किसान का खेत पर तभी तक अधिकार रहता था, जब तक कि वह स्वयं उस पर खेती करे।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिन्दू पोलिटी' में इस प्रश्न पर विशद रूप से विचार किया है, कि क्या प्राचीन नीतिग्रन्थों के अनुसार भूमि पर राजा का स्वामित्त्व माना जाता था। श्री जायसवाल ने प्रतिपादित किया है, कि भूमि पर राजा का स्वत्त्व प्राचीन नीतिकारों को अभिप्रेत नहीं था। इस सम्बन्ध में उन्होंने नीलकण्ठ का जो मत उद्धृत किया है, वह विशेष महत्त्व का है। 'जब कोई राजा किसी अन्य राजा को जीत लेता है, तो विजित राजा के अपने गृह, क्षेत्र, द्रव्य आदि पर विजेता का स्वत्त्व स्थापित हो जाता है। साथ ही, विजित राजा को कर ग्रहण का जो अधिकार था, वह भी विजेता प्राप्त कर लेता है। (पर जिन से कर लिया जाता है, उनकी सम्पत्ति पर) उसका स्वत्त्व नहीं हो जाता। इसीलिए (पूर्व मीमांसा के) छटे भाग में यह कहा गया है, कि सार्वभौम (सम्राट्) को सम्पूर्ण पृथिवी और माण्डलिक (राजा) को मण्डल दे सकने का अधिकार नहीं है। सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल में जो ग्राम क्षेत्र आदि हैं, उन पर स्वत्त्व उनके भौमिकों (भूमिपति) आदि का ही है, राजा का अधिकार तो उनसे केवल कर ग्रहण करने का है। अतः जिसे आधुनिक परिभाषा में (राजा द्वारा) भूमि का दान कहा जाता है, उसका अभिप्राय यही है कि उस भूमि से (प्राप्त होने वाले कर द्वारा) राजा उस व्यक्ति के लिए वृत्ति का साधन बनाता है, जिसे भूमि दान में दी गई है। पर भौमिकों से जब (राजा) गृहक्षेत्र आदि क्रय कर ले, तो वस्तुतः उसका स्वत्त्व हो जाता है।'[2]

माधव ने इसी मन्तव्य को इस प्रकार प्रगट किया है—'दुष्टों के शिक्षण व शिष्टों के परिपालन के कारण राजा का ईशितृत्त्व (स्वामित्त्व) अभिप्रेत है, पर भूमि

---

१. 'अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्, ग्रामभृतकवैदेहका वा कृषेयुः।' कौ० अर्थ० २।१

२. 'जयेऽपि जितस्य यत्र गृहक्षेत्रद्रव्यादौ स्वत्वमासीत्तत्रैव जेतुरप्युपपद्यते। जितस्य करग्राहितायां तु जेतुरपि सैव न स्वत्त्वम्। अतएव सार्वभौमेन सम्पूर्णा पृथ्वी माण्डलिकेन च मण्डलं न देयमित्युक्तं षष्ठे। सम्पूर्णपृथ्वीमण्डलस्य तत्तद्ग्राम क्षेत्रादौ स्वत्त्वं तु तत्तद् भौमिकादीनामेव राज्ञां तु करग्रहणमात्रम्। अतएवेदानींतनपारिभाषिकक्षेत्रदानादौ च भूदानसिद्धिः किन्तु वृत्ति कल्पनमात्रमेव। भौमिकेभ्यः क्रीते तु गृहक्षेत्रादौ स्वत्त्वमस्त्येव।'

Jayaswal: Hindu Polity II, p. 176

राजा की सम्पत्ति नहीं होती। किन्तु भूमि अपने-अपने कर्मों द्वारा फल का उपभोग करते हुए सब प्राणियों का ही धन होती है।'[1] मीमांसा की भट्टदीपिका टीका में भी इसी मत की पुष्टि की गई है। वहाँ लिखा है, कि राजा जो कृषकों से कर लेता है, उसका कारण यह है कि वह परिपालन करता है, और विघ्नों का निवारण करता है। भूमि पर राजा का स्वत्त्व नहीं होता।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि प्राचीन नीतिज्ञों के अनुसार राजा का भूमि पर स्वामित्व नहीं होता था। उसे भूमि की उपज का अंश प्राप्त करने का अधिकार इसी कारण था, क्योंकि प्रजा द्वारा उसके साथकी गई संविदा के अनुसार उसे अपनी भृति या वेतन के रूप में यह अंश प्राप्त होना था।

(३) राजकीय आय के अन्य साधन

भूमिकर के अतिरिक्त राजकीय आय के अन्य भी अनेक साधन प्राचीन भारत में धर्म या प्रथा के अनुकूल माने जाते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में इन साधनों का जो विवरण है, मौर्य-युग की शासनव्यवस्था का निरूपण करते हुए उनका उल्लेख किया जा चुका है। पर महाभारत, मनुस्मृति आदि अन्यत्र भी राजकीय आय के इन साधनों के निर्देश विद्यमान हैं। वस्तुओं की बिक्री पर जो कर लिया जाता था, मनुस्मृति के अनुसार उसकी दरें इस प्रकार थीं—पशु और सोने पर पचासवाँ भाग; धान्य पर आठवाँ भाग; मांस, मधु, घी, सुगन्धि, औषधि, रस, पुष्प, मूल, फल, खाल, मट्टी के बरतन व पत्थर से बनी वस्तुओं पर छटा भाग।[3] पण्य पदार्थों पर कर की प्रायः यही दरें गौतम,[4] वसिष्ठ[5], आपस्तम्ब[6] आदि के धर्मसूत्रों में भी उल्लिखित हैं। पर करों की मात्रा और उनकी वसूली के सम्बन्ध में जितना विशद वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र में है, उतना अन्य ग्रन्थों में नहीं है। केवल शुक्रनीतिसार में इस

---

१. 'दुष्ट शिक्षा शिष्ट परिपालनाभ्यां राज्ञ ईशितृत्वं स्मृत्यभिप्रेतमिति न राज्ञो भूमिर्धनम्। किन्तु तस्यां भूमौ स्वकर्मफलं भुञ्जानानां सर्वेषां प्राणिनां साधारण धनम्।'

Jayaswal : Hindu Polity II, p. 177

२. 'स्वविषय परिपालन कण्टकोद्धारण रूपं तन्निमित्तकं च तस्य कर्षकेभ्यः करादानं दण्ड्येभ्य दण्डादानं इत्येतावन्मात्रम्। न त्वेतावता तस्यां स्वत्त्वम्।......परिक्रयादि-लब्धं गृहक्षेत्रादिकं तु देयमेव।'

Jayaswal : Hindu Polity II, p. 178

३. 'पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव च॥
आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधि रसानाञ्च पुष्प मूल फलस्य च॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च॥' मनुस्मृति ७।१३०-१३२

४. गौतम २४-२७

५. वसिष्ठ १।२६-२७

६. आपस्तम्ब ११।१०, २६, ६

सम्बन्ध में पर्याप्त विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। शुक्र ने लिखा है कि विक्रेता और क्रेता से राजा जो भाग प्राप्त करता है, उसे 'शुल्क' कहते हैं। इस शुल्क को प्राप्त करने के स्थान हैं—सीमा और हट्टमार्ग। जो माल तैयार किया जाए, उस पर प्रयत्न के साथ एक ही बार कर लगाना चाहिए। छलपूर्वक एक बार से अधिक शुल्क लेना उचित नहीं है। विक्रेताओं और क्रेताओं से बत्तीसवाँ, बीसवाँ या सोलहवाँ अंश मूल्य के आधार पर कर लिया जाना चाहिए। यदि कोई विक्रेता अपनी लागत के बराबर या उससे भी कम दाम पर माल का विक्रय कर रहा हो, तो उससे यह शुल्क नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इस कर को लाभ (मुनाफे) की दृष्टि से ही लेना उचित है।[1] शुक्र के अनुसार ये कर नगर की सीमा पर चुंगी के रूप में या हट्टमार्ग (बाजार) में विक्रयकर (Sales Tax) के रूप में लगाये जाते थे। विष्णुस्मृति के अनुसार अपने देश में तैयार किये माल पर मुनाफे का दस प्रतिशत और विदेश से आये हुए माल पर मुनाफे का पाँच प्रतिशत शुल्क के रूप में लेना चाहिए।[2] कौटलीय अर्थशास्त्र में चुङ्गी के रूप में लिये जाने वाले शुल्क का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। वहाँ लिखा है—'शुल्काध्यक्ष नगर के मुख्य द्वार के निकट उत्तर या दक्षिण में शुल्कशाला बनवाये, जिस पर चुङ्गी का झण्डा लगा हो। शुल्क लेने वाले चार या पाँच व्यक्ति विक्रेय माल लेकर आये हुए व्यापारियों से पूछें—आप कौन हैं, आप कहाँ से आये हैं, कितना माल आपके पास है, आपने अभिज्ञान मुद्रा कहाँ से प्राप्त की थी ?[3] यदि माल पर अभिज्ञान मुद्रा न लगी हो, तो दुगना शुल्क लिया जाए और यदि झूठी मुहर लगी हो तो आठ गुना। जिसकी मुहर टूट गई हो, उस माल को शुल्कशाला के गोदाम में पड़े रहने का दण्ड दिया जाए।[4] जहाँ माल तैयार होता था, वहाँ से उसे बिक्री के लिए ले जाने के समय उस पर अभिज्ञान-मुद्रा लगाई जाती

१. 'विक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्कमुदाहृतम्।
शुल्कदेशा हट्टमार्गाः करसीमा प्रकीर्तिताः॥
वस्तुजातस्यैकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः।
क्वचिन्नैवासकृच्छुल्कं राष्ट्रे ग्राह्यं नृपैश्छलात्॥
द्वात्रिंशांशं हरेद्राजा विक्रेतुः क्रेतुरेव च।
विंशांशं वा षोडशांशं शुल्कं मूल्याविरोधकम्॥
न हीनसममूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतो हरेत्।
लाभं दृष्ट्वा सममूल्याद्धि शुल्कं क्रेतृतश्च सदा नृपः॥' शुक्र ४।१०८-१११

२. विष्णु ३।२६

३. 'शुल्काध्यक्षः शुल्कशालाध्वजं च प्राङ्मुखं उदङ्मुखं वा महाद्वाराभ्याशे निवेशयेत्। शुल्कादायिनश्चत्वारः पञ्च वा सार्थोपयातान् वणिजो लिखेयुः के कुतस्त्याः कियत्पण्याः क्व चाभिज्ञान मुद्रा वा कृता इति।' कौ० अर्थ० २।२१

४. 'अमुद्राणामत्ययो देयद्विगुणः। कूटमुद्राणां शुल्काष्टगुणो दण्डः। भिन्नमुद्राणामत्ययो घटिकास्थाने स्थानम्।' कौ० अर्थ० २।२१

थी। चुङ्गी को बचाने के लिए व्यापारी यदि कोई प्रयत्न करें, तो उन्हें जुरमाने के रूप में दंड देने की व्यवस्था भी अर्थशास्त्र में की गई है।

चुंगी के अतिरिक्त उत्पादन-कर (Excise) वसूल करने की व्यवस्था भी अर्थशास्त्र में विद्यमान है। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था उल्लेखनीय है, कि उत्पादन के स्थान पर कोई भी माल नहीं बेचा जा सकता। शुल्क की मात्रा के सम्बन्ध में कौटल्य ने कोई निश्चित निर्देश नहीं दिये हैं। विक्रेताओं से लिये जाने वाले शुल्क के अतिरिक्त कौटल्य ने निष्क्राम्य-कर (Export Duty) और प्रवेश्य-कर (Import Duty) का भी उल्लेख किया है।[1] प्रवेश्य या आयात माल पर शुल्क की दर प्रायः बीस प्रतिशत थी।[2] यद्यपि अनेक प्रकार के माल पर कम कर भी लिया जाता था। कतिपय देशों से आने वाले माल पर कर के सम्बन्ध में अनुग्रह करने की या अधिक कर लेने की बात भी कौटल्य ने लिखी है।[3] अपने देश से बाहर माल भेजते हुए उसकी लागत आदि का अनुमान करके व विदेश में उससे प्राप्त होने वाली कीमत को दृष्टि में रखकर ही कर निर्धारित किया जाता था।[4] अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष कर (Direct taxes) भी प्राचीन समय में प्राप्त किये जाते थे। ये कर प्रधानतया तोल व माप के उपकरणों, द्यूत स्थानों, वेश्यालयों, कारीगरों आदि पर लगते थे। अनेक प्रकार के व्यवसाय राज्य द्वारा अधिकृत थे। नमक, शराब, खनिज द्रव्य, और जंगल आदि मुख्यतया राज्य के ही अधिकार में थे। कतिपय व्यापार भी राज्य द्वारा ही सम्पादित होते थे। उनसे भी राज्य को आमदनी होती थी। विविध स्तरों के न्यायालयों द्वारा निर्धारित जुरमाने भी राज्य की आमदनी के साधन थे। कौटलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार आदि नीति-ग्रन्थों में राजकीय आय के इन्हीं साधनों का उल्लेख है। जिस द्रव्य का कोई स्वामी न हो, उसे भी राज्य का ही माना जाता था। चोर-डाकुओं द्वारा जो धन हरण किया गया हो, उसे भी किसी दावेदार के न होने पर राज्य प्राप्त कर लेता था। विशेष परिस्थितियों में जब राज्य पर कोई संकट उपस्थित हो, तो जनता से राज्य को धन प्रदान करने के लिए 'याचना' (माँग) भी प्रस्तुत की जाती थी। अर्थशास्त्र में इस प्रकार की माँग को 'प्रणय' कहा गया है,[5] और महाभारत में 'प्रार्थना'।[6] यह प्रणय राष्ट्रीय ऋण के रूप में भी होता था, विशेष करों के रूप में भी और राज्य को दान के रूप में भी। राजकीय आय के साधनों व विविध करों की दरों का अधिक विस्तार से

---

१. 'निष्क्राम्यं प्रवेश्यं च शुल्कम्।' कौ० अर्थ० २।२२

२. 'प्रवेश्यानां मूल्यपञ्चभागः।' कौ० अर्थ० २।२२

३. द्वारादेयं शुल्कपञ्चभागं आनुग्राहिकं वा यथादेशोपकारं स्थापयेत्।' कौ० अर्थ० २।२२
'परभूमिजं पण्यमनुग्रहेण आवाहयेत्।' कौ० अर्थ० २।१६

४. कौ० अर्थ० २।१६

५. कौ० अर्थ० ५।२

६. महा० शान्ति० ८७।२६

विवेचन न करते हुए यह निर्दिष्ट करना ही पर्याप्त है, कि राजा जनता से जो कुछ भी प्राप्त करता था, उसका प्रयोजन उन कर्तव्यों का पालन करना ही था, जो दण्डशक्ति के प्रयोक्ता की स्थिति में उसके लिए अनिवार्य रूप से करणीय थे।

(४) राजकीय व्यय

राजकीय आय के समान राजकीय व्यय के सम्बन्ध में कतिपय मन्तव्यों का प्रतिपादन प्राचीन नीतिग्रन्थों में किया गया है। कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय व्यय को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया गया है—(१) देव पूजा—विद्वानों की पूजा या आजीविका (वृत्ति) के लिए किया गया व्यय, (२) पितृ पूजा—राज्य संस्था में पितर-स्थानीय व्यक्तियों पर किया जानेवाला व्यय, (३) दान, (४) स्वस्तिवाचन—धार्मिक कृत्यों व अनुष्ठानों से सम्बन्ध रखने वाला व्यय, (५) अन्तःपुर, (६) महानस—रसोई घर, (७) दूतप्रावर्तिमम्—विदेशों के साथ सम्बन्ध, परराष्ट्र विभाग व राजदूतों पर किया जाने वाला व्यय, (८) कोष्ठागार, (९) आयुधागार, (१०) पण्यगृह, (११) कुप्य-गृह, (१२) कर्मान्त—कारखाने, (१३) विष्टि—बेगार लिए जाने पर मजदूरों को प्रदान किया जाने वाला धन, (१४) पत्ति—पदाति सेना, (१५) अश्व परिग्रह—घोड़ों व घुड़सवारों पर व्यय, (१६) द्विप परिग्रह—हस्ति व हस्ति सेना, (१७) गो-मण्डल—सेना के लिए गौ व बैलों पर व्यय, (१८) पशुवाट—पशुओं का अजायबघर, (१९) पक्षिवाट—चिड़ियाघर, (२०) व्यालवाट—साँपघर, (२१) काष्ठवाट—लकड़ी का भण्डार, (२२) तृणवाट—तृण का भण्डार।[1]

कौटल्य द्वारा प्रतिपादित राजकीय व्यय के इन 'व्यय-शरीरों' में निम्नलिखित ढंग के व्यय हैं—(१) राजा के निजी व्यय, जो अन्तःपुर व महानस पर किए जाते हैं। (२) सैनिक व्यय, जिसमें पदाति, अश्वारोही, हस्ति सेना व सामान ढोने की व्य-वस्था के खर्च अन्तर्गत हैं। (३) अस्त्र शस्त्रों पर किये जाने वाला खर्च। (४) सार्व-जनिक आमोद-प्रमोद के साधनों पर होने वाले व्यय। (५) विदेशों के साथ सम्बन्ध पर होने वाले व्यय। (६) शिक्षा पर व्यय। (७) राजकर्मचारियों के वेतन। (८) राजकीय कारखानों व व्यवसायों पर व्यय। (९) धार्मिक अनुष्ठानों और बाल, वृद्ध, पीड़ित आदि के लिए दान रूपी व्यय। अर्थशास्त्र में विविध अमात्यों व कर्मचारियों के वेतनों की दरें भी दी गई हैं।[2] राजा के अन्तःपुर व महानस का खर्च राजकीय आय में से दिया जाता था, क्योंकि राजा की कोई अन्य स्वतन्त्र आमदनी नहीं थी। शेष सब खर्च इस प्रकार के हैं, जिनका सम्बन्ध राज्य की रक्षा व शासन के साथ है।

शुक्रनीतिसार में राजकीय व्यय के सम्बन्ध में कतिपय मन्तव्य प्रतिपादित किए गये हैं, जो महत्त्व के हैं। वहाँ लिखा है—'जो व्यक्ति अपनी विद्या को समाप्त कर

१. कौ० अर्थ० २।६
२. कौ० अर्थ ५।३

चुके हों, उन्हें कार्य में नियुक्त किया जाए। जो व्यक्ति विद्या व कला में उत्कृष्टता रखते हों, प्रतिवर्ष उनका सम्मान किया जाए। राजा सदा ऐसी व्यवस्था करे, जिससे राज्य में विद्या और कला की निरन्तर उन्नति हो।[1] राज्य में जो भी शास्त्रज्ञ, दैवज्ञ, मान्त्रिक, आयुर्वेद के विद्वान्, कर्मकाण्ड के ज्ञाता, तान्त्रिक व अन्य बुद्धिमान् व जितेन्द्रिय श्रेष्ठ गुणी लोग हों, उन सबका भृति (वेतन) व दान मान द्वारा सत्कार करें। ऐसा न करने पर राजा की अपकीर्ति होती है।[2] राजकीय आय का किस प्रकार विविध कार्यों में व्यय के लिए विभाजन किया जाए, इस विषय पर भी शुक्रनीतिसार में प्रतिपादन किया गया है। सम्पूर्ण आय को छः भागों में विभक्त कर उसके तीन भागों (कुल आय के आधे भाग) को सेना पर खर्च किया जाए, आधे भाग (कुल आय के बारहवें भाग) को दान पर, आधे भाग को पदाधिकारियों पर, आधे भाग को प्रजा के पालन (सार्वजनिक हित के कार्य) पर, आधे भाग को अपने भोग (निजी खर्च) पर और शेष अंश (एक अंश या कुल आय के छटे भाग) को स्थायी कोश में बचत के रूप में रखा जाए।[3] जो राजा राजकीय आय को केवल अपने स्त्री-पुत्रों व निजी भोग पर खर्च करता है, उससे उसे सुख नहीं मिलता, वह उसके लिए नरक का ही कारण होता है।[4] राज्यसंस्था का मुख्य प्रयोजन रक्षा है, अतः स्वाभाविक रूप से शुक्र ने राजकीय आमदनी के आधे अंश को सेना पर खर्च करने की व्यवस्था की है। शिव-तत्त्व-रत्नाकर के अनुसार राजकीय आमदनी के चार भाग करके एक भाग को स्थायी कोश में सञ्चित करना चाहिये, और शेष तीन भागों को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए खर्च करना चाहिए।[5] इसी भाव को कामन्दक ने भी यह लिख कर प्रकट किया है कि त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की परिवृद्धि के लिए यथासमय धन

---

१. 'समाप्तविद्यं संदृष्ट्वा तत्कार्ये तन्नियोजयेत्।
विद्याकलोत्तमान् दृष्ट्वा वत्सरे पूजयेच्च तान्॥
विद्याकलानां वृद्धिः स्यात् तथा कुर्यान्नृपः सदा॥' शुक्र १।३६८-३६९

२ 'ये चान्ये गुणिनः श्रेष्ठाः बुद्धिमन्तो जितेन्द्रियाः॥
तान् सर्वान् पोषयेद् भृत्या दानैर्मानैः सुपूजितान्।
हीयते चान्यथा राजा ह्यकीर्तिं चापि विन्दति॥ शुक्र २।१२३-१२४

३. 'त्रिभिरंशैः बलं धार्यं दानमर्धांशकेन च। अर्धांशेन प्रकृतयो ह्यर्धांशेनाधिकारिणः॥
अर्धांशेनात्मभोगश्च कोशोंऽशेन रक्ष्यते। आयस्यैव षड् विभागै व्ययं कुर्यात् तु वत्सरे॥
शुक्र० १।३१५-३१७

४. 'स्त्री पुत्रार्थंकृतो यश्च स्वोपभोगाय केवलम्।
नरकायैव स ज्ञेयो न परत्र सुखप्रदः॥' शुक्र० ४।४

५. 'राष्ट्रादायातवित्तस्य चतुर्भागान् प्रकल्पयेत्।
धर्मार्थकाम सिद्ध्यर्थं कुर्यात् भागत्रयं व्ययम्।
भागेनैकेन चावश्यं कुर्यात्कोशस्य संचयम्।
कोशात्सुखमवाप्नोति कोशहीनस्तु सीदति॥' शिवतत्वरत्नाकर॥' ६।४५-४६

खर्च किया जाए।[1] कोश के संग्रह को प्राचीन नीतिविशारदों ने बहुत महत्त्व दिया है, क्योंकि राजाओं का आधार कोश पर ही होता है।[2]

(५) राजकीय आय-व्यय का विभाग

प्राचीन भारत में राजकीय आय-व्यय का पृथक् विभाग होता था, जिसमें राजकीय आमदनी और व्यय का पूरा-पूरा हिसाब रखा जाता था। कौटल्य ने लिखा है, कि सन्निधाता पिछले सौ सालों के आय-व्यय की जानकारी रखे, और जब उससे इस सम्बन्ध में पूछा जाए तो वह पुराने सब हिसाब को बता सके।[3] पुराने रिकार्डों को रखने के लिए कौटल्य ने 'अक्षपटलमध्यक्ष' नाम के पदाधिकारी का भी उल्लेख किया है, जिसकी निबन्धपुस्तकों में राज्य सम्बन्धी सब बातें दर्ज की जाती थीं। यह पदाधिकारी निम्नलिखित बातें भी दर्ज करता था—(१) वर्तमान—प्रतिदिन जो धन-कर आदि के रूप में राज्य को प्राप्त हो, (२) पर्युषित—गतवर्ष की आमदनी से जो धन शेष बचा हो, (३) अन्यजात—जो आमदनी जुरमानों, भेंट उपहार द्वारा व किसी व्यक्ति के वारिस न होने के कारण राज्य को प्राप्त हो जाय।[4] इससे सूचित होता है, कि प्राचीन समय में राजकीय आमदनी का नियमित रूप से हिसाब रखा जाता था। इसी प्रकार खर्च के हिसाब के सम्बन्ध में भी कौटल्य ने उल्लेख किया है।

शुक्रनीति में भी मन्त्री के लिए यह प्रतिपादन किया है। कि वह राजकोश में सञ्चित धन, ऋण द्वारा प्राप्त धन और करों की आमदनी का हिसाब रखकर राजा को उसके सम्बन्ध में सूचना देता रहे।

१. कालं चास्य व्ययं कुर्यात् त्रिवर्गपरिवृद्धये।' कामन्दक ५।७६

२. 'कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः।
कोशमूला हि राजानः कोश वृद्धिकरो भवेत्॥' महा० शान्ति० ११९।१६

३. 'बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्यात् वर्षशतादपि।
यथापृष्टो न सज्जेत व्ययशेषं च दर्शयेत्॥ कौ० अर्थ० २।५

४. कौ० अर्थ० २।६

उन्नीसवाँ अध्याय

कानून और न्यायव्यवस्था

(१) कानून का स्वरूप

मनुष्यों के आचरण के सम्बन्ध में कतिपय ऐसे नियमों की सत्ता होती है, जो राज्यसंस्था द्वारा स्वीकृत होते हैं, और जिनका पालन कराने के लिए राजशक्ति का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं नियमों को कानून कहते हैं। कानून केवल वे ही नहीं होते, जिनका निर्माण राज्य की विधान सभा द्वारा किया जाता है। अनेक परम्परागत प्रथाएँ (Customs) भी कानून की स्थिति रखती हैं। प्राय: ये परम्परागत प्रथाएँ भी विधानसभा द्वारा लेखबद्ध रूप प्राप्त कर लेती हैं, और इस प्रकार इनको भी एक सुनिश्चित व लिखित रूप दे दिया जाता है। आधुनिक समय में विधानसभाओं द्वारा विहित (enacted) कानून का महत्त्व बहुत बढ़ गया है, पर प्राचीनकाल में सभी देशों में कानून का बड़ा भाग परम्परागत प्रथाओं पर ही आश्रित होता था। जिसे विहित या निर्मित कानून कहते हैं, उसकी मात्रा प्राचीन समय में बहुत कम होती थी।

प्राचीन भारत में कानून का क्या स्वरूप था, इसे समझने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—(१) क्योंकि भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, अत: इन सब जनपदों की परम्परागत प्रथाएँ एक सदृश नहीं थीं। यही कारण है, कि इस देश का परम्परागत कानून सर्वत्र एक न होकर विभिन्न प्रकार का था। (२) विविध जनपदों में जो विभिन्न ग्राम व नगर थे, उनकी स्थानीय प्रथाएँ भी एक सदृश नहीं थीं। जनपदों के निवासी अनेक श्रेणियों, जातियों व निगमों में संगठित थे, जो अपने सम्बन्ध में स्वयं कानून बनाने का अधिकार रखते थे। राज्यसंस्था इस श्रेणिधर्म, जातिधर्म व नैगम धर्म को स्वीकार करती थी। इन कारण भी प्राचीन भारत में कानून की विविधता उत्पन्न होती थी। (३) इन स्थानीय कानूनों के अतिरिक्त राजाओं द्वारा भी अनेकविध 'शासन' (Decrees) प्रकाशित की जाती थी, जो कि कानून की स्थिति रखती थीं। (४) पर ये विविध प्रकार के कानून तभी मान्य होते थे, जब कि वे 'धर्म' के विरुद्ध न हों। प्राचीन भारत में कानून का मुख्य आधार 'धर्म' को ही माना जाता था। धर्म क्या है, इसका निश्चय

वेद, वेदांग व धर्मशास्त्रों के आधार पर किया जाता था। पर वेदशास्त्र को क्या अभिमत है, इस सम्बन्ध में सन्देह होने पर 'सत्य' या 'ऋत' के आधार पर अन्तिम निर्णय किया जाता था।

कौटलीय अर्थशास्त्र में कानून के चार आधार प्रतिपादित किये गए हैं—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इन चार का अभिप्राय क्या है, यह भी अर्थशास्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है। धर्म सत्य पर आश्रित होता है, व्यवहार साक्षियों पर, चरित्र मनुष्यों के समूहों में चली आ रही प्रथाओं पर निर्भर करता है, और राजा की आज्ञाओं को शासन कहते हैं।[1] कौटल्य के इस मत पर हम एक पिछले अध्याय में विशद रूप से विचार कर चुके हैं।

गौतम संहिता में कानून के निम्नलिखित आधारों का उल्लेख है—(१) वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग, उपवेद और पुराण। (२) देशधर्म, जातिधर्म और कुलधर्म, यदि वे आम्नाय (वेद आदि) के विरुद्ध न हों। (३) व्यवहार। (४) विप्रतिपत्ति (आशंका) होने पर त्रयीविद्या के विशेषज्ञों द्वारा जो निर्धारित किया जाए।[2] गौतम ने राजशासन का कानून के आधार के रूप में उल्लेख नहीं किया है। अन्य आधार प्रायः वही हैं, जो कौटल्य ने प्रतिपादित किये हैं। जिसे कौटल्य ने चरित्र कहा है, उसी को गौतम ने देशधर्म आदि के रूप में उल्लिखित किया है।

मनुस्मृति के अनुसार वेद, स्मृति, शिष्ट पुरुषों के आचार और आत्म तुष्टि—ये कानून के आधार हैं।[3] आत्मतुष्टि का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः, यह उस व्यवहार को सूचित करता है, जिसे विविध पक्ष स्वयं सन्तुष्ट होकर पारस्परिक सहमति से निर्धारित करते हैं। गौतम और कौटल्य ने इसी को 'व्यवहार' शब्द से कहा है, और व्यवहार क्या है इसका निर्धारण कौटल्य के अनुसार साक्षियों के आधार पर ही किया जा सकता है।

सूत्र-ग्रन्थों में कानून का मुख्य आधार वेद शास्त्रों को माना गया है। आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार धर्म व्याख्या का मूल स्थान वेद है, तथा इतिहास व स्मृति और आचार से भी धर्मव्यवस्था का ज्ञान होता है।[4] वाशिष्ठ सूत्र के अनुसार भी धर्मव्यवस्था का निश्चय वेद, इतिहास व स्मृतियों द्वारा होता है। जहाँ इनसे निश्चय

१. कौ० अर्थ०

२. 'व्यवहारो वेदा धर्मशास्त्राण्यंगान्युपवेदाः पुराणं देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैः अविरुद्धाः प्रमाणाः। न्यायाधिगमेतर्कोऽभ्युपायस्तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत्। विप्रतिपत्तौ त्रयीविद्यावृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत्।' गौतम ११।१९-२६

३. 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृत्यशीलं च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनां आत्मनस्तुष्टिरेव च॥' मनु २।६

४. आपस्तम्ब १।१।१।२-३

न हो सके, वहाँ शिष्टजनों का आचार ही प्रामाणिक समझना चाहिए।[1] साथ ही, देश, जाति व कुलों के चरित्र (परम्परागत प्रथाएँ) का भी अनुसरण किया जाना चाहिए, यदि वे वेद के विरुद्ध न हों।[2] बौधायन सूत्र के अनुसार भी वेद, स्मृति और शिष्टजनों के आचार धर्मव्यवस्था के आधार स्वीकृत किये गए हैं।[3]

धर्मशास्त्रों व नीतिग्रन्थों के ये मन्तव्य महत्त्व के हैं। प्राचीन भारत में कानून का प्रधान आधार वह धर्म था, जिसका प्रतिपादन वेद, शास्त्र, स्मृति व इतिहास-पुराण में किया गया है। पर त्रयी द्वारा प्रतिपादित इस धर्म के अतिरिक्त वह चरित्र (परम्परागत प्रथाएँ) व आचार भी कानून के अंग थे, जो विविध जनपदों (देशों), जातियों, कुलों व श्रेणी आदि अन्य समूहों में विद्यमान थे। ऐसा व्यवहार (मनुष्यों द्वारा निर्धारित व्यवहार) भी कानून का अंग था, जो कि धर्म के विरुद्ध न हो। धर्मशास्त्रों में राजकीय आज्ञाओं को कानून का अंग नहीं लिखा गया है, क्योंकि जिस युग के साथ इन शास्त्रों का सम्बन्ध है, उसमें राजा द्वारा विहित कानून का प्रायः अभाव था। पर जब भारत में विजिगीषु राजाओं ने अपनी शक्ति द्वारा बड़े महाजनपदों व राज्यों की स्थापना कर ली, तो उनका 'शासन' भी कानून का अंग माना जाने लगा। इसी कारण कौटल्य ने राजशासन को भी कानून का अन्यतम अंग स्वीकार किया है। बाद में राज्यसंस्था के और अधिक विकसित हो जाने पर न्याय (न्यायालयों के निर्णय) और मीमांसा (कानूनों की व्याख्या) को भी कानून का अंग माना जाने लगा। इसी कारण याज्ञवल्क्य-स्मृति ने श्रुति, स्मृति, शिष्टाचरण, विविध समूहों के चरित्र व व्यवहार, न्याय, मीमांसा और राजकीय आज्ञाओं को कानून का आधार प्रतिपादित किया है।[4] निस्सन्देह, याज्ञवल्क्य स्मृति भारतीय राज्यसंस्थाओं के एक ऐसे रूप को प्रकट करती है, जब कि कानून का स्वरूप भली भाँति विकसित हो चुका था। शुक्रनीतिसार में भी कानून के ये ही आधार प्रतिपादित हैं। वहाँ लिखा है, कि विविध मनुष्यों व उनके समूहों द्वारा जो प्राचीन व वर्तमान (नवीन) धर्म अनुसरित किये जा रहे हों, शास्त्रों में जिन धर्मों का प्रतिपादन किया गया हो, पण्डित उनका चिन्तन (विचार) करके राजा को बता दे, और साथ ही यह भी कि कौनसे धर्म (कानून) शास्त्र व लोक चरित्र के विरुद्ध हैं।[5] शुक्र के अनुसार राजा को चाहिए कि देश, जाति, जनपद, कुल व श्रेणी (देश जाति जनपद कुल व श्रेणी के रूप में संगठित

१. वाशिष्ठ सूत्र १।४-५
२. वाशिष्ठ सूत्र १।१७
३. बौधायन सूत्र १।१-४
४. याज्ञवल्क्य स्मृति १।३,७
५. 'वर्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के च लोकसंश्रिताः।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना॥
लोकशास्त्र विरुद्धाः के पण्डितस्तान् विचिन्त्य च।
नृपं सम्बोधयेत् तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः॥' शुक्रनीतिसार २।९९-१००

मनुष्यों के समूहों) के जो धर्म (कानून) हों, उनकी समीक्षा करके ही अपने धर्म का प्रतिपादन करे। जनपद, श्रेणी आदि के धर्मों का पालन करना आवश्यक है, अन्यथा प्रजा में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।[1] इन परम्परागत धर्मों (Customary laws) को शुक्र ने 'देश दृष्ट' कहा है, और वेदशास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म को, 'शास्त्र दृष्ट'। इन कानूनों के अतिरिक्त राजा द्वारा जारी किये गए कानूनों के सम्बन्ध में शुक्र ने लिखा है, कि राजा को चाहिए कि अपने शासन (राजा द्वारा जारी की गई आज्ञाओं) को लिखकर चौराहे पर लगवा दे।[2]

प्राचीन भारत में कानून का क्या स्वरूप था, यह इस विवेचन से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। अत्यन्त प्राचीन समय में जब कि भारत में बहुत-से छोटे-छोटे जनपदों की सत्ता थी, न्याय-कार्य के लिए वेदशास्त्र द्वारा विहित धर्म का ही प्रयोग किया जाता था। आर्थिक जीवन व स्थानीय स्वशासन के विकास के साथ-साथ जनपद, कुल व श्रेणी आदि के परम्परागत धर्म का विकास हुआ, और उसे भी मान्य समझा जाने लगा। परस्पर आर्थिक व अन्य बरताव करते हुए विविध मनुष्य जो 'व्यवहार' करते थे, उसे भी स्वीकृति प्राप्त होने लगी, बशर्ते कि यह व्यवहार शास्त्र-विरुद्ध न हो। शक्तिशाली राजाओं के नेतृत्व में राज्यों का विस्तार होने पर 'राजशासन' भी कानून का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया, और कानून के सम्बन्ध में विचिकित्सा उत्पन्न होने पर न्याय-सम्बन्धी निर्णयों और धर्म की मीमांसा का भी महत्त्व बढ़ता गया। प्राचीन भारतीय कानून के ये ही विविध अंग थे। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि भारत के प्राचीन कानून के मुख्य आधार वे परम्परागत धर्म ही थे, जिनके सम्बन्ध में श्रुति और स्मृति द्वारा परिचय प्राप्त किया जा सकता था। वेद में भारत के प्राचीनतम आदर्श, मन्तव्य व विचार संगृहीत हैं, इसीलिए परम्परागत धर्म का आदि स्रोत उन्हीं को माना गया है।

(२) राजा का कानून के अधीन होना

क्योंकि भारत के प्राचीन कानून में राजशासन का महत्त्व अधिक नहीं था, और वह स्वयं कोई ऐसा शासन जारी नहीं कर सकता था, जो शास्त्रदिष्ट और लोकदृष्ट कानूनों के विरुद्ध हो, अतः स्वाभाविक रूप से प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे अनेक निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे सूचित होता है कि राजा स्वयं भी कानून के अधीन था।

१. 'प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणी धर्मा स्तथैव च।
समीक्ष्य कुल धर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥
देश जाति कुलानां च ये धर्माः प्राक् प्रवर्तिताः।
तथैव ते पालनायाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा॥ शुक्रनीतिसार ४।४७-४८

२. लिखित्वा शासनं राजा धारयीत चतुष्पथे।
सदा चोद्यतदण्डः स्यादसाधुषु च साधुषु॥' शुक्रनीतिसार १।३१२

—२३

बृहदारण्यक उपनिषद् के एक संदर्भ में ब्रह्म, क्षत्र और विशः की उत्पत्ति का वर्णन करने के अनन्तर यह लिखा है, कि केवल ब्रह्म, क्षत्र और विशः की उत्पत्ति से काम नहीं चल सका, अतः उन सबसे श्रेष्ठ रूप (अधिक उच्च स्थिति वाले) 'धर्म' की उत्पत्ति की गई। यह जो धर्म है, वह क्षत्र (शासनशक्ति) का भी क्षत्र (क्षत्र या राजा को भी शासन में रखने वाला) है। धर्म से ऊपर अन्य कोई सत्ता नहीं है। यह धर्म ही है, जिसके कारण बलवान् और निर्बल—सब एक साथ मिलकर रहते हैं। राजा इसी धर्म के द्वारा राज्य का शासन करता है। धर्म क्या है? सत्य ही धर्म है। इसीलिए जो सत्य कहता है, वह धर्म कहता है; और जो धर्म कहता है, वह सत्य कहता है। सत्य और धर्म एक ही बात हैं।[1] उपनिषद् के इस संदर्भ में धर्म को सबसे ऊँचा स्थान प्रदान किया गया है। राजा के लिए आवश्यक था, कि वह इस धर्म के अनुसार ही शासन करे, कभी स्वेच्छाचारी न हो। धर्म उन सर्वसम्मत नियमों का नाम था, जो सत्य पर आश्रित थे।

क्योंकि राजा धर्म (कानून) से ऊपर नहीं था, इसी कारण मनुस्मृति में यह व्यवस्था की गई है, कि जिस अपराध के लिए साधारण मनुष्य को एक कार्षापण का दण्ड दिया जाए, उसी के लिए राजा को एक सहस्र कार्षापणों का दण्ड दिया जाना चाहिए।[2] इसी कारण राज्याभिषेक के अवसर पर राजा की पीठ को तीन बार दण्ड से छुआ जाता था, ताकि उसे दण्ड के अधीन होने का बोध रहे।[3] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है, कि यदि राजा एक दण्डनीय अपराध के लिए दण्ड नहीं देता, तो उसे अपराधी समझना चाहिए।[4] गौतमसूत्र के अनुसार जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड देकर अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, उसे अपराधी समझना चाहिए।[5] वाशिष्ठ सूत्र में इसी विचार को अधिक विस्तार के साथ प्रगट किया गया है—यदि दण्ड के योग्य कोई अपराधी दण्ड से छूट जाए, तो राजा को एक दिन और एक रात भूखा रहना चाहिए। यदि किसी निरपराधी पुरुष को दण्ड मिल जाए, तो राजपुरोहित को कृच्छ्रव्रत करना चाहिए, और राजा को तीन दिन व तीन रात उपवास करना चाहिए।····चोर का अपराध उस राजा पर भी पड़ता है, जो चोर के अपराधों को क्षमा करता है। अपराधी के पापों को क्षमा करने वाला राजा पाप का भागी होता

---

१. 'स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद् धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।' बृहदारण्यक १।४।१४

२. 'कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यो सहस्रमिति धारणा॥' मनु० ८।३३६

३. शतपथ ब्राह्मण ५।४।४।७

४. आपस्तम्ब २।११।२८।१३

५. गौतम १२।४८

है।[1] धर्मशास्त्रों के ये निर्देश स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं, कि कानून के प्रयोग में राजा स्वतन्त्र नहीं था, अपितु स्वयं अपराध करने पर वह जहाँ स्वयं दण्डनीय था, वहाँ यदि दण्डशक्ति के प्रयोग में वह शिथिलता करता था, तो भी उसे प्रायश्चित्त आदि के रूप में दण्ड ग्रहण करना होता था।

महाभारत के शान्तिपर्व में राजा मान्धाता और ऋषि उचथ्य का एक संवाद उद्धृत है, जिसमें उचथ्य ने राजा की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध बड़े उग्ररूप में अपना मन्तव्य प्रतिपादित किया है। वहाँ लिखा है—जिस राजा के राज्य में दूसरों से अपमानित, हत व क्लेशप्राप्त व्यक्ति का कोई रक्षक नहीं होता, उस राजा को दण्ड ही नाश कर देता है। तुम बलस्थ (बल या दण्ड के प्रयोग के अधिकार को प्राप्त) होकर दुर्बलों की रक्षा व पालन करो। कहीं दुर्बल व्यक्ति की आँखें तुम्हें भस्म न कर दें। राजा का धर्म यह है, कि वह अपने पुत्र के अपराध को भी क्षमा न करे। यदि राजा का कोई प्रिय व्यक्ति भी कोई अपराध करे, तो राजा का धर्म है कि उसे भी कभी सहन न करे।[2] शुक्रनीतिसार में राजा की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध यह लिखा है, कि यदि राजा स्वेच्छाचारी होकर कार्य करने लगे, तो उसका परिणाम अनर्थ ही होगा, प्रजा ऐसे राजा के विरुद्ध हो जायगी और उसे अपने राष्ट्र से हाथ धोना पड़ेगा।[3]

(३) न्याय विभाग का संगठन व कार्यविधि

प्राचीन भारत में न्याय विभाग के संगठन का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में शासन व्यवस्था का विवेचन करते हुए यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है। वैदिक युग में न्याय का कार्य 'सभा' के अधीन था। इसीलिए वेदों में सभा को 'किल्विषस्पृत्' (पापों या अपराधों के लिए दण्ड देने वाली) कहा गया है,[4] और सभाचर को धर्म के लिए बलि देने की व्यवस्था की गई है।[5] बाद में जब राज्यसंस्था का विकास

---

१. वाशिष्ठ सूत्र १६।४०-४६

२. 'विमानितो हतः क्लिष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम्॥ १८
मा स्म तात बलस्थस्त्वं भुञ्जीथा दुर्बलं जनम्।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाशयम्॥ १६
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते॥ ३२
पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन च।
प्रियस्यापि न मृष्येत् स राज्ञो धर्म उच्यते॥ ३५ महा० शान्ति० अ० ६१

३. 'प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते।
भिन्न राष्ट्रो भवेत् सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च॥' शुक्रनीतिसार २।४

४. 'सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्विषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥ ऋग्वेद १०।७१।१०

५. यजुर्वेद ३०।६

हुआ, तो न्याय विभाग के संगठन में भी विकास हुआ। प्राचीन नीतिग्रन्थों व स्मृतियों के अनुशीलन से न्याय-विभाग के संगठन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

धर्म सूत्रों में न्यायाधीश पद के लिए आवश्यक गुणों व योग्यताओं का प्रतिपादन किया गया है। आपस्तम्ब के अनुसार पूर्ण विद्वान, पवित्र कुल के उत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्तव्यपालन में सावधान व्यक्तियों को ही न्यायाधीश बनाना चाहिये।[1] क्योंकि प्राचीन समय में धर्म, सत्य व उचित-अनुचित के परिज्ञान के लिए श्रुति स्मृति का ही आश्रय लिया जाता था, अतः ऐसे व्यक्ति ही न्यायाधीश हो सकते थे, जो कि वेद शास्त्रों में पारंगत हों। सूत्र ग्रन्थों में एक दशावरा परिषद् का उल्लेख है, जिसके दस सदस्यों में चार वेदों के ज्ञाता, एक मीमांसक, एक वेदाङ्गों का ज्ञाता, एक धर्मशास्त्रों का पण्डित और तीन अन्य व्यक्ति होते थे।[2] यह परिषद् सम्भवतः धर्म या कानून के अभिप्राय को स्पष्ट करने का कार्य करती थी। न्याय कार्य के लिए और कानून के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए जहाँ विद्वान् न्यायाधीश नियुक्त किये जाते थे, वहाँ राजा स्वयं भी न्याय का कार्य करता था। वाशिष्ठ सूत्र से यही बात सूचित होती है।[3]

स्मृतियों के युग में भी न्यायकार्य के लिए सभा की सत्ता थी। सम्भवतः, न्यायालय के लिए ही इन ग्रन्थों में सभा शब्द का प्रयोग किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा को ऐसे सभासद् नियत करने चाहियें, जो धर्मज्ञ, सत्यवादी, बहुश्रुत, अध्ययनशील और मित्र व शत्रु में समदृष्टि रखने वाले हों। क्योंकि कार्यवश राजा स्वयं व्यवहारों (कानूनों) का अवलोकन नहीं कर सकता, अतः वह एक ऐसे ब्राह्मण को अन्य सभ्यों के साथ इस कार्य के लिए नियुक्त करे, जो कि सब धर्मों (कानूनों) का वेत्ता हो।[4] मनुस्मृति में भी प्रायः इन्हीं शब्दों द्वारा न्याय कार्य के लिए तीन अन्य सभ्यों के साथ एक ब्राह्मण की नियुक्ति प्रतिपादित की गई है।[5] न्याय के सम्बन्ध में मनु के ये श्लोक उल्लेखनीय हैं—'मनुष्यों में विवाद के जो विविध स्थान (विषय या पद) हों, उनका निर्णय शाश्वत धर्म का आश्रय लेकर किया जाए। जिस सभा (न्यायालय) में अधर्म द्वारा धर्म का भेदन होता है, और धर्म का भेदन करने

१ आपस्तम्ब २।११।२६।५
२. बौधायन १।१।१।८
३. वाशिष्ठ १६।२
४. 'श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥
अपश्यता कार्यवशाद् व्यवहारान् नृपेण तु।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित्॥' याज्ञवल्क्य स्मृति २।२-३
५. मनुस्मृति ८।६-११

वाले अधर्म-रूपी बाण को सभासद् नहीं निकाल पाते, वस्तुतः वे (सभासद्) स्वयं ही अधर्म द्वारा विद्ध हो जाते हैं। या तो सभा में प्रवेश ही न करे (उसका सभासद् ही न बने), यदि प्रवेश करे तो वहाँ विचारपूर्वक अपनी सम्मति को प्रगट करे। जो मनुष्य सभा में अपनी सम्मति को प्रकट नहीं करता या अन्यथा बात कहता है, वह पाप का भागी बनता है। जिस सभा में अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य की हत्या होती है, ऐसा होते हुए देखने वाले सभासद् स्वयं हत हो जाते हैं। वस्तुतः, धर्म ही वृष (सबसे ऊपर) होता है, जो कोई इस धर्म की हत्या करता है, उसी को वृषल कहते हैं। अतः धर्म का कभी लोप न होने दे।[1] स्मृतिकारों की दृष्टि में कानून के अनुसार न्याय का कितना महत्त्व था, और इस सम्बन्ध में सभा (न्यायालय) और उसके सदस्यों की कितनी अधिक उत्तरदायिता थी, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। सभा में वादों (मुकदमों) का निर्णय करने के लिए साक्षी का बहुत महत्त्व माना जाता था। किन व्यक्तियों की साक्षी को महत्त्व दिया जाए, साक्षी का सत्य होना कितना आवश्यक है, और असत्य साक्षी देना कितना हानिकारक व अनुचित है—मनुस्मृति में इस विषय का विशद रूप से विवेचन किया गया है।[2]

शुक्रनीतिसार में न्याय विभाग के संगठन का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार लोक व्यवहार और धर्म के ज्ञाता तथा वेद के विद्वान् तीन, पाँच या सात विप्र जहाँ उपस्थित हों, वह सभा यज्ञ के सदृश होती है।[3] सभा के ये सभासद् व्यवहार के ज्ञाता, प्राज्ञ, शीलसम्पन्न, शत्रु और मित्र को समान दृष्टि से देखने वाले, धर्मज्ञ, सत्यवादी, आलस्य से रहित, क्रोध, काम व लोभ पर विजय प्राप्त किये हुए और प्रियंवद होने चाहियें। इनकी नियुक्ति सब जातियों के व्यक्तियों में से की जानी चाहिये।[4] सभा (न्यायालय) के सम्मुख किस प्रकार अभियोग उपस्थित किये जाएँ, किस प्रकार गवाही ली जाए, कैसे वाद-विवाद हो और कैसे निर्णय किये जाएँ, इस सम्बन्ध में भी शुक्रनीतिसार में विशद रूप से विवेचन किया गया है।[5]

पर न्यायालयों के संगठन के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट व प्रामाणिक परि-

---

१. 'एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्। धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम ॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते। शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥
सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम। अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥
वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत्॥"
मनुस्मृति ८।८,१२-१४,१६

२. मनुस्मृति ८।६३-९६

३. 'लोक वेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञ सदृशी सभा॥' शुक्र० ४।५।२६

४. शुक्रनीतिसार ४।५।१६-१७

५: शुक्रनीतिसार ४।५।६६-१९६

चय हमें कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है। अर्थशास्त्र के अनुसार न्यायालय दो प्रकार के होते थे, धर्मस्थीय और कण्टक शोधन।

धर्मस्थीय और कण्टक शोधन न्यायालय न केवल राज्य की राजधानी में स्थापित किये जाते थे, अपितु राज्य के उपविभागों—जनपदसन्धि, द्रोणमुख, संग्रहण आदि में भी उनकी सत्ता होती थी। धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायाधीश को 'धर्मस्थ' कहते थे, और कण्टकशोधन के न्यायाधीश को प्रदेष्टा। धर्मस्थीय में निम्नलिखित प्रकार के वाद विचारार्थ प्रस्तुत किये जाते थे—(१) व्यवहार स्थापना-व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी मामले। (२) समय-स्यानपाकर्म—आपस में जो समय (Contract) किये गये हों, उनके उल्लंघन के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामले। (३) स्वाम्यधिकार—स्वामी (Employer) के अधिकार व कर्तव्य सम्बन्धी विवाद। (४) भृतकाधिकारः—भृतकों (Employees) के अधिकार व कर्तव्य सम्बन्धी मामले। (५) दासकल्पः—दासों के मामले। (६) ऋणादानम्—ऋणसम्बन्धी विवाद। (७) औपनिधिकम्—धन को अमानत पर रखने से उत्पन्न हुए विवाद, (८) विक्रीतक्रीतानुशयः—क्रय-विक्रय सम्बन्धी मामले। (९) दत्तस्यनपाकर्म—दिये हुए दान को लौटाने या प्रतिज्ञात धन को न देने के मामले। (१०) साहसम्—डाके या चोरी के मुकदमे। (११) दण्ड-पारुष्यम्—हमला करने के मामले। (१२) वाक्यपारुष्यम्—गाली, कुवचन या मानहानि के मुकदमे। (१३) द्यूतसमाह्वयम्—जुए सम्बन्धी झगड़े। (१४) अस्वामिविक्रयः—मल्कियत के बिना ही किसी सम्पत्ति को बेच देने के कारण उत्पन्न विवाद। (१५) स्वस्वामिसम्बन्धः—मल्कियत सम्बन्धी झगड़े। (१६) सीमा विवादः—स्थावर सम्पत्ति के सीमासम्बन्धी विवाद। (१७) वास्तुकम्—इमारतों के साथ सम्बन्ध रखने वाले झगड़े। (१८) विवाहसंयुक्तं—विवाह सम्बन्धी विवाद। (१९) स्त्रीधनकल्पः—स्त्रीधन सम्बन्धी मुकदमे। (२०) विवाह धर्मः—पतिपत्नी सम्बन्धी विवाद। (२१) दायविभागः—सम्पत्ति के बंटवारे और उत्तराधिकार विषयक विवाद। (२२) विवीतक्षेत्रपथ हिंसा—चरागाहों, खेतों और मार्गों को नुकसान पहुँचाने के साथ सम्बन्ध रखने वाले मुकदमे। (२३) सम्भूय-समुत्थानम्—सहयोग व सम्मिलित पूंजी के कारोबार से सम्बन्ध रखने वाले विवाद। (२४) बाधाबाधिकम्—विविध रुकावटें पैदा करने के मामले। (२५) विवादपद-निबन्ध :—न्यायालय में स्वीकृत कार्यविधि व निर्णयविधि सम्बन्धी विवाद। (२६) प्रकीर्णानि—विविध।[1]

कण्टकशोधन के विचारणीय विषय निम्नलिखित थे—(१) कारुकरक्षणम्—शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा। (२) वैदेहकरक्षणम्—व्यापारियों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा। (३) उपनिपात प्रतीकारः—

१. कौ० अर्थ० ३।१-२०

राष्ट्रीय व सार्वजनिक विपत्तियों के निराकरण के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामले। (४) गूढ़ाजीविनां रक्षा—गूढ़ उपायों से आजीविका चलाने वालों का दमन। (५) सिद्ध व्यञ्जनैर्माणव प्रकाशनम्—अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियों की गिरफ्तारी। (६) शङ्कारूपकर्माभिग्रहः—सन्देह होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफ्तारी। (७) आशुमृतकपरीक्षा—मृतदेह की परीक्षा द्वारा मृत्यु के कारण का पता करना। (८) वाक्यकर्मानुयोग :—अपराध का पता करने के लिए विविध प्रकार के प्रश्नों तथा कर्मों (शारीरिक कष्ट आदि) का प्रयोग। (९) सर्वाधिकरणरक्षरम्—सरकार के सब विभागों की रक्षा और उनमें नियन्त्रण की स्थापना। (१०) एकांगवधनिष्क्रयः—किसी अंग को काट देने की सजा देना या उसके बदले में जुरमाना वसूल करने की व्यवस्था करना। (११) शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः—शारीरिक कष्ट के साथ या उसके विना मृत्युदण्ड देने का निर्णय। (१२) कन्यापकर्म—कन्याओं पर बलात्कार के मुकदमे। (१३) अतिचारदण्डः'—विविध प्रकार की मर्यादाओं के अतिक्रमण करने पर मुकदमे तथा दण्ड की व्यवस्था।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इन विभिन्न प्रकार के मुकदमों का विवरण देते हुए उन सब कानूनों का भी उल्लेख किया है, जिनके अनुसार इन मुकदमों का निर्णय किया जाता था।[1] साथ ही, इन मुकदमों में जो दण्ड दिये जाते थे, उन का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है। प्राचीन भारतीय कानून और दण्ड-व्यवस्था का परिचय प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्र के ये प्रकरण अत्यन्त महत्त्व के हैं। न्यायालयों की कार्यविधि पर भी इनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब कोई मुकदमा न्यायालय के सम्मुख उपस्थित होता था, तो उसके सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें दर्ज की जाती थीं—(१) ठीक तिथि, जिससे वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष और दिन का ठीक-ठीक पता लग सके। (२) अपराध या वाद का स्वरूप। (३) घटनास्थल। (४) यदि ऋण का मुकदमा है, तो ऋण की मात्रा। (५) वादी और प्रतिवादी दोनों का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम और पेशा। (६) दोनों पक्षों की युक्तियों और प्रत्युक्तियों का पूरा-पूरा विवरण। मुकदमे की सुनवाई के समय परोक्त दोष से बचने का यत्न किया जाता था। परोक्त दोष इन दशाओं में उत्पन्न होता था—(१) जिरह के समय प्रसंग की बात को छोड़कर अन्य बात कहने लगना। (२) पहली कही हुई बात का बाद में स्वयं खण्डन करना। (३) बार-बार अन्य व्यक्ति से परामर्श लेने का आग्रह करना। (४) प्रश्न का उत्तर देते हुए न्यायालय द्वारा 'निर्दिश' कहने पर निर्दिष्ट न कर सकना। (५) जो-कुछ पूछा जा रहा हो, उसका उत्तर न देकर अन्य बातें कहना। (६) पहले कही हुई बात से बाद में मुकर जाना। (७) अपने गवाह द्वारा कही गई बात को स्वयं

१. कौ० अर्थ० ४।१-१३

न मानना। (८) न्यायालय में बिना आज्ञा के अपने गवाहों के साथ बातचीत करना।[१]

प्रतिवादी को अभियोग का जवाब देने के लिए तीन से सात दिन तक का समय दिया जाता था। इससे अधिक समय लेने पर प्रतिदिन के हिसाब से तीन पण से बारह पण तक जुरमाना देना पड़ता था। इस प्रकार मुकदमा तैयार करने के लिए अधिक-से-अधिक पन्द्रह दिन दिये जा सकते थे।[२] मुकदमों के निर्णय में साक्षियों की बहुत महत्ता थी। कौटल्य के अनुसार श्याल, सहाय (साझीदार), आबद्ध (कैदी), धनिक (उत्तमर्ण), धारणिक (अधमर्ण), वैरी, धृत (आश्रित व्यक्ति) और दण्डित (पहले कभी दण्डित हुआ) व्यक्ति साक्षी के लिए उपयुक्त नहीं थे, क्योंकि वादी या प्रतिवादी के प्रति इनका पक्षपात होना स्वाभाविक था। विशेष अवस्थाओं के अतिरिक्त राजा, श्रोत्रिय, ग्रामभृतक (ग्राम की सेवा में नियुक्त), कोढ़ी, व्रणों से पीड़ित, पतित, चंडाल, कुत्सित कर्म वाले लोग, अन्धे, बहरे व राजपुरुष आदि को भी साक्षी के रूप में पेश नहीं किया जा सकता था।[३] गवाही देने से पूर्व साक्षी को सत्य बोलने की शपथ ग्रहण करनी होती थी। यदि साक्षियों की गवाही में भेद हो, तो बहुसंख्यक गवाह जो बात कहें, या शुचि व सम्मानित गवाहों की जो गवाही हो, उसके आधार पर निर्णय किया जाता था।[४]

न्यायाधीशों को न्याय करते हुए बहुत सावधानी बरतनी पड़ती थी। यदि वे ठीक प्रकार से न्याय-कार्य न करें, तो उन्हें भी दंड मिल सकता था। कौटल्य ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'यदि न्यायाधीश परस्पर विवाद करते हुए (वादियों व प्रतिवादियों) को डाँटे-डपटे, उनकी भर्त्सना करे, उन्हें (न्यायालय से) निकाल दे, या बोलने न दे, तो सबसे पूर्व उसे ही 'पूर्व साहस दण्ड' दिया जाए। यदि वह उनके प्रति वाक्पारुष्य (कठोर वाणी) का प्रयोग करे, तो दुगना दंड दिया जाए। यदि (न्यायाधीश) पूछने योग्य बात को न पूछे, न पूछने योग्य बात को पूछे, पूछकर बीच में ही छोड़ दे, सिखाये, याद दिलाये, या किसी द्वारा पहले कही हुई बात को दोहराए, तो उसे 'मध्यम साहस दण्ड' दिया जाए। यदि (न्यायाधीश) उचित परिस्थिति के सम्बन्ध में न पूछे, अनुचित परिस्थिति के विषय में पूछे, बेमौके बात को टाले, छल करे, देरी करके दोनों पक्षों को थकाये, जिस बात पर मुकदमे का फैसला होता हो उसे बीच में

१. 'विबद्धं पादमुत्सृज्यान्यं पादं सङ्क्रामति; पूर्वोक्तं पश्चिमेनार्थेन नाभिसम्बध्यते। परवाक्यमनभिग्राह्यमभिग्राह्यावतिष्ठते। प्रतिज्ञाय देशं 'निर्दिश' इत्युक्ते न निर्दिशति। निर्दिष्टोद्देशादन्यदेशमुपस्थापयति। उपस्थिते देशेऽर्थवचनं 'नैवम्' इत्यपव्ययते। साक्षिभिरवधृतं नेच्छति। असम्भाष्ये देशे साक्षिभिर्मिथस्सम्भाषते।' कौ० अर्थ० ३।१

२. 'तस्याप्रति ब्रुवतस्त्रिरात्रं सप्तरात्रमिति। अत ऊर्ध्वं त्रिपणावराध्यं द्वादशपणापरं दण्डं कुर्यात्। त्रिपक्षादूर्ध्वमप्रति ब्रुवतः परोक्तदण्डं कृत्वा...।कौ० अर्थ० ३।१

३. कौ० अर्थ० ३।११

४. 'साक्षिभेदे यतो बहवः शुचयोऽनुमता वा ततो नियच्छेयुः।' कौ० अर्थ० ३।११

ही छोड़ जाए, गवाहों को सहायता दे, या निर्णय हुई बात को फिर से उठाए, तो उसे 'उत्तम साहस दण्ड' दिया जाए। यदि कोई न्यायाधीश बार-बार ऐसे अपराध करे, तो उसके दण्ड की मात्रा को दुगना कर दिया जाए, और उसे अपने पद से च्युत कर दिया जाए।[1]

न्यायालय में लेखक आदि जो अन्य कर्मचारी होते थे, अपने कार्य में शिथिलता करने पर उनके लिए भी दण्ड की व्यवस्था कौटलीय अर्थशास्त्र में की गई है।[2]

मुकदमों के निर्णय के लिए कौटल्य ने केवल साक्षियों पर निर्भर रहना पर्याप्त नहीं माना है। इसके लिए अर्थशास्त्र में गुप्तचरों की सहायता लेने का भी विधान किया गया है। गुप्तचर मुकदमे की वास्तविकता का पता लगाने का प्रयत्न करते थे, और पता लगाकर न्यायाधीश को सूचना देते थे। उनकी सूचनाओं को मानना या न मानना न्यायाधीश के अधीन था, पर इसमें संदेह नहीं कि गुप्तचरों की सूचनाओं का निर्णय के लिए यथोचित उपयोग अवश्य किया जाता था।

न्यायाधीश रिश्वत तो नहीं लेते, या किसी के प्रति पक्षपात तो नहीं करते, इसको जानने के लिए भी उन पर गुप्तचर नियत करने की व्यवस्था कौटल्य ने की है। अर्थशास्त्र में लिखा है—सत्री (गुप्तचर) धर्मस्थ या प्रदेष्टा का विश्वासपात्र बनकर उसे जाकर कहे—'मेरा यह बन्धु अभियुक्त है। उसके अनर्थ को दूर कर दीजिए और बदले में यह धन ले लीजिए।' यदि वह इसे स्वीकार कर ले, तो रिश्वत का अभियोग लगाकर उसे पदच्युत कर दिया जाए।[3]

कौटलीय अर्थशास्त्र में न्याय-कार्य के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ विद्यमान हैं, वे बड़े महत्त्व की हैं। उनके अनुशीलन से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता, कि प्राचीन भारत में न्यायालय भली-भाँति व्यवस्थित थे, और न्याय करते हुए उनमें निश्चित कार्यविधि का अनुसरण किया जाता था। सुनिश्चित कानूनों और उनका उल्लंघन करने पर सुनिर्धारित दण्ड व्यवस्था की सत्ता भी अर्थशास्त्र से सूचित होती हैं। मनुस्मृति के अनुसार न्यायालयों में प्रस्तुत होने वाले अभियोगों के अठारह वर्ग थे—ऋणादान, निक्षेप, अस्वामि विक्रय, सम्भूयसमुत्थानम्, दत्तस्यानपाकर्म, वेतन का न

१. 'धर्मस्थश्चेद्विवदमानं पुरुषं तर्जयति। भर्त्सयत्यपसारयति, अभिग्रसते वा, पूर्वमस्मै साहसदण्डं कुर्यात्। वाक्पारुष्ये द्विगुणम्। पृच्छ्यं न पृच्छत्यपृच्छ्यं पृच्छति, पृष्ट्वा विसृजति, शिक्षयति, स्मारयति, पूर्वं ददाति चेति, मध्यममस्मै साहसदण्डं कुर्यात्। देयं देशं न पृच्छति, अदेय देशं पृच्छति, कार्यमदेशेनातिवाहयति, छलेनातिहरति, कालहरणेन श्रान्तमपवाहयति, मार्गापन्नं वाक्यमुत्क्रमयति, मतिसाहाय्यं साक्षिभ्यो ददाति, तारितानुशिष्टं कार्यं पुनरपि गृह्णाति, उत्तममस्मै साहस दण्डं कुर्यात्। पुनरपराधे द्विगुणं; स्थानद्वयपरोहणं च।' कौ० अर्थ० ४।९

२. कौ० अर्थ० ४।९

३. 'धर्मस्थं प्रदेष्टारं वा विश्वासोपगतं सत्री ब्रूयात्—"असौ मे बन्धुरभियुक्तः, तस्यायमनर्थः प्रतिक्रियताम् अयं चार्थः प्रतिगृह्यताम्" इति। स चेत्तथा कुर्यात् "उपदाग्राहकः" इति प्रवास्येत।'
कौ० अर्थ० ४।५

देना, संविदा का व्यतिक्रम, क्रय-विक्रयानुशय, स्वामी व भृत्य के विवाद, सीमाविवाद, दण्डपारुष्यम्, स्तेय, साहसम्, स्त्री संग्रहण, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, दाय भाग, पारुष्यम् और द्यूत।[1] व्यवहार व वाद के ये अठारह पद व स्थान प्रायः अर्थशास्त्र में भी दिये गए हैं, यद्यपि कौटल्य की सूची अधिक विशद है। धर्म-ग्रंथों व स्मृतियों में भी वे कानून व दण्ड प्रतिपादित हैं, जिनके अनुसार न्यायालयों को न्यायकार्य करना है।

प्राचीन भारतीय न्याय-व्यवस्था का विवेचन महाभारत के इस श्लोक के साथ समाप्त करना उपयुक्त होगा—'जब राजा निग्रह और अनुग्रह के कार्य सम्यक् रीति से करता है, तभी राज्य में मर्यादा की सुचारु रूप से स्थापना होती है।'[2] राज्य को अशिष्टों का निग्रह करना है, और शिष्ट पुरुषों के प्रति अनुग्रह।[3]

१. मनुस्मृति ८।३-७

२. 'निग्रहे प्रग्रहे सम्यग्यदा राजा प्रवर्तते।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता॥' महा० वनपर्व १५२।५०

३. बुद्धया स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात्साधुष्वनुग्रहम्।
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत्॥' महा० वनपर्व १५२।४६

बीसवाँ अध्याय

राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध और व्यवहार

(१) वैदिक और उत्तर-वैदिक युग

प्राचीन समय में सम्पूर्ण भारत एक राजनीतिक सूत्र में संगठित नहीं था। यद्यपि इस देश के निवासियों में भारत को अपनी मातृभूमि और धर्मभूमि मानने की भावना विद्यमान थी, और उनमें सांस्कृतिक एकता की भी सत्ता थी, पर मौर्य, गुप्त आदि कतिपय राजवंशों के शासन के अतिरिक्त अन्य समयों में इस देश में शासन सम्बन्धी एकता का प्रायः अभाव रहा। यहाँ बहुत-से छोटे-बड़े जनपद व राज्य विद्यमान रहे, जो प्राय: पारस्परिक संघर्ष में व्यापृत रहते थे। अत: यह प्रश्न भी महत्त्व का है, कि इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का क्या स्वरूप था, और वे परस्पर व्यवहार करते हुए किन नियमों का अनुसरण करते थे।

वैदिक काल में भारत में बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, जिन्हें 'राष्ट्र' कहते थे। इन राष्ट्रों के राजाओं में प्रायः संघर्ष जारी रहता था, और शक्तिशाली राजा अन्य राष्ट्रों को जीतकर एकराट्, सम्राट् व अधिराज का पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है—'तुम इस सम्पूर्ण भुवन के एकराट् होकर विराज रहे हो।'[1] ऋग्वेद के ही अन्य मन्त्रों में इन्द्र की सम्राट् के रूप से प्रार्थना की गई है।[2] एक मन्त्र के अनुसार सम्राट् मघवान् (इन्द्र) अन्य पार्थिवों (राजाओं) से दक्षिणा ग्रहण करता है।[3] केवल इन्द्र ही वैदिक युग में सम्राट् के रूप में प्रसिद्ध नहीं था, त्रसदस्यु को भी एक मन्त्र में सम्राट् कहा गया है।[4] एक मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है, कि जो हमारे शत्रु हैं उन्हें हम इन्द्र और अग्नि की सहायता से पराभूत करते हैं, वसवः, रुद्र, आदित्य आदि देवता हमारे

१. 'एकराडस्य भुवनस्य राजसि शचीपत इन्द्र विश्वाभि रूतिभि: ।' ऋग्वेद ८।३७।३
२. 'यस्य क्रतुर्विदथ्यो न सम्राट् साह्वां तरुत्रो अभ्यस्ति कृष्टीः।' ऋग्वेद ४।२१।२
३. 'द्वयाँ अग्ने रथिनो विंशति गा वधूमन्तो मघवा मह्यं संराट्।
अभ्यावर्ती चायमानो ददाति दूणाशेयं दक्षिणा पार्थिवानाम्॥' ऋग्वेद ६।२७।८
४. 'तमागन्म सोभरयः सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे। सम्राजं त्रासदस्यवम्।' ऋग्वेद ८।१९।३२

सर्वोपरि, उग्र 'अधिराज' का अतिक्रमण न करे।[1] वैदिक साहित्य के ये निर्देश स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं, कि वैदिक काल में ही अन्य राजाओं को वशवर्ती बनाकर अधिराज, सम्राट् व एकराट् बनने का विचार विकसित होना प्रारम्भ हो गया था। वेदों में त्रसदस्यु, दिवोदास, दैववात, सुदास आदि कतिपय राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने कि अन्य राजाओं को परास्त कर अधिराज आदि की स्थिति प्राप्त कर ली थी। इन राजाओं ने प्रधानतया सिन्धु घाटी की सभ्यता के लोगों को परास्त करने में अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया था। भारत के इन आदि-निवासियों के साथ युद्ध करते हुए ये आर्य विजेता किन्हीं ऐसे नियमों का पालन नहीं करते थे, जिन्हें वर्तमान समय के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल समझा जा सके। वैदिक साहित्य में ऐसे निर्देश उपलब्ध होते है, जिनमें विष से बुझे बाणों का प्रयोग भी सूचित होता है।[2] सम्भवतः, ये बाण आर्य-भिन्न दस्यु जातियों के लिए ही प्रयुक्त किये जाते थे, आर्यों के विरुद्ध नहीं।

उत्तर-वैदिक युग में आर्य जाति के विविध राष्ट्र व जनपद पारस्परिक संघर्ष में तत्पर रहे, और इसके कारण अनेक शक्तिशाली राजा सम्राट्, चक्रवर्ती या सार्वभौम का पद प्राप्त करने में समर्थ हुए। इन शक्तिशाली सम्राटों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अन्य राज्यों को जीत कर ये राजा वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करते थे, और सम्राट् पद को प्राप्त करते थे। शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में इन यज्ञों का विशद रूप से निरूपण किया गया है। पर प्राचीन भारत के ये सम्राट् अन्य-राजाओं को परास्त कर उनका मूलोच्छेद नहीं करते थे। वे अन्य राजाओं के 'राज पितर' (राजाओं के पितर, या पालक या श्रेष्ठ) बनकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे।[3] समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का एकराट् होना ये शक्तिशाली राजा अपना आदर्श समझते थे। सार्वभौम सम्राट् उसी को कहा जाता था, जो आसमुद्र पृथिवी का एकराट् हो।[4] वैदिक और उत्तर-वैदिक युगों की राजनीति का यह एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व था, कि अन्य राजाओं का उच्छेद न किया जाए, केवल उन से अधीनता ही स्वीकृत करा ली जाए। यही इन सम्राटों की आर्य मर्यादा थी।

(२) प्राग्-बौद्धकाल

बौद्ध युग से पूर्व के भारत के इतिहास में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का क्या स्वरूप था, इसका परिचय स्मृति ग्रन्थों, महाभारत व सूत्रग्रन्थों से प्राप्त किया

१ 'ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥' ऋग्वेद १०।१२८।९

२. 'आलाक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयोमुखम्।
इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नमः॥' ऋग्वेद ६।७५।१५

३. 'राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यम्। ऐतरेय ८।१२

४. 'सार्वभौमः सर्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्।' ऐतरेय ८।१८

जा सकता है। इस युग में आर्यों और आर्य-भिन्न जातियों के युद्धों की आवश्यकता नहीं रह गई थी। जो भी युद्ध होते थे, वे आर्य जनपदों के पारस्परिक युद्ध ही थे। अतः इस युग के धर्मसूत्रों और स्मृतियों में युद्ध सम्बन्धी जो नियम प्रतिपादित हैं, वे बड़े मृदु हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार जो शत्रु शस्त्र-विहीन हो गये हों, या सिर के बाल खोले हुए व हाथ जोड़ कर दया की प्रर्थना करते हों, या भाग रहे हों, उन्हें नहीं मारना चाहिये।[1] बोधायन सूत्र में लिखा है, कि राजा को चाहिये कि शत्रु के विरुद्ध विष से बुझे हुए बाणों का प्रयोग न करे। इसी प्रकार युद्ध के समय बच्चों, स्त्रियों व वृद्धों पर प्रहार न किया जाए।[2] गौतम धर्म सूत्र में लिखा है, कि राजा और क्षत्रियों के लिए यह आवश्यक है कि वे युद्ध क्षेत्र में कभी मुँह न मोड़ें, सदा अचल और निर्भय होकर युद्ध करें। युद्ध में शत्रु को मारना या घायल करना पाप नहीं है, पर युद्ध में भी ऐसे व्यक्तियों का घात करना उचित नहीं है, जिनके घोड़े मारे गये हों, जो शस्त्रविहीन हो गये हों, जो हाथ जोड़ कर खड़े हों, जो सिर के बाल खोल कर भाग पड़े हों, जो पीठ दिखाकर बैठ जाएँ, जो भाग कर वृक्षों या पर्वतों पर चढ़ जाएँ, और जो यह कहें कि हम ब्राह्मण या गाय हैं।[3] गौतम के अनुसार विजयी योद्धाओं को रणक्षेत्र में पड़ा हुआ जो धन मिले, वह उन्हीं का अपना होगा, पर यदि युद्ध में विजय निरन्तर युद्धों के अनन्तर प्राप्त हुई हो, तो शत्रु के धन में राजा का भी भाग होगा, और शेष धन को योद्धाओं में विभक्त कर दिया जायगा।[4] वाशिष्ठ सूत्र के अनुसार जो योद्धा युद्ध में मारे जाएँ, उनकी विधवाओं व सन्तान का पालन-पोषण राजा को करना चाहिये।[5]

मनुस्मृति में भी युद्ध सम्बन्धी अनेक नियम प्रतिपादित किए गए हैं। मनु के अनुसार अन्य राज्यों के प्रति नीति के अंग निम्नलिखित हैं—आसन, यान, सन्धि, विग्रह, द्वैधीभाव और संश्रय।[6] जब राजा की शक्ति क्षीण हो, तो उसे अपनी वर्तमान स्थिति को कायम रखने का प्रयत्न करना चाहिए। तब उसे युद्ध से बचना चाहिये—इसी को 'आसन' कहा गया है। अपने किसी मित्र राजा के अनुरोध से भी राजा 'आसन' की नीति का अनुसरण कर सकता है। जब राजा शत्रु के विरुद्ध प्रक्रम करे, तो उसे 'यान' कहते थे। यह यान भी मित्र राज्य के साथ 'संहत' (सन्धि द्वारा सम्बद्ध) होने के कारण हो सकता था, या राजा स्वयं भी इसका उपयोग कर सकता

१. आपस्तम्ब २।५।१०।११
२. बोधायन १।१०।१८।११
३. गौतम सूत्र १०।१८
४. गौतम सूत्र १०।२०-२३
५. वाशिष्ठ सूत्र १९।२०
६. 'आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥' मनु० ७।१६१

था। अन्य राज्यों के साथ सन्धि या विग्रह (युद्ध) करना भी परराष्ट्रनीति के महत्त्वपूर्ण अंग थे। एक राजा से सन्धि करके अन्य के विरुद्ध युद्ध करने को 'द्वैध' कहते थे। आत्मरक्षा के प्रयोजन से किसी शक्तिशाली राजा के सम्मुख अपने को अर्पित कर देने का नाम 'संश्रय' था। अन्य राज्यों या राजाओं से बरतते हुए ये छः प्रकार की नीतियाँ ही प्रयोग में लाई जाती थीं। इन्हीं का नाम 'षाड्गुण्य' भी था। मनु ने इनका संक्षेप के साथ प्रतिपादन किया है, पर कौटलीय अर्थशास्त्र में इनका विशद रूप से निरूपण किया गया है। अगले प्रकरण में हम इस षाड्गुण्य पर अधिक विशद रूप से लिखेंगे। पर युद्ध के सम्बन्ध में मनु के जो विचार हैं, वे उल्लेखनीय हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि राजा साम, दान और भेद की नीति का एक-एक करके या सम्मिलित रूप से प्रयोग करके अन्य राज्यों को जीतने का प्रयत्न करे, युद्ध द्वारा नहीं।[1] युद्ध से प्रायः दोनों पक्षों का ही नाश हो जाता है।[2] पर मनु यह भी भली-भाँति समझते थे, कि कतिपय परिस्थितियों में युद्ध अनिवार्य होता है। अतः जब आवश्यक हो तो निःशंक होकर युद्ध का भी आश्रय लिया जाए, यद्यपि यह युद्ध धर्मानुकूल (सुयुद्ध) होना चाहिये।[3] युद्ध किस ढंग से लड़ा जाए, और किस प्रकार व्यूह की रचना आदि की जाए, इसका भी मनुस्मृति में निरूपण किया गया है। मनु शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार की दया प्रदर्शित करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने यहाँ तक लिखा है, कि शत्रु-राष्ट्र को भली भाँति पीड़ित किया जाए, और उसके अन्न, जल व ईंधन तक को दूषित कर दिया जाए।[4] पर जब शत्रु परास्त हो जाए, तो उसके राजवंश का मूलोच्छेद कर देना मनु को भी अभीष्ट नहीं था। इसी कारण उन्होंने प्रतिपादित किया है, कि पराजित राज्य के राजवंश के ही किसी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठाया जाए, और उसके साथ सन्धि कर ली जाए।[5] जिस ढंग से धर्मसूत्रों में शस्त्रविहीन या असावधान शत्रु के विरुद्ध लड़ने का निषेध किया गया है, वैसा ही विधान मनुस्मृति में भी विद्यमान है।

महाभारत में भी युद्ध के सम्बन्ध में इसी प्रकार के नियम प्रतिपादित हैं। शान्ति पर्व में लिखा है, कि ऐसे शत्रु को नहीं मारना चाहिये जिसके प्राण निकलनेवाले हों, जो सन्तानहीन हो, जिसके शस्त्र टूट गये हों, जो विपद्ग्रस्त हो, जिसके धनुष की डोरी टूट गई हो, व जिसके वाहन (घोड़े आदि) मर गये हों; ऐसे शत्रु को या तो उसके घर पर पहुँचा देना चाहिए, और या उसका इलाज करना चाहिये। जब वह

१. 'साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ मनु० ७।१९८
२. 'नाशो भवति युद्धेन कदाचिदुभयोरपि।' कामन्दक ९।११
३. 'सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशंकः समाचरेत्।' मनु० ७।१७६
४. 'उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥' मनु० ७।१९५
५. स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समय क्रियाम्।' मनु० ७।२०२

स्वस्थ हो जाए, तो उसे मुक्त कर देना चाहिये ।[1] महाभारत में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है, कि युद्ध धर्म के अनुसार ही लड़ना उचित है । वहाँ लिखा है, कि राजा कभी अधर्म से पृथिवी के विजय की इच्छा न करे । अधर्म से जो विजय की जाती है, वह न स्थायी रहती है और उसके कारण स्वर्ग की प्राप्ति भी संभव नहीं रहती ।[2] युद्ध के ये धर्मानुकूल नियम क्या हैं, इनका भी महाभारत में निरूपण किया गया है । इनके अनुसार कवच पहन कर ऐसे योद्धा से नहीं लड़ना चाहिये, जिसने कवच न पहना हुआ हो । अकेले योद्धा से सेना लेकर नहीं लड़ना चाहिये, पदाति से अश्वारोही को नहीं लड़ना चाहिये, और जिसका शस्त्र टूट जाए, उससे शस्त्र के साथ नहीं लड़ना चाहिये ।[3]

महाभारत के अनुसार युद्ध एक गौरव की बात है । क्षत्रिय का धर्म ही युद्ध करना है । शैय्या पर लेटकर या रोग से ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त होना उसके लिए गौरव का कारण नहीं है,[4] पर उसे युद्ध धर्मपूर्वक ही करना है, अधर्म से नहीं । महाभारत में अधर्मपूर्वक युद्ध को पाप कहा है ।

(३) साम्राज्य के विकासकाल में परराष्ट्र नीति

बौद्ध युग में भारत में महाजनपदों व साम्राज्यों का विकास प्रारम्भ हो गया था । पर ये महाजनपद भी विजय करते हुए परास्त राजा का मूलोच्छेद करना धर्म के विरुद्ध मानते थे । एक जातक कथा के अनुसार जब कोशल के राजा ने काशी पर आक्रमण करने की तैयारी की, तो काशी के मन्त्री ने उसे समझाते हुए कहा— 'महाराज, आप डरिये नहीं, आपका अनर्थ नहीं होगा, आपका राज्य आपका ही रहेगा, आपको केवल कोशल के राजा की अधीनता ही स्वीकार करनी होगी ।[5] पर मगध के सम्राटों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए अन्य राजाओं का मूलोच्छेद किया, इसीलिए पुराणों में उन्हें 'अधार्मिक' कहा गया है । महापद्म नन्द जैसे मागध सम्राटों ने जिस प्रकार अन्य राजाओं का उच्छेद कर अपने विशाल साम्राज्य

१. 'निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथंचन । भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः ॥
चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् । निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः ॥'
महा० शान्ति० ९५।१७-१८

२. 'नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत पृथिवीपतिः ।
अधर्म विजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः ॥
अधर्म युक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।' महा० शान्ति ९६।१-२

३. महा० शान्ति० अ० ९३।७-१३

४. 'अधर्मः क्षत्रियस्यैव यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्म पित्तानि कृपणं परिवेदनम् ॥' महा० शान्ति० ९७।२३

५. 'मा भायि महाराज नात्थि ते परिपंथो तव रज्जं तवेव भविस्सति केवलं मनोजरञ्ञो वसवत्ती हो हि ।'
The Jataka V., p. 316

का निर्माण किया था, वह प्राचीन आर्यों की धर्ममर्यादा के विरुद्ध ही था।

भारतीय इतिहास के साम्राज्यकाल की परराष्ट्रनीति का सुविशद रूप से परिचय हमें कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है। वहाँ परराष्ट्र नीति सम्बन्धी 'षाड्गुण्य' का बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है। भारतीय विचारकों के अनुसार सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव को षाड्गुण्य कहा जाता था। जब पण (प्रतिज्ञा) पूर्वक किसी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाए, तो उसे सन्धि कहते थे। दूसरे राज्य पर आक्रमण का नाम विग्रह था। उदासीन वृत्ति (तटस्थता) को आसन कहते थे। शत्रु के विरुद्ध तैयारी की 'यान' संज्ञा थी। अपने को दूसरे (अधिक शक्तिशाली) राजा के अर्पण कर देने का नाम संश्रय था। एक के साथ सन्धि और दूसरे के साथ विग्रह की नीति को द्वैधीभाव कहते थे।[1] कौटल्य ने लिखा है, अन्य राज्यों में बरतते हुए निम्नलिखित नीति का अनुसरण किया जाए—जब दूसरे राज्य की शक्ति अधिक हो, तो उससे सन्धि कर ली जाए; यदि अपने राज्य की शक्ति अधिक हो तो विग्रह किया जाए; जब यह देखा जाए कि न दूसरा हमें परास्त कर सकता है और न हम दूसरे पर विजय पा सकते हैं, तो आसन (उदासीन नीति) का उपयोग किया जाए; जब अपने राज्य में पर्याप्त शक्ति हो, तो युद्ध की तैयारी की ओर ध्यान दिया जाए; यदि अपना राज्य शक्तिहीन हो, तो किसी अन्य राज्य का संश्रय (आश्रय) लिया जाए; और जब साध्य (उद्देश्य) के साधन के लिए किसी अन्य राज्य के सहाय की आवश्यकता हो, तो उससे सन्धि करके दूसरे के साथ विग्रह—इस प्रकार द्वैधीभाव की नीति को अपनाया जाए।[2] समय की परिस्थिति के अनुसार इनमें से जो भी नीति उपयुक्त हो, राजा को उसी का अनुसरण करना चाहिए। किन परिस्थितियों में किस नीति का अनुसरण उपयोगी होगा, इसका भी कौटल्य ने विशद रूप से विवेचन किया है। विजिगीषु राजा के लिए युद्ध की उपयोगिता अवश्य थी, पर कौटल्य के मन्तव्य के अनुसार यदि सन्धि और विग्रह—दोनों नीतियों से एक समान लाभ सम्भावित हो तो सन्धि की नीति अधिक उत्तम है, क्योंकि युद्ध से शक्ति का क्षय, धन का व्यय, जनता का प्रवास आदि कितनी ही हानियाँ होती हैं।[3] विजिगीषु राजा के लिए केवल युद्ध ही एकमात्र उपाय नहीं है, परिस्थिति के अनुसार षाड्गुण्य के सभी उपायों का उसे प्रयोग करना चाहिए। जो अन्य राजा बल में

---

१. 'पणबन्धः सन्धिः; अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम्; अभ्युच्चयो यानं, परार्पणं संश्रयः, सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः।' कौ० अर्थ० ७।१

२. 'परस्माद्धीयमानः संदधीत। अभ्युच्चीयमानो विगृह्णीयात्। "न मां परो नाहं परमुपहन्तुं शक्तः" इत्यासीत। गुणातिशययुक्तो यायात्। शक्तिहीनः संश्रयेत। सहायसाध्यकार्यैर्द्वैधीभावं गच्छेत।'
कौ० अर्थ० ७।१

'सन्धिविग्रहयोस्तुल्यायां वृद्धौ सन्धिमुपेयात्। विग्रहे हि क्षयव्यय प्रवास प्रत्यवाया भवन्ति।'
कौ० अर्थ० ७।२

अपने तुल्य व अपने से श्रेष्ठ हों, उनके प्रति सन्धि की नीति उपयुक्त है। बल में अपने से हीनों के प्रति ही विग्रह करना चाहिए। यदि अपने से बलशाली के साथ युद्ध किया जायगा, तो उसकी वही गति होगी जो पदाति के हस्ति से लड़ते हुए होती है। कच्चे बरतन जैसे परस्पर टकराकर टूट जाते हैं, वैसे ही बराबर बल वाले राजा आपस में लड़कर नष्ट हो जाते हैं। अतः सन्धि की नीति का अनुसरण ही श्रेयस्कर है। ये सन्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं :—(१) निर्बल राजा बलवान राजा से आक्रान्त होने पर उसे धन, सेना व अपनी भूमि देकर सन्धि कर सकता है। (२) इस शर्त पर सन्धि करना, कि विजेता को जब आवश्यकता होगी, विजित राजा अपने सैनिकों की निश्चित संख्या को साथ लेकर उसकी सहायता के लिए प्रस्तुत हो जायगा। (३) इस शर्त पर सन्धि करना कि राजा स्वयं तो नहीं, पर उसका सेनापति व राजकुमार सैनिकों के साथ विजेता की सहायता के लिए प्रस्तुत रहेंगे। इस शर्त पर संधि करना, कि राजा स्वयं व उसकी सेना को जहाँ जाने का आदेश दिया जायगा, वे वहाँ चले जाएँगे। (५) धन देकर संधि कर लेना। इस प्रकार की सन्धि में राजा धन देकर अपने राज्य के सब अंगों की रक्षा कर सकने में समर्थ होता है। (६) इतना अधिक धन देकर सन्धि कर लेना, कि धन की सम्पूर्ण मात्रा की अदायगी सुगम न हो। (७) अपने राज्य की भूमि का एक भाग देकर सन्धि कर लेना। (८) राजधानी के अतिरिक्त सब भूमि को देकर सन्धि करना। (९) राज्य की आमदनी को अमानत के रूप में रखकर सन्धि करना। (१०) राज्य की आमदनी से भी अधिक प्रदान करने की बात के आधार पर सन्धि करना।[१] ये विविध प्रकार की सन्धियाँ देश और काल की परिस्थिति के अनुसार की जाती थीं। निःसन्देह, कौटल्य के समय के विविध राजा आपस में बरतते हुए अपनी शक्ति के अनुरूप सन्धियाँ करने में तत्पर रहते थे। इन सन्धियों के सम्बन्ध में कौटलीय अर्थशास्त्र में बहुत विस्तार के साथ विचार किया गया है, पर उसे यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है।

युद्ध के सम्बन्ध में भी कतिपय सूचनाएँ अर्थशास्त्र से प्राप्त होती हैं, जिनका उल्लेख उपयोगी है। कौटल्य ने दो प्रकार के युद्ध लिखे हैं—प्रकाशयुद्ध और कूटयुद्ध। जिस राजा की शक्ति प्रबल हो, जिसने अपने षड्यंत्रों द्वारा शत्रु पक्ष में प्रवेश कर लिया हो, और जिसने अपने पक्ष की रक्षा की पूरी व्यवस्था कर ली हो, उसे प्रकाशयुद्ध (open fights) का प्रयोग करना चाहिए। जब राजा की स्थिति ऐसी सुदृढ़ न हो, तो कूटयुद्ध का आश्रय लेना भी उचित है।[२] कूटयुद्ध में शत्रु को धोखा देने का प्रयत्न किया जाता था। विजिगीषु राजा की पराजय हो रही है, और शत्रु की विजय हो रही है—यह प्रकट करने के लिए अनेक उपाय किये जाते थे, ताकि शत्रु विजय के

१. कौ० अर्थ० ७।३
२. 'बल विशिष्टः कृतोपजापः प्रतिविहितर्तु स्वभूम्यां प्रकाशयुद्धमुपेयात् विपर्यये कूटयुद्धम्।
कौ० अर्थ० १०।३

—२४

मद में असावधान हो जाए, और फिर अचानक हमला करके उसे जीत लिया जाए। शत्रु के सैनिकों, सेनापतियों और अन्य पुरुषों को भी अपने पक्ष में लाने के लिए अनेक उपाय प्रयुक्त किये जाते थे।

शुक्रनीति-सार में भी धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध में भेद किया गया है। धर्मयुद्ध में हाथीसवार को हाथी सवार से, पदाति सैनिक को पदाति सैनिक से, अश्वारोही को अश्वारोही से, और रथी को रथी से ही युद्ध करना चाहिए। यही नहीं, जिसके पास जो हथियार हो, उसे उसी हथियार वाले से युद्ध करना उचित है। धर्मयुद्ध में इन लोगों का घात नहीं करना चाहिए—भय से छिपकर बैठे हुए, नपुंसक, हाथ जोड़ते हुए, जिसने सिर के बाल खोल दिए हों, मैं तेरा हूँ ऐसा कहने वाले, सोये हुए, कवच से विहीन, नंगे, निराश, जो लड़ाई में सम्मिलित न हो, जो केवल युद्ध को देख रहा हो, जो किसी दूसरे से युद्ध कर रहा हो, जो खा-पी रहा हो, जो डरा हुआ हो व जो भाग रहा हो। साथ ही युद्ध के अवसर पर बालक, वृद्ध व स्त्री की भी हत्या नहीं करनी चाहिए।[1] पर शुक्र के अनुसार ये नियम केवल धर्मयुद्ध के लिए हैं। कूटयुद्ध का एकमात्र उद्देश्य, जिस प्रकार भी सम्भव हो, शत्रु का विनाश करना ही होता है। अतः उसमें सब प्रकार के उपायों का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण देकर शुक्र ने बताया है कि राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों ने भी बाली और यवन नामुचि का कूटनीति द्वारा घात किया था।[2] इस प्रसंग में शुक्र ने कूटयुद्ध के अनेक उपायों का निर्देश किया है, जिसमें धन का लोभ देना, धोखा देना, शत्रु सेना में फूट डालना आदि सम्मिलित हैं। कौटल्य ने भी कूटयुद्ध के इन्हीं उपायों का वर्णन किया है।

परास्त शत्रु के सैनिकों व अन्य व्यक्तियों को दास बनाने के सम्बन्ध में भी कतिपय निर्देश प्राचीन ग्रंथों में विद्यमान हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र में विविध प्रकार के दासों का परिगणन करते हुए 'ध्वजाहृत' दासों का भी उल्लेख है।[3] ध्वजाहृत दास उन्हें कहते थे, जिन्हें युद्ध में विजय के कारण दास बनाया गया हो। नारदस्मृति में पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख है, जिनमें एक युद्ध में प्राप्त भी है। ध्वजाहृत दासों का उल्लेख सूचित करता है, कि प्राचीन भारत में विजित राज्यों के निवासियों को दास बना लेने की प्रथा का भी सर्वथा अभाव नहीं था, यद्यपि दासों का क्रय-विक्रय प्रधानतया आर्यभिन्न म्लेच्छ जातियों में ही विद्यमान था।

१. शुक्रनीतिसार ४।७।३५३-३५८

२. धर्मयुद्धे तु कूटे वै न सन्ति नियमा अमी।
न युद्धकूटसदृशं नाशनं बलवद्रिपोः॥
रामकृष्णेन्द्रादिदेवैः कूटमेवादृतं पुरा।
कूटेन निहतो बालिर्यवनो नामुचिस्तथा॥ शुक्र ४।७।३५६-३६०

३. कौ० अर्थ० ३।१३

(४) शान्ति के काल में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध

युद्ध के समय विविध राज्यों में किस प्रकार का सम्बन्ध प्राचीन भारत में होता था, यह प्रतिपादित करने के अनन्तर यह बताना भी आवश्यक है कि शांति के समय में वे परस्पर क्या सम्बन्ध रखते थे। अन्य राज्यों में अपने दूत रखने व भेजने की प्रथा प्राचीन भारत में भी विद्यमान थी। कौटल्य ने तीन प्रकार के दूतों का उल्लेख किया है—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर।[1] जिसमें अमात्य के सब गुण विद्यमान हों, और जो अमात्य की स्थिति रखता हो, ऐसे दूत को 'निसृष्टार्थ' कहते थे। निसृष्टार्थ का अर्थ है, जिसे कतिपय कार्य सुनिश्चित रूप से सुपुर्द किये गए हों। परिमितार्थ दूतों की स्थिति अमात्यों से कुछ कम (एक चौथाई कम) मानी जाती थी, और शासनहर दूत की स्थिति और भी हीन समझी जाती थी। निसृष्टार्थ दूत को अपने राजा की ओर से विवादग्रस्त विषय का निर्णय करने का पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त होता था। परिमितार्थ दूत केवल वही निर्णय कर सकता था, जो उसे निर्दिष्ट किया गया हो, और शासनहर दूत राजा का सन्देश व अधीनता स्वीकृत करने वाले राजाओं की सेवा में अधिपति राजा का शासन (राजाज्ञा) ले जाने और उसका उत्तर लाने का ही कार्य करता था। दूतों का यह कार्य भी था, कि वे जिस राज्य में नियुक्त हों, उसकी भौगोलिक दशा, क्षेत्रफल, सैन्य संगठन, छावनी, दुर्ग, युद्ध के साधन, उस राज्य की गुप्त बातों और निर्बल व सबल स्थितियों का भी पता करें, और इन सब बातों से अपने राजा को सूचित करते रहें। इन बातों का परिचय प्राप्त करने के लिए दूत चारों (गुप्तचरों) का भी प्रयोग करते थे। उन्हें जो कुछ इस प्रकार ज्ञात हो, उसे वह गुप्त लिपि (चित्र लेख्य संज्ञा) द्वारा अपने राजा की सेवा में भेज देते थे। दूत तभी दूसरे राज्य की राजधानी में प्रवेश करता था, जबकि वह अनुमति प्राप्त कर ले। अनुज्ञात होकर वह उस कार्य का निवेदन करता था, जिसके लिए उसकी नियुक्ति की गई हो। यदि दूत देखता था, कि उससे मिलते हुए (दूसरे देश के) राजा की वाणी, मुख, आँख व हावभाव में प्रसाद गुण है, उसका समुचित रीति से सत्कार किया गया है, उससे कुशल प्रश्न किये गए हैं, उससे (दूत को भेजने वाले राजा व उसके सम्बन्धियों, मित्रों आदि के सम्बन्ध में) मंगलस्मरण की बातें पूछी गई हैं, उसे राजसिंहासन के समीप आसन दिया गया है, तो समझना चाहिए कि राजा सन्तुष्ट है। यदि यह अनुभव किया जाए कि राजा सन्तुष्ट नहीं है, तो दूत को उससे कहना चाहिए—'दूत तो राजाओं के मुख के समान होता है। यदि उसके सामने शस्त्र भी उठा लिया जाए, तो भी उसे राजा की बात कहनी ही पड़ती है। दूसरों की बात कहना ही दूत का धर्म है। उसके तो साथी भी अवध्य होते हैं, उसकी तो बात ही क्या ?' जब तक दूत दूसरे राज्य में रहे, उसे वहाँ प्राप्त होने वाले सत्कार से

१. 'अमात्यसम्पदोपेतो निसृष्टार्थः। पादहीन गुणः परिमितार्थः। अर्धगुण हीनः शासनहरः।
कौ० अर्थ० १।१६

अपनी वास्तविक स्थिति को भूल नहीं जाना चाहिए। उसके लिए यह भी आवश्यक है, कि वह मद्य और स्त्रियों से बचकर रहे, अकेला सोये, और (दूसरे राज्य के) राजा की शक्ति व वैभव के रोब में न आये।[1] वर्तमान समय के समान प्राचीन भारत में भी दूत को अवध्य माना जाता था। रामायण और महाभारत में भी दूत को अवध्य कहा गया है।[2] मनुस्मृति के अनुसार सन्धि आदि के कार्य दूत द्वारा ही किये जाते हैं, अतः उसका महत्त्व अमात्य के ही समान है।[3] परराष्ट्र नीति का प्रयोग प्रायः दूत के हाथों में ही होता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास में दूतों की सत्ता के अनेक निर्देश भी विद्यमान हैं। यवन राजा सैल्युकस ने मेगस्थनीज को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में भेजा था। डायमेचस बिन्दुसार मौर्य के दरबार में यवन राजा के राजदूत के रूप में रहा था। मौर्य राजाओं ने भी अपने दूत यवन राज्यों में भेजे थे। तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित (एंटिअलकाइडीस) ने हेलिओदोरस को अपना दूत बनाकर विदिशा के शुंगवंशी राजा भागभद्र की सेवा में भेजा था। समुद्रगुप्त के दरबार में सिंहल के राजा ने और चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय के दरबार में ईरान के राजा ने दूत भेजे थे। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण प्राचीन इतिहास में विद्यमान हैं। पर ये दूत प्रायः विशेष प्रयोजनों से और कुछ निश्चित समय के लिए ही भेजे जाते थे। वर्तमान समय के दूतावासों के समान प्राचीन भारत में भी दूतावासों की सत्ता थी, यह भली-भाँति स्पष्ट नहीं है, यद्यपि कौटलीय अर्थशास्त्र में दूतों का जिस ढंग से वर्णन है, उससे सूचित होता है कि वे अपने साथियों के साथ विभिन्न राज्यों में पर्याप्त समय के लिए निवास किया करते थे।

१. कौ० अर्थ० १।१५
२. महाभारत, सभापर्व, ८५।२६
३. मनु० ७।६६